HEVAJRATANTRA-YOGARATNAMĀLĀ

(VAJRATANTRA MEDITATION)

DR. BHAGCHANDRA JAIN 'BHASKAR'

SANMATI RESEARCH INSTITUTE OF INDOLOGY

NAGPUR

1996

JACL-KRC
015081

ुर परिसर

15081

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
परिसर, जयपुर
पुस्तकालय
क्रमांक 15081

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर

परिसर

वर्गीकरण सं. ....

पुस्तक सं. 15081 दिनाङ्क ....

यह पुस्तक नीचे अङ्कित तिथि या उससे पूर्व लौटा दी जानी चाहिये। यदि पुस्तक निर्धारित तिथि से अधिक समय तक पाठक अपने पास रखेंगे तो 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देय होगा।

12.2M

[illegible]

15081

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
जयपुर-15
पत्र प्राप्ति सं० 181 दि० 6/6/97

हेवज्रतन्त्र - योगरत्नमाला

(विस्तृत भूमिका सहित)

HEVAJRATANTRA – YOGARATNAMALA

(ALONG WITH DETAILED INTRODUCTION)

संपादक

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर',

अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग,

नागपुर विश्वविद्यालय,

नागपुर.

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जयपुर परिसर जयपुर
पुस्तकालय
क्रमांक 15081

सन्मति प्राच्य शोध संस्थान

नागपुर

१९९६

मानव संसाधन विभाग, शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रदत्त
आर्थिक सहायता के अन्तर्गत प्रकाशित

HEVAJRATANTRA – YOGARATNAMALA

(ALONG WITH DETAILED INTRODUCTION)

Editor

Dr. Bhagchandra Jain 'Bhaskar'

Head, Department of Pali-Prakrit,
Nagpur University,
Nagpur.

First Edition – 1996

Copies - 1000

Publisher

Sanmati Research Institute of Indology

(Alok Prakashan)
New Extension Area,
Sadar, Nagpur - 440 001
Phone : 541

Price : 6

ISBN No. 81-857

JACL-KRC
015081

Available at

1) Motilal Banarasidas, Jawaharnagar, Delhi - 6.
2) Munshiram Manoharlal, Pahadganj, New Delhi.
3) Sugat Book Depot, Kamal Chowk, Nagpur.

Printed by : SADHANA GRAPHICS, Ramdaspeth, Nagpur, Ph : 529784

तिब्बती बौद्ध परम्परा के
विश्रुत साधक विद्वान
आचार्य भन्ते सम्धोंग रिन्पोचे
उपकुलपति,
तिबेतन शोध संस्थान
सारनाथ, वाराणसी को
सादर

विषय सूची

वज्रतन्त्र साधना

1. Introduction to Vajratantra Meditation 1–26

(१) वज्रतन्त्र परम्परा की पृष्ठभूमि १-६

वैयक्तिक विशुद्धि मार्ग (१), वज्रतन्त्र के बीज (२), महासांघिक संप्रदाय और शिथिलाचार का जन्म (४), वज्रतन्त्र परम्परा का उदय (५), वज्रतन्त्र परम्परा का विकास (६), महायान और तान्त्रिक बौद्धधर्म (९).

(२) वज्रतन्त्र परम्परा के आचार्य और उनका साहित्य १७-२९

गुह्यसमाजतन्त्र (१७), हेवज्रतन्त्र : लेखक और टीकाकार (२१).

(३) वज्रतन्त्र परम्परा : उत्पत्ति और विकास ३०-४७

पृष्ठभूमि (३०), मन्त्रयान (३१), वज्रतन्त्र परम्परा (३२), सहजयान और दोहाकोश (३३), कालचक्रयान (४२), वज्रतन्त्र की दार्शनिक भित्ति (४३).

(४) वज्रतन्त्र की दार्शनिक परम्परा ४८-७३

पृष्ठभूमि (४८), वज्र और वज्रसत्त्व (५०), बोधिचित्त और करुणा (५३), अद्वय और युगनद्धता (५७), देह : एक माध्यम (५९), नाडी तन्त्र (६२), भोग-योग वाद (६६), राग और महाराग (६७), समरसता (६८), महासुख (६८).

(५) वज्रतन्त्र साधना ७४-११५

पृष्ठभूमि (७४), गुरु, दीक्षा और अभिषेक (७५), पूजा-प्रक्रिया (७८), देवकुल (७९), ध्यानी बुद्ध (८४), द्वेष परिवार (८७), ध्यान-साधना (८८), कापालिक साधना (९३), प्रतीक सिद्धान्त (९६), मण्डल (९७), तान्त्रिक अनुष्ठानात्मक प्रतीक (९९), तान्त्रिक अनुष्ठान और उसकी प्राप्ति के प्रतीक (१०१), देवों के आभूषण - मुद्रा (१०२), शरीर के नवरुन्ध्र द्वार १०४, बौद्ध तन्त्र में नारी शक्ति और प्रतीक (१०५), प्रज्ञा (१०५), एवं - (१०६), सन्ध्याभाषा और प्रतीक (१११), तान्त्रिक गीत (११५).

(६) हेवज्रतन्त्र की अध्यायगत विषय सामग्री १९६-१५९

प्रथमकल्प - हेवज्रडाकिनी-जालसंवर-वज्रगर्भाभिसंबोधिः

१. **प्रथम पटल** - एवं मया श्रुतम् (१), वज्र-शून्यता (१-३), हेवज्रतन्त्र का अर्थ, तन्त्र प्रकार, सामर्थ्य, हेरुक की उत्पत्ति का कारण, आधार भूत देह (६-१०), नाडियां तीन और बत्तीस (११-१५), अन्तरमण्डल (संवर) - अलि-कालि, चक्र, आर्य सत्य, निकाय, संवर का अर्थ, चण्डाली (१७-१८).

२. **मन्त्र पटल** - मन्त्र का अर्थ, मन्त्र का प्रकार (१-१८), वर्षायन विधि (२०), २१. मेघास्फाटन विधि, २२. वज्रकर्तरि विधि, २३. देवतास्फोटन विधि, २४. तापज्वलन विधि, २५. स्त्रीवशीकरण विधि, २६. चन्द्र-सूर्य विधारण विधि, २७. वज्रज्योतिष नष्टद्रव्यान्वेषण विधि.

३. **देवता पटल** - हेरुकयोग की नींव - हेवज्र और उनकी योगनियों के विविध रूप ब्रह्म विहार भावना (१), बीजसंग्रह, योगिनी कुल, बिम्बनिष्पत्ति, अक्षरन्यास, मृदुयोग समाधि (२), हेरुक योग की साधना (४), हेरुक योग की साधना, रंग की उद्भावना, हेरुक की पूजा (८), देवियां (९-१०), आलि-कालि (११-१२), हेरुक का रूप-स्वरूप (१३-१६).

४. **देवताभिषेक पटल** - अभिषेक का अर्थ और बुद्ध पूजा

५. **तत्त्व पटल** - पदार्थ की निःस्वभावता (१), वज्र परिवार की सेवा, मुद्रा और कुल (२-५), तथागत का परिवार (६-७), तथागत का अर्थ (९), कुल (९-१२), ब्रह्मा-विष्णु शिव रूप (१३-१४), भगवान, रजकी, दुहिता, नर्तकी, डोम्बी का अर्थ, जप, मण्डल, ध्यान (१६-२१).

६. **चर्यापटल** - हेवज्र चर्या (१-५), ध्यान विधि - वज्रकन्या के साथ (६-९), वज्रगीत, नृत्य, चक्र, कुण्डल, मेखला, खट्वांग आदि का उपयोग (१०-१४), पंचकपाल धारण (१५-१७), यथाप्राप्त भोजन ग्रहण और महाकरुणा रसपान (१८-२६).

७. **छोमापीठ पटल** - छोमा (गुप्त भाषा), संकेत प्रकारों की व्याख्या (१-९), मिलन के स्थान, द्वादश भूमियां, तेरह भूमियां (१०-१८), मांसभक्षण, प्राणि वध कृपापूर्वक (१९-२२), कार्य-अकार्य, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं (२३-२५), हेरुक और कपाल का अर्थ.

८. **योगिनीचक्र पटल** - नैरात्म्यचक्र (मोक्ष) के लिए भग (योनि) का ध्यान, मण्डल और चक्र का ध्यान, पंच तथागत का ध्यान (१-११), अध्यात्म मण्डल (१३), बाह्यमण्डल (१४-१५), देवियों की मुद्रायें और उनके प्रतीक (१६-२४), महासुख और सहज (२५-२९), आनन्द प्रकार (३०-३४), सहजानन्द (२५-४०), स्वसंवेदन (४१-५६).

९. **विशुद्धि पटल** - ज्ञेयावरण, पंचेन्द्रिय-विषयों का सेवन शुद्धिपूर्वक हो (१७), अध्यात्म - वालय मण्डल (११-१२), षोडश तत्त्व शून्यता (१३-२०).

१०. **अभिषेक पटल** - मण्डल रचना, शुक्रवती कन्या का शुक्र क्षेपण शिष्य के मुंह में प्रज्ञाभिषेक (१-७), विभिन्न दर्शनों में आत्मा की मान्यता (८-१२), आनन्द के चार प्रकार (१३-१५), सहजबोधि (१५-२०), मण्डल के प्रतीक, मन्त्र जाप (२०-३२), सहजानन्द प्राप्ति (३३-३४), महामुद्राभिषेक (३५-४१).

११. **चार दृष्टिपटल** - कर्मकाण्डीय अनुष्ठान विधियां - चार दृष्टियां (१-७), पंचाक्षरों का भक्षण, पंचामृत (८-११), कुरुकुल्ला साधना (१२-१५).

२. महातन्त्रराजमायाकल्प

१. **होमनिर्णयप्रतिष्ठापटल** - प्रतिष्ठा पद्धति और होमविधि (१-१३)

२. **सिद्धिनिर्णय पटल** - हेरुक की ध्यान साधना (१-१०), सतत् अभ्यास से सिद्धि लाभ, भोग से योग (११-२२), मुद्रासिद्धि और महासुख प्राप्ति (२३-३३), देह (३४-४३), महामुद्रा सिद्धि निरूपण (४४-५१), बोधिचित्त प्राप्ति विधि (५२-६१).

३. **हेवज्रसर्वतन्त्रनिदान** - सम्यक्संबोधि की प्राप्ति-प्रकिया, संवर का अर्थ (१-२), एवं की व्याख्या और उसका आनन्द से सम्बन्ध (३-५), विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण क्षण (६-८), चार अभिषेक – आचार्य, गुह्य, प्रज्ञा और चतुर्थ अभिषेक (९-१२), अभिषेकों का विवेचन (१६-१७), वज्रसाधना के लिए शिष्य को उपदेश (१८-२३); महाज्ञान (२४-२५), मण्डल का विवेचन (२६-२८), नियम और व्रत - प्राणिवध, असत्य, चोरी, परस्त्री सेवन की अनुज्ञा और उनका प्रतीक विवेचन (२९-३०), ऐन्द्रियक विषय (३१-३६), पदार्थ का स्वभाव (३७-३९), प्राप्त भोजन की ग्रहणीयता, स्नान

और ग्राम्यधर्म का त्याग (४०-४१), बुद्धिमान व्यक्ति के लिए न मन्त्र न जाप और न ग्राम्यधर्म का त्याग (४२), सभी स्त्री-संभोग करें व मांस भक्षण करें (४३-४४), बोधिचित्त के साथ मद्यादि का पान करे (४५-५२), सन्ध्याभाषा का वर्णन (५३-६७).

४. <u>हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थ पटल</u> - गीत नृत्य मुद्रा आदि के सन्दर्भ में प्रश्न (१-५), गीत की ध्वनियों के साथ मद्यपान, मांसभक्षण, नग्न होकर नृत्य, संभोग आदि क्रियायें करना (८-१४), मुद्रा का अर्थ, द्वेष, पिशुन, राग और ईर्ष्या परिवार (१५-१९), योगनियों के बीज बीजक (२०-२३), नाडियां (२४-२५), कर्पूर (वीर्य) का त्याग न करे (२६-२७), बोधिचित्त की प्राप्ति कैसे हो ? (३०-३१), संसार-निर्वाण का स्वरूप (३२-३५), निर्वाण प्राप्ति के लिए सुकेशी के साथ मद्य पिलाकर संभोग करे (३६-४०), नैरात्म्या का वर्णन (४१-४७), संवर योगिनि की नाभि में स्थित (४८-५०), चार कायों का देह में स्थान निरूपण (५९-६०), बोधिचित्त और महासुख का वर्णन (६१-७८), पुक्कसी, वैरोचन, घस्मरी, डोम्बिनी आदि का वर्णन (७९-८८), बलि (८३-८५), खेचरी और भूचरी का वर्णन (८६-१०३).

५. <u>हेवज्राभ्युदय पटल</u> - हेवज्र मण्डल तथा नैरात्म्या के साथ उनकी सुरत क्रीडा (१-२३), सोलह भुजाओं में कपालादि का वर्णन (२४-२८), देवियों का वर्णन (२९-३७), मन्त्र प्रक्रिया (३८-४४), मण्डल प्रक्रिया (४५-५५), आठ विद्यायें (५६-६३), शिष्य चर्या (६४-६७), हेरुक (६८-७०).

६. <u>हेवज्रपटविधान पटल</u> - संभोग सुख का प्रकाशन (१-२), पंचमुद्रा चिन्ह (३-४), मद्यपानादि कर हेवज्र का पटकार्य करे (५-११).

७. <u>भोजन पटलः पुस्तक लेख</u>न - (१-२), गणमण्डल में भोजन करे और मद्यपान व मांसभक्षण करे (५-१३).

८. <u>विनेय पटलः महामुद्रा स्वरूप</u> - (१-५), व्रत (६-७), शिक्षित कैसे करें ? (८-१०).

९. <u>मन्त्रोद्धार पटल</u> - मारण दयापूर्वक हो, ध्यान के द्वारा शरीर का पृथक्करण (१-६), भवशोधन (७-९), हेरुक की उत्पत्ति का वर्णन (१०-१३), मन्त्रोद्वार (१४-३७).

१०. **जाप पटल** - मन्त्र जपन प्रक्रिया और षट्कर्म (१-५).

११. **सहजार्थ पटल** - योगियों और प्राणियों का परिवार (१-९).
उद्यान या घर में महामुद्रा के साथ संभोग करे (१०-१५).

१२. **महामन्त्रराजमायाकल्प पटल** - चार अभिषेक व मन्त्रजाप (१-६).

(७) वज्रतन्त्र परम्परा पर एक समग्र दृष्टिपात १६०-१९१

स्थविरवादी बौद्धतन्त्र साधना और वज्रतन्त्र साधना (१६०), वज्रतन्त्र और जैन तन्त्र परम्परा (१६४), वज्रतन्त्र और शाक्त तन्त्र (१६४), वज्रतन्त्र परम्परा और उसका देवकुल (१६५). १. अमिताभ (१६९), २. अक्षोभ्य (१७०), ३. वैरोचन (१७१), ४. अमोघसिद्धि (१७१), ५. रत्नसंभव (१७१), ६. वज्रसत्त्व (१७२), अन्य देवकुल (१७२), तन्त्रपीठ (१७३), मन्त्र परम्परा (१७३), वज्रयोग (१७६), बौद्धधर्म में ओम् की अवधारणा (१७८), प्रस्तुत संस्करण (१९०).

(८) संदर्भ ग्रन्थ सूची १९२-१९४

१. मूल हेवज्रतन्त्र १-६८

२. मूल योगरत्नमाला ६९-१२८

परिशिष्टानि – यहां कोष्ठक में लिखी पहली संख्या हेवज्रतन्त्र के संबद्ध पहली संख्या पटल की श्लोक संख्या है और दूसरी संख्या योगरत्नमाला की पृष्ठ संख्या है।

१. श्लोकानुक्रमणिका

२. योगरत्नमालायामुद्धृतानां पद्यानुक्रमणिका

३. शब्दानुक्रमणिका

४. चित्रफलक और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

५. सरहपाकृत दोहाकोश

BUDDHIST TANTRIC MEDITATION

Tantric Trends in Buddhism

The tantric trends in Buddhism reflect even in Pali early Texts. Though the Brahmajalasutta of Dighanikaya condemned the magical powers as Tirachanavijja (crooked knowledge), the Buddha in the Suttapitaka and Vinayapitaka is said to be endowed with them. He demonstrated the four types of Iddhis or supernatural powers : (i) Chando (will), Viriyam (effort), Cittam (thought), and Vimamsa (investigation. The Visuddhimagga describes so many types of Iddhis which were conducive to the production of superhuman powers. Thirty-two principal and eighty minor characteristics of the Buddha and his proficiency in Sixty-four different scripts, Vedas, Upanisadas and other Sastras are also indicating the superhuman powers of the Buddha.

According to Dighanikaya, the Buddha used to say "It is because I see danger in the practice of these mystic wonders that I loathe and abhor and am ashamed thereof." But he could not prevent magical practices altogether in his religion as during his time the people were steeped in absurd superstitions, magical powers, mantras, self-mortification and other practices. Just to attract the masses, he, therefore, incorporated mantras and magical powers into his religion.

The Lokottravadins believed in the superhuman character of the Buddha. In the mean time, the Buddhist Sangha was divided into two, Theravadins and Mahasanghikas. The Theravadins or Vibhajjavadins were

stuck to ethics and moral discipline whereas the Mahasanghikas trifled with ethics and discipline. Further schism took the place in Sangha and as a result, Hinayana and Mahayana came into existence broadly. Mahasanghikas got the name Mahayana with two main branches, the first Yogacara and Vijnanavada, and the other one Sunyavada or Madhyamika.

The Madhyamika school enriched by Nagarjuna and his disciple Aryadeva who established the theory of Sunyavada. The controversy between Sunyavadins and Vijnanavadins was continued for several centuries. However, they enriched the literature thereon. The monks who were in favour of leading the natural life and pleasure of the world established the Mahasukhavada and Vajrayana through Sangitis. The Vajrayana tradition relaxed to a great extent the disciplinary regulations and attracted the general mass on the basis of Mantras, Dharanis, Makaras, and worship of violent and sexual gods and godesses.

The philosophical speculation was further developed in the form of Mahasukhavada. The concept of Nirvana in about first century A.D. was interpreted by Asvaghosa with the explanation that it is like an extinction of flame when there is no more suffering. Nagarjuna, the founder of Madhyamika philosophy said then that it is nothing but Sunya (empty). It is neither existence nor non-existence, nor a combination of the two, nor a negation of the two. Maitreya, the Yogachara philosopher established that Nirvana is Sunya but with positive element of Vijnana, and not negative Sunya.

Then Vajrayana introduced the Mahasukhavada and formulated that Nirvana is a combination of three elements : Sunya, Vijnana and Mahasukha which is termed as Vajra. In Hinayana Buddhism, Nirvana was to be obtained for oneself by own efforts. the Mahayana Sadhaka, on the other hand, does not care for his own salvation but through his compassion he tries first for others salvation. Avalokitesvara Bodhisattva refused to obtain salvation until the entire world enters into it. The concept of Karuna was developed in Mahayana Buddhism in such a way that the people of low castes were more attracted towards Vajrayana.

Concept of Vajrayana

Vajrayana means the vehicle which is unsplittable and unbreakable. It consists of two elements : Prajnaparamita (perfection of insight and Mantra, the cause and effect respectively. The truth Sunya or Nirvana can be realized by practice of these elements. The Tantric tradition is associated with women called Saktis and their Union termed Yoga. Till final Yoga is attained, the secrecy is of course, to be maintained. This tradition should be properly understood.

Wayman is of the view that the Buddhist Tantra is as a degenerate development within late Buddhism. Its sexual symbolism may lead the reader to denounce its importance. But if it is studied through its commentaries with an open minded one may judge its way of thinking in a right perspective.

Tantric literature consists of Sadhana, Dharini, Stava, Homa, Mandala etc. It is mostly written by Vajrayanist Acaryas (Vajracaryas), dealing with Sahajayana, Kalacakrayana, Tantrayana, Bhadrayana etc. In all these Yanas, the Tantra is very common factor. The word Tantra carries so may meanings. In Tantric perspective, one of its meanings may be brought out to light and that is expansion of knowledge based on the root Tan meaning to expand. Thus Tantra expands our material knowledge to the ambit of spiritual development of mind. It may also derive from root Tantri to understand. Both the meanings can be applied with Buddhist Tantra. Observing the nature of Tantra Harprasad Shastri is right to say "The word Tantra is very loosely used. Ordinary people understand by it any system other than the vedas. But it really means the worship of Shakti or female energy. The female energy is worshipped in conjunction with male energy. The union of male and female is the essence of Tantric element." The statement can be justified by Hevajratantra which refers to so many gods and goddesses of this nature in first and third Patalas. They are worshiped by Mantras endowed with great powers with six rites (Satkarma) : Santi, Vasikarana, Stambhana, Vidvesana, Uccatana and Marana.

Introduction of Tantric Trends in Buddhism

The tantric trends appear to be popular amongst primitive peoples who used to destroy or injure their enemies with the help of Mantras and Tantras. Sex worship was also prevalent there through different sorts of symbols. These people may be Dravidian or other Non-Aryan peoples

of India from whom the so called Aryan peoples systematized the Tantric trends properly.

The Rigveda does not mention the Tantras directly, but the Atharvaveda, of course, refers to some rites and rituals which are quite similar to what we find in the Tantras. Then the rudiments of Tantras can be traced out in the Upanisadas and Aranyakas. The Brahadaranyaka clearly mentions some mantras which are akin to Tantric Mantras. Hyms from Rigveda and Taitreya Samhita can also be referred to have the impression that the Tantric trends were quite popular during early days in the form of Sive and Sakti.

The Buddhist Canonical Texts in Pali also refers to these rites and rituals and magic powers which are condemned by the Buddha at the initial stage, But in the later Texts the Buddha himself appears to be involved in such magical and sexual perfections. The Kathavatthu (23.1-2) moreover recognizes Maithuna (sexual enjoyment) as Dhamma. The Cullavagga (V. 10.2; SBE. Vol. xx, p. 89) also refers to a Bhikkhu (monk) who carries a bowl made out of a skull (Kapala). Likewise, the Tevijjasutta is acquinted with Tantric Satkarmas. These portions of the Texts may be considered interpolations.

The Buddhist Sanskrit literature is, of course, rather more keen to mention such trends. The Mahayana Buddhism relaxed the code of conduct to a great extent which caused to expand these trends and Vajrasadhana came into existence. Lalitavistara (Bibliotheca Series, p. 179) mentions the use of mantras, meat, wine, skulls etc.

for religious purpose. Asvaghosa in his Buddhacarita (13.47) refers to Mahakali who is standing in front of Bodhisattva with skull and wine-pot. It indicates that in about first century A.D. the Tantric trends got entry into Buddhism. Beal also in his introduction to Fa-Hian (p. 1xxii) assigned some Buddhist Dharinis and Vidyadharapitaka to first c. A.D.

Aims and Objects

The aims and objects of these Tantric trends and meditation are to obtain powers and Riddhis - Siddhis like Anima, Laghima, Mahima etc. as mentioned by Patanjali in his Yogasastra (3.45). The Visuddhimagga refers to ten such psychic powers which have been explained by Patisambhidamagga. The attainment of Abhinnas (higher knowledges) is also the aim of the Buddhist meditation as explained in the Samyuttanikaya (ii, 216) and the Visuddhimagga (12th chapter). The Sadhanamala refers to eight types of Siddhis : Khadga, Anjana, Padalepa, Antardhana, Rasarasayana, Khecara, Bhucara and Patala (P. 350).

Buddhist Tantric Literature

Buddhist Acaryas enumerated these Tantric trends in their literature. Wayman has introduced the Guhyasamajatantra with its date the 4th c. A.D. with possible authorship of Indrabhuti. Vajramala, the Commentary on the Guhyasamajatantra, is proposed to be of 5th c.A.D. But looking to the nature of the Guhyasamajatantra, it becomes very difficult to agree with the date proposed by Wayman. In my opinion it should be fixed in about 7th

c. A.D. The Tantric trends enriched so much in the Guhyasamajatantra that are not found in the Buddhist literature of even 4th c. A.D.

Taranatha gives credit to Asanga (about 4th c.A.D.) in introducing the Tantras into Buddhistic mysticism which were handed down upto the time of Dharmakirti (629-685 A.D.) in the most secret manner. He also associates some Tantras with particular Acaryas. For instance, Sarahapa introduced the Buddhakapalatantra, Luipa the Yoginisancarya, Kambala and Padmavajra or Sarahapa the Hevajratantra, Krsnacarya the Samputatilaka, Lalitavajra the three divisions of the Krsnayamaritantra, Gambhira-vajra, the Mahamaya and one Pito the Kalacakra (Setuefner, Gesehichte der Buddhisimus, p. 201-275, Chintaharan Chakravartitantras: Studies on their Religion and Literature, p. 21). Amoghavajra translated the Usnisacakravartitantra, Garudagarbhatantra, and Vajrakumaratantra between 746 and 771 A.D.). Other Buddhist Tantric Texts are Manjusrimulakalpa, Kalacakramulatantra, Sekoddesatika, Paramarthaseva, Vimalaprabha, Sadhanamala etc.

Hevajratantra and its Theme

Of these the Hevajratantra is an important Buddhist Tantric Text written by Saroruha (Padmavajra) or Kampala (2.7-8). According to Taranath, Indrabhuti 11 received instructions from both these Acaryas. The author of the Yogaratnamala, the Commentary on Hevajratantra is Kanha (Krishna) who is said to be contemporary of king Deopala and disciple of Jalandhari. He may be, therefore, placed in early 10th c. A.D. Some more Commentaries may be

mentioned here. Acarya Bhadrapada, Naropa, (10th-11th c.A.D.), Ratnakarasanti, Dharmakirti and Vajragarbha have explained the Hevejratantra in various ways. Out of them, the Vajragarbha's commentary is perhaps the biggest one. It had 32 parts and 5,00,000 Slokas. Buston mentioned its 10,000 Slokas. Taranath's assertion may be correct that the Hevejratantra written by Saroruha and Kambala is the original one of the present form. Its enlarged form can be imigined from Sadhanamala (228), and Hevajratantra (1.11.12) itself. Where it is entitled as "Vistirna Hevajratantra". It was divided into 12 parts and 5,00,000 Slokas. It may be named as Mulatantra according to Naropa.

The work Hevajratantra may be originally in Apabhramsa dialect as so many serious grammatical defects are remained with its Sanskritised form. It deals with Mudras, Mandala, ornaments, symbolics, gods-godesses, body etc. along with different types of rites with rituals on the basis of earlier Texts like Sarvatathagata Tattvasangraha (2.5.57).

Buddhist Tantric Texts are mostly written in Tibet. The Tibetan Canon consists of two parts : Kanjur and Tenjur. Kanjur part comprises 13 volumes of rules of monastic discipline, 21 volumes of Prajna paramita, 44 volumes of Mahayana Sutras and 21 volumes of Tantras. The second part Tenjur comprises works of Indian philosophers in two groups: First Commentaries on the Sutras in 137 volumes and the other one the Commentaries on the Tantras in 86 volumes. The Mahayana Sutra works were written in between 2nd and 8th c. A.D. and the Tantra

literature is available from 7th to 12th c.A.D. The first is the collection of Buddha-vacana and the second one is its explanation systematized in well-ordered forms. We find there that the Lord Buddha discourses to his disciples either Bodhisattvas or divinities who ask questions and get reply of them with new ideas. Just to make Buddhism further more popular the Buddhist Tantra introduced the use of blood, meat, sexual intercourse, wine, corps, skulls etc. under the pretext of esoterism. The Hevajratantra has very clear examples in this regard where Hevajra and his consort Nairatmya perform all such rites and rituals at the meeting places (Melaka).

The Vajratantra tradition is a result of development of Mahayanic conception where the nature of Sila, Samadhi and Prajna of early Buddhism is completely misunderstood, destructed and corrupted to such extent that caused Buddhism to end its base from motherland. It influenced, of course, the Northern part of India, Nepal, Tibet and some other countries where Buddhist Tantras started its own life with distinguishing form. Hevajratantra is an instance of such form which undermined the morality and spirituality of original Buddhism.

Mahayana tradition has two wings, one is Prajnaparamita method and the other one is Mantra method. Both these methods are totally combined in Vajrayana under the umbrella of secrecy. The Hevajratantra begins with "Sarvathagatakaya Vakcittahrdayam Bhattarakam Guhyatiguhataram......." which means the heart of the Body, Speech and Mind of all the Buddhas in the Noble Lord who is the most secret of all secrets.."

Here the word "Guhyataram" reflects the Tantric mysticism of Tibet along with perfect bliss in body, speech and mind on the basis of arrangement of Cakras as pointed out by Dasgupta with the view to attain Boddhicitta. Wayman tried here to point out that "Guhyataram" clearly informs that there is a restriction on teaching it to others. It also clearly throws a light on the word "Maithuna" occurred in the Hevajratantra and other Buddhist tantric texts that it is symbolizing the secret which is not the same as physical sex. This observation may be right, but it does not stand unquestioned. Symbolism in such cases, as a matter of fact, has been applied after it was misused under the pretext of esoterism. Agamasara and Anuttarayogatantra of later period explained the Pancamakaras in a symbolistic way and curtained on the misconduct of the so called Sadhakas. However, symbolism has been applied into Mandala and rituals since long.

Concept of Mandala

Mandala is a means for the attainment of Bodhicitta hidden in dross of body and mind or citta. That is called Tathagatagarbha represented by the mandala, a map of the cosmos, which becomes a subject for meditation. It is drawn upon the ground on a purified surface consecrated with appropriate rites and powders of different colours and cycles. In general way, as pointed out by G. Tucci, it may be said that a Mandala contains as outer enclosure and one or more concentric circles which, in their turn, enclose the figure of a square cut by transversal lines. These start from the centre and reach to the four corners so that the surface is divided up into four triangles. In the

centre and in the middle of each triangle five circles contain emplems or figures of divinities. After the circle a girdle of diamond symbolizing Bodhi or illumination is drawn. The Mandala represents the Samsara and Moksa. It is sybolized by the five Buddhas and other gods and goddesses in embraced form on the throne. It also represents the passions, bodies and Cakras.

On the basis of Ratnakarasanti Wayman points out that the Mandala can be understood to represent the palace of the Akanistha heaven, where according to Mahayana tradition, Gautama was initiated as a complete Buddha with the body called Sambhogakaya.The "Mandala" is the inner palace; and is the wheel possessed of spokes, and possessed of trips, gates, and corners. Mery represents the body. Likewise so many other symbols of the Mandala-palace can be understood through other Texts.

Concept of Divinity (Devata)

The Buddhist Tantra recognised so many types of Devatas. According to Hevajratantra, Tathagata is the main deity in Buddhism who possesses Prajna - Jnana (knowledge) and Punya (merit). Through these two elements he has returned to Samsara with the formal body (Rupakaya). The Kula (family) of Tathagata is of six kinds : Vairocana, Aksobhya, Amoghasiddhi, Ratanasambhava, Amitabha and Vajrasattva. They are called Dhyanibuddhas. The Hevajratantra names these progenitors respectively as Brahma, Visnu, Siva, Sarva, Tattava, and Vidudha. Tathagata also sometirnes appears in crow, owl, dog, bear, yama, and Smasana of Godesses like Dakini.

Tathagata is described as a Guru (Teacher). In Tantric tradition Guru is of two kinds, external and internal. The Internal or inner Guru is Kamadeva who is the presiding deity (Istadevata). One's own mind (Citta) is also included in the ambit of inner Guru. It is union of the tutelary deity and the great goddess. It is said that the Kriyatantra has the deities laughing, the Caryatantra, the deities mutually gazing, the Yogatantra, the deities holding hands, and the Anuttarayogatantra, the deities in union. Here the Vajradhara is explained as Adibuddha.

Vajradhara or Vajrasattva represents the five Dhyanibuddhas who cannot belong to a period prior to the time of Indrabhuti (700-750 A.D.). Vajrayana introduced these Dyanibuddhas along with their Saktits in about 7th c. A.D. Vajradhara decorated in princely ornaments and garments is regarded as the highest deity. Their divine Buddhasaktis are respectively : Vajradhatvisvari, Locana, Mamaki, Pandara, Aryatara and Vajrasattvatmika and the Divine Bodhisattvas are : Samantabhadra, Vajrapani, Ratnapani, Padmapani, Visvapani and Ghantapani. The Hinayanists recognized the twenty-four past Buddhas whereas Mahayanists made the list of 32 Past Buddhas. The last seven are the mortal Buddhas : Vipassi, Sikhi, Visvabhu, Krakucchanda, Kanakamuni, Kasyapa and Sakyasimha (Gautamabuddha). Maitreya is established as the Future Buddha. Manjusri and Avalokitesvara are mentioned as the Bodhisattvas. Emanations of all these Buddhas are also accepted widely in Vajrayana tradition.

VAJRAYANA SADHANA

Mahayanic Sadhana is based on the Yogacara or Vijnanavada where Citta is treated as ultimate truth. Maitreyanatha and Asanga stressed on the Yogaṣadhana that describes Dhyana, Vimoksa, Samadhi and Samapatti. Its main object is to attain the Prajna (enlightenment) and Tathata. Bodhisattva strives to achieve Dharmakaya and Bodhicitta (Karuna) by way of devotion, worship, Mantra, Dharini etc.

Guru in the form of deity is a centre of initiation without which Sadhana cannot be initiated. He leads it to generate himself into the deity and then, as the deity, grants permission to the disciples. The disciples are of two types : Saiksya and Asaiksya. Saiksya is attached with worldly affairs while the Asaiksya is not. Kriya, Carya, Yoga and Anuttarayogatantra are prescribed for the Tantric Yogis. The disciple goes to shelter of Vajracarya with young girl Mudra and worships him. Then the Guru initiates and includes him in the Buddhakula. Thus the initiation is meant to qualify the candidate to receive the teachings of Tantra.

The Vajracarya then decides the ability of a disciple and initiates him into a particular Kula (Dvesa, Moha, Raga, Cintamani and Samaya) of the deity accordingly. Of the five Dhyani Buddhas one's image then is consecrated into Mandala.

Gopinath Kaviraja has described three types of consecration (Abhiseka) : Purvaseka, Uttaraseka and Anuttaraseka. The Purvaseka Abhiseka is of seven types (Udaka, Mukuta, Patta, Vajraghanti, Vajravrata, Nama, and

Anujna) which purifies the body, speech, mind and knowledge of the disciple. The Uttarabhiseka considers the Kalasabhiseka, Guhyabhiseka and Prajnabhiseka which lead to the Lokottarasiddhis with the help of Mudra. The one Anuttaraseka is really Paramarthaseka which does not require the assistance of Mudra. The Hevajratantra refers to four types of Abhisekas (2.2.3) : Vajra, Guhya, Prajna and Vajradhrka. The Chaturthabhiseka is here more important as it carries the Mahamudrasiddhi or Tathata.

The Vajrayana tradition lays down the Vinaya rules to the disciples according to their perfection in Siddhis. At the initial stage the Sadhaka has to be abstained from taking meat, observing celibacy etc. But as soon as he becomes perfect in mental concentration no restriction is laid down on his meditative performance for attainment of Bodhicitta through ten Bhumis (spiritual spheres). The Bodhicitta is a comminglinga stage of Sunyata (voidness) and Karuna (Compassion). The Vajrayanists call it as Advayavada and compared it with salt melting in water. Heruka (Hevajra) and Prajna are their deities ofenly found in embraced position (Yuganaddhata). The Sadhaka worships these deities by means of celestial flowers, bells, garlands and the like. He should also make a confession of his sins before the deities and take refuse in Buddhist religion (Dharma), Sangha and Bodhi.

The Vedic Tantra is divided into two groups : Vamacara which is based on the use of Pancamakaras (Madya, Mamsa, Matsya, Mudra and Maithuna or Pancatattvas and Daksinacara which stresses on the right conduct and mental purity. Three types of worship are also allowed there : Divyabhava, Virabhava and Pasubhava.

The Buddhist Tantra is divided into Four groups : Kriya, Charya, Yoga and Anuttarayoga. The first two groups may be considered the followers of Daksinacara and the remaining two may be termed as Vamacari. The main difference between the Vedic and Buddhist Tantric Sadhana, as pointed out by Agehananda Bharati, seems to have been that the Vedic Tantric ejects his sperm, the Buddhist Vajrayana adept..... does not (Bodhicittam notsrject). The Hevajratantra supports the view.

The Tantric traditon is of the view that the emotions arise in the body and the deities are accordingly said to reside in the body. Hevajratantra refers to three types of Kramas : Utpatti, Utpanna and Nispanna. In the Utpattikrama, the forms of the male and female deity are visualized within the Mandalas. In the Utpannakrama, the male and female deities become united. The third one Nispannakrama clears the way to attain Nirvana by way of this union. That is called Mahamudrasiddhi. Let us understand the Hevajratantra.

The subject of Hevajratantra

In Hevajratantra,"He" symbolizes Compassion (Karuna) and Vajra symbolizes voidness (Sunyata). Both are synonymous with Prajna and Upaya. It means that Hevajratantra demonstrates the union of Prajna and Upaya in a symbolic way to attain the Salvation. The Nidanavakya of the Hevajratantra declares this fundamental principle. The Vajra family members are the players in the drama of the Buddha. Hevajratantra is full of Tantric language through which the Dharmakaya is described.

Hevajratantra is divided into two Kalpas (Parts), the first Vajragarbhasambodhikalpa consists of eleven Patalas and the second Mahatantrarajamayakalpa has twelve Patalas. It is the main Tantra text. Its subject matter with the help of its commentary "Yogaratnamala" may be summarized as follow.

1.1 Sarvatathagatakayavakcittavajrakulapatala :

The text begins with "Evam Maya Srutam" based on the dialogue held between the Buddha and Vajragarbha. The interpretation of the aforesaid sentence is made. Accordingly, "E" is Bhaga (the female sexual organ), "Vam" is Kulisha (the male sexual organ), "Maya" is the activation and "Srutam" is said to be two fold. "He" symbolizes Great Compassion, and "Vajra" symbolizes Wisdom. It means the Hevajratantra is the essence of Wisdom and Means. The Vajra also symbolizes the voidness. (Sunyata). There are 32 Nadis which are the bearers of the Enlightened Consciousness (Bodhicitta). Among them three Nadis, Lalana, Rasana and Avadhuti are the most important. Ali and Kali, Moon and Sun, Wisdom and Means are Concealed Essences (Samvara). This chapter explains the family of Vajra which is the Body, Speech and mind of all the Buddhas.

1.2 Mantrapatala :

Mantra means which recalls the Supreme Essence and saves living beings. The different mantras beginning with Om are followed by seed syllables of the Five Buddhas : bum am, jrim, kham and hum. About 20 Mantras are given here in the Patala.

1.3 Devatapatala :

This chapter deals with different forms of Hevajra and their Vajrayoginis. Hevajra has three faces and six arms. The face on the left side is red, the face on the right is the luminous colour of the Moon and the face in the middle is blue black. He is naked. His six arms symbolize the six Paramitas. In his first left hand he holds a trident, in his right hand a Vajra; in his second left hand he holds a bell and in his second right hand a knife. With his other two hands he embraces Vajrasrankhala. Hevajra is the body, speech and mind of all the Buddhas. In this Patala, four components common to all Buddhist Yogis involving in the emanation of Hevajra and the other deities are mentioned : Maitri (friendliness), Karuna (compassion), Mudita (Joyfulness), and Upekkha (detachment).

1.4 Devatabhiseka Patala :

Consecration by emanation is described in this chapter. Consecration is the cleaning, with the waters of knowledge, of all the veils covering the corpse seat. For the purpose the Yogi is consecrated by the Buddhas, who have the form of Heruka.

1.5 Tattva Patala :

The union with the deity has been explained. For achieving that union there is no quicker awakening than by actualising the True Principle. Accordingly, by their very nature, there is neither form nor the one who sees, neither sound nor listener, neither smell nor the one who smells, neither taste nor the one who tastes, neither touch nor the one who touches and there is neither mind nor thought.

The wise Yogi must always worship the Mother and the Sister. The one to whom the True Principle is dear should worship Nati, Rajaki, Vajri, Candali and Brahmani by the proper application of Wisdom and Means. They must be served with diligence so that the practice is not exposed to misfortunes from snakes, theives, fire and elemental earth spirits. For the attainment of liberation these Seals (Mudrah) are identified with the Five Families : Vajra, Padma, Karma, Tathagata and Ratna. In this chapter, the deities, Bhagawan, Kula, Tathagata, Mandala etc. are explained in details.

6. Carya Patala :

Carya is the strict application of vows according to the instructions of the Gurus and Buddhas. Practitioner's four stages are described here. Oneness of castes is urged. Practice should be started in a deserted place or under the tree to get the Usma (Energy). He can take up the beautiful Vajra girl. He should always sing and dance and bear Kapalas (Skulls). There should be no fear, anger and shame. Yogis are of four types : weak, medium, strong and strongest. In this context, no application of the Vow is mentioned for a person of the strongest sensibility.

7. Chomapeeth Patala :

Choma means Secret Sign Language. It is accepted as the mode of communication when Yogi meets the Yoginis. Meeting places are the Peethas, Upapeethas, Melapakas, Smasanas etc. Yogi abodes in the state of Divine Heruka. "He" symbolizes voidness of causality. "Ru" symbolizes the rejection of discriminating thought. "Ka"

symbolizes the fact of not being located anywhere. All those beings those flesh the wise Yogi eat are all subdued by means of the Vajra-Kapala Yoga. "Kapala" means "Ka" meanings bliss, and "Palayati" means which protects bliss and refers to Nairatmya.

8. Yoginicakra Patala :

Yoginicakra means Nairatmya Mandala (Moksa). There are two kinds of Mandalas : Adhara-mandala and Adhyeya-mandala. The Mandala practice consists of three meditative states, namely the Adiyogasamadhi, Mandalarajagrisamadhi and Karmarajagrisamadhi. The Yogi visualising a Bhaga (vagina) emanatates the circle first then the deities. The circle is to be understood as the earth, water, fire and air representing the seed syllable Lam, Vam, Ram and Yam respectivly. The circle arising from the source of nature is underfiled and has two enclosures. The inner one is formed by the Kinjalka and the other one by the triangle. At the centre of Mandala he imagines a corpse. Above the corpse is the Lunar Mandala and above the Moon is the seed syllable. The Union of these Moon and Sun is great bliss. Ali is the Moon and Kali is the Sun. Gauri and the other Yoginis are proclained to arise from the union of the Moon and Sun. Moon is the Mirror-like Awareness. Sun is the Awareness of Equanimity. In this Patala the method of the Hevajratantra is compared with the methods of the other systems and the unique nature of the Hevajra traditon is emphasized.

9. Visuddhi Patala :

Here in this Patala the Thusness (Tathata) is defined as that which purifies all things which exist. The faculties of experience are described as being veiled by ignorance and affiictions. Purification by means of direct personal experience and the innately pure nature of the world is emphasized. Men are deluded by not knowing the True principle, and those who are devoid of the True Principle cannot achieve the accomplishment.

10. Abhiseka Patala :

The rules for the construction of a Mandala to be used for consecration are given here. A divine consort or of sixteen year old girl is served until her sexual fluids flow. Then the fluid should be dropped into the mouth of the disciple. Which causes the arousal of personal experience (Svasamvedana). The knowledge is the very life-breath of living things and is the imperishable supreme. the Mandala comprises of a blazing square with four brilliant doors. Other instructons and rituals are described here along with the role of Mantras, austerity and fire-sacrifice from the point of view of the Enlightened Consciousness. The intrinsic nature is known as the Innate which is the one Concealed Essence of all things.

11. Vajragarbha Sambodhi Patala :

In the application of Mantras, for control of beings, there are four kinds of Gazes. They are Overthrowing (Patana), Subduing (Vasya), Attracting (Akrsti), and Paralysing (Stambhana). The Gazes have been mentioned in order to overcome beings and not for killing beings.

During the rite attentively the Yogi eats the sacramental food which includes excrements, and the meat of human beings, cows, elephants, horses and dogs. The Pancamratas (five Nectars) must be consumed for the sake of accomplishment in the Hevajra.

2. MAHATANTRARAJA MAYA KALPA

In this Kalpa the propitiation of Kurukulla has been explained, by means of which all beings are subdued.

1. Homa Nirnaya Pratistha Patala :

Pratistha means the rite of establishing sanctity which is the ritual for making deities abide in pictures and so on. It is said that after having performed the fire sacrifice as prescribed and constructing the Mandala, at dusk one should sanctify the image performing the preliminary rituals of purification and so on. The preliminary rituals for estalishing sanctity and rules and mantras for the performance of fire-sacrifices are given here.

2. Siddhi Nirnaya Patala :

One who wishes to attain the accomplishment should remain at one in union with Nairatmya or Heruka and should not even for a moment rest in any other thought. At all times the Yogi should serve the Goddess and emanate the Yogini Nairatmya. This practice of concentration is the destroyer of all evils. The view necessary to gain strength of convicion in the process of Generation is given here. The utility of the Process of Generation in regard to the practice of the process of completion is described by way of analogies. How the elements which originate from the great bliss are differentiated into five during the sexual

union is described. The components of the ordinary erotic union are shown as the realms of the elemental lords of the five families and the basic emotions.

3. Hevajrasarvatantra Nidana Sandhyabhasa Patala:

The fundamentals of all Tantras are : Samvara (Concealed essence), Abhiseka (Consecration), Sandhyabhasa (Tantric Code Language), Ananda (different joys) and Ksana (Moments) and others as well as Bhojana (feasting) and so on. Samvara (Mahasukhajnana) of all the Buddhas abide in "Evam". Consecration removes the defilements. It is of four types : 1) Acaryabhisseka (union of the female and male sexual organs), 2) Guhyabhiseka (the juice of the sexual union must be dropped into the mouth of the disciple), 3) Prajnabhisseka (Offering Prajna to disciple), and 4) Caturthabhiseka (Attainment of the state of Unity of the Mahamudra. Disciple should honour the Vajradhara with pleasing food and drink, wine and meat etc. The observance of the concealed Vow is (Samaya) to kill living beings, speak lies, take meat is not given and service other's wives. Further it is said that food and drink should be had, but rituals of bathing should not be performed. He must eat the Pancmratas, drink liquor and bloody liquids along with semen.

4. Hevajra Sarvatantra Mudrana Pindartha Patala :

An exemplary Vajra song composed in Tantric code language sung at the gathering of the Circle of initiates is given here. The relationship between the Yoginis and the seals are defined. The relationship between the 32 Nadis and the Yoginis are also explained. The semen should not be ejected for it is the place where all the Yoginis

originate. The Seals and their relationship with the centres of body, speech and mind are discussed.

5. Hevajrabhyudaya Patala :

The manifestation of Hevajra and his Mandala is described. Hevajra has sixteen arms, eight faces, four feet, and is terrifying. He bears a garland of skulls and the Five symbolic ornaments and has Nairatmya clasping his neck. In this context, so many goddesses are described.

6. Hevajra Pata Vidhana :

A fierce-looking portrait must be painted using the five colours which are placed in a skull by a painter. The large portrait must be painted with a brush made of hair from a corpse.

7. Bhojana Patala :

The book should be written on birch-bark. Collyrium (Mahamadhu) should be used as ink and human bone for the pen.Sitting on the corpses one should parkake of the sacraments and herbs, eat human flesh and worship the mothers.

8. Vineya Patala :

Be compassionate and devoted to the guru. A propounder of the Hevajra doctrine be given first the injunctions for conduct and then instructed upon the fundamental moral precepts. He then should be instructed upon the Vaibhasya doctrine and after that the Sutranta doctrine. Then he may be instructed upon the Yogachara doctrine followed by the Madhyamika doctrine. After teaching all the practices of Mantra, he then commences with the instruction on the Hevajra practice.

9. Mantroddhara Patala :

In Tantric practice there is no need for fire-sacrifices and the performance of hand-gestures. The gem of the phenomenal existence, which is united with the five desires, when not purified becomes poisonous and when purified becomes nectar-like. The significance of the various aspects of the form of Heruka is explained and the arrangement of the various types of mantras are given here.

10. Japa Patala :

The rules for recitation of the Mantra and the sacraments to be offered in the performance of the fierce rites are given here.

11. Sahajartha Patala :

The way to identify the family affiliation by means of a sign on the palm and by the colour of the disciple is given. The Mahavajras told the Nairatmya that making the Mahamudra consort naked, the wise Yogi should always serve her in lonely place. He should kiss and embrace her and stimulate her sexual organ. The Yogi whose sexual organ is aroused should erotically mark and activate her with his hands. Semen is to be drunk there and especially wine, meat should be eaten there for the benefit of semen.

12. Mahatantraraja Mayakalpa :

The instructions for the Four Consecrations are given. The Guru reveals the essential nature of what is transmitted during the four consecrations. The Mantras for empowering the Vajra and the Lotus are given. The locations for placing the empowering seed- syllables om, hum and ah are given.

This is the general introduction to the Vajrasadhana on the basis of the Hevajratantra and its commentary Yogaratnamala. The available proposed Text of Hevajratantra may be the concised form. Its original form is mentioned as "Vistirna Hevajratantra" in the Text itself (1.11.12) which would have been utilized in Sadhanamala and other Tantric Texts. Vajragarbha may have concised it into 750 verses. Naropa must have commented upon the Hevajratantra on its basis and Sarahapa must have utilized to a great extent.

I have made an Introduction to Hevajratantra in Hindi in quite detail. Considering all the facts one may easily come to the conclusion that the Tantric trends must have assisted Buddhism in its ouster from mother land. I have discussed the point in my other books entitled "Bauddha Sanskriti ka Itihasa", "Bharatiya Sanskritila Bauddha-dharmache Yogadana" and "Babasaheba Dr. Ambedkar and Bauddhadharma".

The Proposed Edition

The proposed edition is coming for the first time in Nagri script. It is based on the D.L. Snellgrove's edition published in 1959 by the Oxford University. The same with English translation has been recently published by Motilal Banarasidas, New Delhi in 1992. While editing the Texts, I have utilized the following Texts :

Ka. – Giuseppe Tucci, Rome's work, the Text of Nepal.

Kha. – Text of Cambridge University, bearing No. 1340.

Ga. – Text of Asiatic Society of Bengal, Calcutta bearing No. 11377.

Ta. – Tibetan Translation - Narthang Kanjur.

Ca. – Chinese Translation - Peking bearing No. 892.

Pa. – Kashi Prasad Jayaswal Institute, Patna.

Pha. – G. W. Farrow and L. Menon's edition and English translation, Delhi, 1992.

Yo. – Yogaratnamala, Cambridge University.

As. – Cambridge University bearing No. 1699 and Asiatic Society of Bengal, Calcutta bearing No. 11317 (Commentary).

I have also utilized the available books on Buddhist Tantric tradition in Hindi and English. The present Text is dedicated to Rev. Samdhong Rimpoche, the Vice-Chancellor, Tibetan Institute, Sarnath, Varanasi, a dedicated scholar of the tradition and a beloved friend of mine.

The Text is published under the financial assistance of Ministry of Human Resource Development, Department of Education, Rashtriya Sanskrit, Sansthan, Government of India. I am also grateful to the Sanmati Research Institute of Indology, Nagpur which has extended partial financial assistance for the publication of the Text. I am also grateful to the scholars whose works are utilized here in my study and those students who have stimulated or inspired me to study the Buddhist Tantra. I should mention here that Diacritical Marks could not be applied here due to technical limitations.

New Extension Area,
Sadar, Nagpur-440 001
INDIA
Phone No. : 541726
Date : 27-9-96

Dr. Bhagchandra Jain
Head of the Department of
PALI AND PRAKRIT
NAGPUR UNIVERSITY.

** ** **

Ce. [illegible] Sinhalese [illegible] edition [illegible]

Pa. [illegible] Prakashan [illegible] Patna [illegible]

Pts. — G. W. Pandey and L. Mendis edition and English translation, Delhi, 1982

Yo. [illegible] Cambridge University [illegible]

As. [illegible] Cambridge University [illegible] Asiatic Society of Bengal [illegible] 1934 (Commentary)

I have also utilized the available books on [illegible] available in Hindi and English. The present Text is [illegible] scholars of the tradition and [illegible]

The Text is published with the financial assistance of Ministry of Human Resources Development, Department of Education, [illegible] Government of India [illegible]. I am also grateful to the [illegible] Research Institute [illegible] which has [illegible] partial financial assistance for the publication of the Text. I am also grateful to [illegible] study and [illegible] to study the [illegible] Text. [illegible] Diacritical Marks [illegible] due to technical limitations.

New [illegible] Area
[illegible], Nagpur-440 [illegible]
INDIA
Phone No. [illegible]
Date: [illegible]

Dr. Bhagchandra Jain
Head of the Department of
PALI AND PRAKRIT
NAGPUR UNIVERSITY

१

वज्रतन्त्र परम्परा की पृष्ठभूमि

वैयक्तिक विशुद्धि मार्ग

बौद्ध धर्म आध्यात्मिक विशुद्धि का मार्ग है जो व्यक्ति को तृष्णा विहीन बनाने में एक अहं भूमिका निभाता है। इस मार्ग को बुद्धत्व अथवा निर्वाण प्राप्ति का मार्ग कहा जाता है। थेरवाद और हीनयान परम्परा में इस मार्ग में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ पर महायान परम्परा में उसकी गतिशीलता का आभास अधिक होता है। इसे हम श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्त्वयान संज्ञाओं में देख सकते हैं जहां धर्म सीधे-सादे यथार्थवाद से आदर्शवाद की ओर मुड गया। वहां अर्हत्व का आदर्श बुद्धत्व या सम्यक्सम्बुद्धत्व से पीछे रह गया।

इस आदर्श का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति है, उसका जीवन है जिसे बौद्धधर्म ने साधारणतः छ भागों में विभाजित किया है - नरक, देव और तिर्यक् तथा मनुष्य, राक्षस और महादेव। इनमें मनुष्य का मनुष्यत्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वही उसका धर्म है, कर्म है जिसपर हर क्षण विचार-चिन्तन किया जाना चाहिए। मृत्यु इस चिन्तन का फलितार्थ है, शाश्वत् तथ्य है और शरीर उसका रूप भाग है। अविद्या और तृष्णा तथा उसके सहधर्मी विकार उनके इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं जिनके स्वभाव पर व्यक्ति को जागृत बने रहना आवश्यक है। साथ ही उसे सांसारिक पदार्थ की प्रकृति का भी यथार्थ ज्ञान होना अपेक्षित है। पदार्थ का यह ज्ञान हमारे और उसके पारमार्थिक और सांवृतिक सत्य पर आधारित है। स्वानुभूति की प्रदीप्त शिखा से वह आभासित है।

बौद्धधर्म व्यक्तिवादी धर्म है। वह व्यक्ति को प्रमुखता देकर समता और समानता की बात करता है। यह समता और समानता उसकी मूल शक्ति की ओर संकेत करती है। इस दृष्टि से बौद्धधर्म में आध्यात्मिक चेतना के आधार पर व्यक्ति के तीन प्रकार बताये गये हैं। उनमें हीन प्रकार वह है जो संसार में सुख और आनन्द की खोज करता है। संसार क्षणभंगुर है फिर भी वह उसमें मोहित हो जाता है जिसके फल स्वरूप उसे नाटकीय दुःखों को भोगना पडता है। उन दुःखों से बचने के लिए तथागत, धर्म और संघ की शरण में जाना आवश्यक हो जाता है। शरण में जाने वाला भय और श्रद्धा से नहीं बल्कि तर्क पूर्वक परीक्षा करके जाता है। उसे यह आभास हो जाता है कि चैतसिक विकार दुःख के कारण होते हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद और कारण-कार्यवाद का ज्ञान हो जाने के कारण वह पारमिताओं की प्राप्ति में जुट जाता है। वह यह भी समझ लेता है कि नरक और स्वर्ग

की व्यवस्था कर्मों के फल के आधार पर हुई है। इसलिए वह शाश्वत् आनन्द की खोज में रहता है। तदर्थ वह बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में जाता है। महाकरुणा के अभ्यास में वह चार तत्त्वों पर गंभीरता पूर्वक विचार करता है - १) मानवीय अस्तित्व, २) क्षणभंगुरता, ३) कर्मों में कार्यकारणवाद, और ४) सांसारिकता के प्रति असंतोष । इन तत्त्वों पर चिन्तन के माध्यम से वह प्रज्ञा और उपाय पर विशेष विचार करता है।

उपर्युक्त चार तत्त्व बौद्धधर्म के चार वैचारिक स्तम्भ हैं - १) आत्मवाद किंवा आत्मवाद की गुरुतर भूमिका में पलता-पुसता अनात्मवाद, २) पदार्थ की विनश्वरशीलता, ३) कर्मवाद, और ४) निर्वाण। इन चारों तत्त्वों का केन्द्र बिन्दु था - आचार-परक संहिता का परिपालन। बौद्धधर्म वस्तुतः आचारनिष्ठ धर्म है जिसे विनय कहा जाता है।

वज्रतन्त्र के बीज

प्रारम्भिक बौद्धधर्म के विनय में एक कठोर आचार संहिता का रूप प्रतिबिम्बित होता है। संघीय भिक्षुओं के उत्तरकाल में उन कठोर विनय-नियमों का खुलकर विरोध किया गया, शिथिलता बढी और उन नियमों को अस्वाभाविक कहकर शिथिलता भरी इस स्वाभाविक जीवन पद्धति को स्वीकार किया। 'एवं मया श्रुतम् ' के आधार पर इस स्वाभाविक, सहज और सरल मार्ग का विकास संगीतियों के माध्यम से हुआ और बुद्ध के मूल विशुद्ध मार्ग के विरोध में मन्त्र, तन्त्र और धारिणी का प्रचार-प्रसार हो गया। महायानीय सिद्धान्तों का ही विरोधात्मक विकास हुआ वज्रयान परम्परा में और फलतः निर्वाण की परिभाषा ने नया रूप ग्रहण किया। मिलिन्दप्रश्न ने कर्मों से विनिर्मुक्त अवस्था को निर्वाण कहा तो सौन्दरानन्द ने दीपज्वाला का उदाहरण देकर उसे समझाया। आगे माध्यमिक दर्शन में निर्वाण का अर्थ शून्य किया गया। नागार्जुन ने चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्य को निर्वाण कहा तो योगाचारियों ने उसे विधेयात्मक शून्यावस्था से संपन्न विज्ञान से जोड दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने महासुखवाद की कल्पनाकर उसे वज्रयान की संज्ञा दे दी। ज्ञानसिद्धि, अद्वयवज्रसंग्रह आदि में इसका विवेचन तदनुसार हुआ है। वज्रयान में निर्वाण के तीन तत्त्व हैं - शून्य, विज्ञान और महासुख । इन्हीं की संयुक्तावस्था को वज्र कहा जाता है, जो अभेद्य और अच्छेद्य है। इस संदर्भ में वज्रशेखर का उद्धरण हेवज्र तथा अद्वयवज्रसंग्रह में संग्रहीत है। उसमें कहा गया है कि शून्य ही निरात्मा है, देवी है जिसकी गोद में बोधिचित्त अथवा विज्ञान फूलता-फलता है।

करुणा का विकास भी एक कारण रहा जिसने बौद्धधर्म के मूल रूप को इस बेरहमी से बदल दिया कि उसके आचार-व्यवहार में जमीन-आसमान का अन्तर दिखने लगा। बौद्धधर्म के प्रारंभ में निर्वाण के लिए स्वयं के ही प्रयत्नों से कर्मों को समाप्त किया जाता था पर महायान में स्वयं के निर्वाण की अपेक्षा अन्य प्राणियों के निर्वाण की चिन्ता अधिक होने लगी। उन्हें स्वयं की चिन्ता नहीं रही। करण्डव्यूह में यह स्पष्ट किया गया है कि अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व ने तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं करना चाहा जबतक सभी प्राणी निर्वाण प्राप्त न कर लें। -- या (ता ?) वदवलोकितेश्वरस्य बोधिसत्त्वस्य दृढ-प्रतिज्ञा न परिपूरिता भवन्ति सर्वसत्वाः सर्वदुःखेभ्यः न परिमोक्षिता यावदनुत्तरायाः (यां ?) सम्यक्सम्बोधौ न प्रतिष्ठापिता भवन्ति, P. 21)। वे शून्य में समाहित होने ही वाले थे कि उन्हें यह अनुभव हुआ कि संसार को उनकी मदद की आवश्यकता है तब उन्होंने यह प्रतिज्ञा की। उन्होंने यह भी कहा कि वे विष्णु, शिव, गणेश, नृप, माता-पिता का रूप धारण करेंगे जो उनकी पूजा करेंगे (पृ. २१-२२)। दुनियां के इतिहास में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। यह स्मरणीय है कि बौद्धधर्म केइस विकास से निम्न वर्ग के लोग अधिक संबद्ध थे ।

बौद्धधर्म के इतिहास से यह पता चलता है कि तथागत बुद्ध ने सांसारिक भोगवाद तथा पारम्परिक ब्राह्मणवाद को अस्वीकृत किया। इनमें वज्र-तान्त्रिक परम्परा ने भोगवाद का विस्तार कर पंचमकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा) को पूरी तरह स्वीकार किया और यहां तक कह डाला कि पंच मकारों के सेवन के बिना निर्वाण भी नहीं मिलेगा। बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी यहां समाप्तप्राय हो गया और उनके स्थान पर पंच ध्यानी बुद्धों की कल्पना ने जन्म ले लिया। उनकी स्कन्धात्मक (पंचस्कन्धस्वभावत्वात् पंचस्कन्धाः जिनाः स्मृताः) पांच शक्तियां उनके साथ रहीं। ये बुद्ध अमर हैं। उन्हें बोधिसत्त्व अवस्था को भी पार करने की आवश्यकता नहीं रही। उनके अधीन अनेक बोधिसत्त्व भी आये। हर बोधिसत्त्व के शासन में आठ बुद्धों ने अवतार लिया संसार को बचाने के लिए।

बौद्धधर्म के प्रारंभिक काल में निर्वाण अव्याकृत-सा रहा पर वज्रतान्त्रिक परम्परा में वह शून्य, विज्ञान और महासुख के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। वज्राचार्यों की यह भी अवधारणा थी कि निर्वाण में बोधिचित्त उसी तरह सुखी रहता है जिस तरह एक स्त्री के आलिंगन में बंधा भोगी व्यक्ति महासुख का अनुभव करता है। इस तान्त्रिक परम्परा ने नारी को शक्ति का रूप दिया और उनके मिलन को योग कहा जो निर्वाण-प्राप्ति के लिए एक अपरिहार्य कारण माना गया। योगी करुणा के बहाने गर्हिततम पाप भी करते रहे। वज्रधर ने प्रज्ञापारमिता की साधना भक्तों के लिए आवश्यक

बना दी। वर्ण और जाति का कोई भेद उनकी दृष्टि में नहीं रहा। साधना के क्षेत्र में तो यह समुचित थी पर वामाचार के प्रवेश ने उस साधना को अत्यन्त भ्रष्ट कर दिया । यह प्रवेश उसे बहुत महंगा भी पडा।

महासांघिक संप्रदाय और शिथिलाचार का जन्म

वज्रतन्त्र परम्परा के प्रारम्भिक इतिहास से यह तथ्य छिपा हुआ नहीं है कि उसका मूल सूत्र महासांघिक संप्रदाय से जुडा हुआ है। महासांघिक संप्रदाय का जन्म द्वितीय संगीति के परिणाम स्वरूप हुआ और स्थविरवादी संप्रदाय वात्सीपुत्रीय और संमितीय को पार करता हुआ सर्वास्तिवाद और मूलसर्वास्तिवाद तक पहुंचा। मूल सर्वास्तिवाद में संभवतः सर्वास्तिवादिन्, काश्यपीय, धर्मगुप्तक और महीशासक संमिलित थे। महाप्रज्ञापारमितोपदेश के अन्त में कहा गया है कि बौद्धविनय दो प्रकार का था -- १) मथुरा विनय जिसमें जातक और अवदान संमिलित थे, और २) कश्मीर विनय जिसमें जातक और अवदान को अस्वीकार किया गया था। ये दोनों विनय क्रमशः मूलसर्वास्तिवादी और सर्वास्तिवादी विनय से संबद्ध थे। उत्तरकाल में दोनों संप्रदाय कुछ समीप आये अवश्य पर वे एक न हो सके।

महासांघिक संप्रदाय वैशाली और पाटलिपुत्र में केन्द्रित था जो पूर्वी (प्राचीनक) भिक्षुओं का गढ था तथा स्थविरवादी संप्रदाय कौशाम्बी, मथुरा और अवन्ति में केन्द्रित था जो पश्चिमी भिक्षुओं के केन्द्र थे। महादेव की पांच वस्तुएँ स्थविरवादी भिक्षुओं के विरोध में खडी थीं । इधर देवदत्त स्थविरवाद में समागत शिथिलाचार को उखाड फेंकने के लिए दृढ प्रतिज्ञ दिखाई देते थे। इस पर संघ में काफी विवाद चला। अन्ततः उसी के परिणाम स्वरूप संघभेद हो गया। इसके बावजूद शिथिलाचार स्थविरवाद से भी दूर नहीं हो सका। स्थविरवादी भिक्षुओं ने ही देवदत्त की विशुद्धतावादी विचारधारा का भरपूर विरोध किया और उसे खुलकर भला-बुरा कहा।

उत्तरकाल में आन्ध्र प्रदेश महासांघिक संप्रदाय का केन्द्र बना। इसमें अपरमहादेव का प्रमुख हाथ था। महासंघ विपुल भिक्षुओं का संघ था। उसमें पूर्वशैल, अपरशैल, (चैत्यिक), हैमवत, लोकोत्तरवाद और प्रज्ञप्तिवाद संप्रदाय संमिलित थे। आन्ध्रक में राजगिरिक और सिद्धत्थिक संप्रदाय अन्तर्भूत थे।

दूसरा समुदाय सर्वास्तिवादी था जिसमें मूल सर्वास्तिवाद, काश्यपीय, धर्मगुप्त, ब्रहुश्रुतीय, ताम्रशाटीय और कतिपय विभज्जवादीय एकत्रित थे। एक अन्य समुदाय था जिसमें महीशासक, धर्मगुप्तक, काश्यपिक, सुत्तवादिन् आते थे। चतुर्थ समुदाय में वात्सीपुत्रीय, सम्मितीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक आदि संप्रदाय थे और पालि

परम्परा का पंचम समुदाय स्थविरवाद था जो कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था।

तन्त्रयान का संदर्भ पूर्वीय भिक्षुओं के महासांघिक संप्रदाय से अधिक रहा है जिसमें वैनयिक और सैद्धान्तिक मतभेद उत्पन्न हो गये थे। वैशाली और पाटलिपुत्र इसके विशेष केन्द्र थे। पश्चिमी भिक्षुओं के केन्द्र कोशाम्बी, मथुरा, अवन्ती, कश्मीर और गन्धार थे जहां मूल सवास्तिवादी और सर्वास्तिवादी संप्रदाय का विकास हुआ। महासंघ की दस वस्तुओं में तन्त्रपरम्परा दृष्टव्य है। इसे ही लोकोत्तरवाद भी कहा गया है। इसी के फलस्वरूप नीतार्थ और नेयार्थ के रूप में दो सत्यों का प्रतिपादन किया गया। वैतुल्यक संप्रदाय इस सिद्धान्त का अग्रणी था। महासंघ में त्रिपिटक के अतिरिक्त संयुक्तपिटक और धारिणीपटक भी रहे हैं। इनका विकास गान्धार, कश्मीर और आन्ध्र के श्रीपर्वत प्रदेश में अधिक हुआ है। यही सब वज्रतन्त्र परम्परा के बीज थे।

वज्रतन्त्र परम्परा का उदय

बौद्धतान्त्रिक सिद्धान्त की उत्पत्ति साधारणतः ७-८ वीं शती में मानी जाती है। परन्तु कुछ विद्वान इसकी परम्परा को काफी पीछे ले जाते हैं। वे शाक्यमुनि के पूर्व भी उसके अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। सुवर्णप्रभाससूत्र में देवयोगमण्डल आदि कुछ ऐसे स्थल हैं जिनमें तन्त्र क्रिया पद्धति की शिक्षा दी गई है और हारीतिकी चण्डिका आदि अनेक देवियों का उल्लेख है। इसका अनुवाद ४१५-४२६ ई. के मध्य चीनी भाषा में आर्यरक्ष द्वारा किया गया। महावैरोचनसूत्र के 'जिनपंचमण्डल' में भी कुछ इस प्रकार की तान्त्रिक पद्धति का विवेचन हुआ है। इसके प्रचार की संभावना पूर्व एशिया में तो नहीं दिखती पर गान्धार प्रदेश में अधिक संभव लगता है।

पुण्योदय नामक भारतीय पण्डित ६५५ ई. में चीन गया और उसने वहां तान्त्रिक परम्परा को स्थापित करने का प्रयत्न किया। पर विज्ञानवादी ह्यूनशांग ने उसे यह नहीं करने दिया। चीनी यात्रियों के संपर्क में यह परम्परा शायद अधिक नहीं आई। इसे तो इत्सिग ने ७५२ ई. में नालन्दा में सीखा और उसे फिर चीन में प्रारंभ किया। अमोघपाशधारणासूत्र में महावैरोचनसूत्र का उल्लेख मिलता है। सुवर्णप्रभाससूत्र (चीनी अनुवाद - ४१४-४२१ ई.) के द्वितीय अध्याय में यह कहा गया है कि बोधिसत्त्व महासत्त्व श्रद्धाकेतु शाक्यमुनि का ध्यान करने पर चारों दिशाओं में अक्षोभ्य, रत्नकेतु आदि बुद्ध प्रकाशित हो गये। इससे यह पता चलता है कि महावैरोचनमण्डल उससे लगभग दो शताब्दी पूर्व का होना चाहिए। अहिच्छत्र में कुषाणकालीन (१५० ई.)

बुद्धमूर्ति मिलती है जिसमें महावैरोचन सूत्र में व्यक्त प्रतिमा के चिन्ह दिखाई देते हैं। पद्मपाणि और वज्रपाणि की आकृतियां भी यत्र-तत्र दिखाई देती हैं।

महायान बौद्धधर्म का अभिलेखीय उदाहरण लगभग ५-६ वीं शती से मिलता है। बंगाल का गुनईघर (506 A. D.) और उडीसा का जयरामपुर अभिलेख इसके उदाहरण हैं! अमिताभ का उल्लेख सांची के अभिलेख (७ वीं सदी) में हुआ है। मथुरा में ५ वीं सदी में अवलोकितेश्वर का प्रचार था और गोविन्दनगर (मथुरा) में प्राप्त अभिलेख से पता चलता है कि महायान मथुरा में प्रथम शताब्दी में अस्तित्व में रहा है- हुविश्क काल (78 A. D.) में। ऐसे और भी अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जिन्हें वज्रतन्त्र परम्परा के साथ जोडा जा सकता है।

वज्रतन्त्र परम्परा का विकास

तान्त्रिक परम्परा ने महायानी सिद्धान्तों को ही आगे बढाया है। शैव-शाक्त परम्परा का भी उस पर काफी प्रभाव पडा है। यह भी कहा जा सकता है कि जैसे वेदान्त माध्यमिकों पर आधारित रहा है वैसे ही बौद्धेतर तन्त्र बौद्धों पर आधारित रहे हैं। यदि आधारित न भी रहे हों तो वे परस्पर प्रभावित अवश्य रहे हैं। इसलिए यह कहना उचित नहीं होगा कि बौद्धतन्त्र का अपना कुछ भी नहीं है। हां, उसकी आचारसंहिता ने उसे पथभ्रष्ट अवश्य कर दिया। बौद्ध तान्त्रिक योगियों ने योगिनियों का उपयोग अपनी गुह्य साधना में निर्द्वन्द्व होकर इतना अधिक किया कि बौद्ध सिद्धान्तों का मूल रूप अदृश्य-सा हो गया। अभिचार और पंचमकार के निःसंकोच प्रयोग ने उसे अपने मूल विशुद्ध मार्ग से विचलित कर दिया और उसे साधारण समाज में लोकप्रिय बना दिया। आकाशगामिनी आदि अनेक विद्यासिद्धि के प्रलोभन भी उसके पतन को रोक नहीं सके।

पाश्चात्य देशों में तन्त्र शब्द का प्रयोग सन् १७९९ में प्रारम्भ हुआ एक विशेष साहित्यिक प्रकार के रूप में। उसने तब भारतीय दर्शन के स्वरूप को विकृत स्वरूप में प्रगट किया। पाश्चात्य साहित्य में यह विद्या नहीं थी इसलिए इसके सही स्वरूप को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। पर धीरे-धीरे उसके वास्तविक तथ्य को स्वीकार किया जाने लगा। प्रारम्भ में यह माना जाता था कि यह साहित्य शिथिलाचार की पृष्ठभूमि में शक्ति और कामुकता की प्राप्ति की ओर साधक को बढाता है। पर अब यह मान्यता बदलती दिखाई देती है पाश्चात्य मानस में।

तन्त्र का प्रयोग वैदिक और बौद्ध साधना में अधिक हुआ है पर कुछ अन्तर के साथ। सांख्यदर्शन के प्रभाव से वैदिक तन्त्र में आत्मवाद की मानसिकता के साथ मानव और देव के बीच एक गहरा अन्तर दिखाई देता है। पर बौद्धतन्त्र व्यक्ति की

परिज्ञानशीलता के विकास का लक्ष्य लिये हुए अपना दर्शन प्रस्तुत करता है जिससे वह कामुकता और आध्यात्मिकता के बीच समन्वय स्थापित कर सके। वैदिक 'शक्ति' बल और अहंकार की वृद्धि करती है पर बौद्धतन्त्र में यह तत्त्व दिखाई नहीं देता। यहां प्रज्ञा और उपाय के माध्यम से इन्द्रिय-संयम का अनुशासन मिलता है। समूचे बौद्ध साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि बौद्धतन्त्र का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति प्राप्त करना रहा है इसलिए आत्मिक दर्शन का प्राधान्य वहां नहीं रहा। गूढ योग, मन्त्र, स्तुति, अनुष्ठान, चिकित्सा, जादू आदि जैसे सर्वमान्य तान्त्रिक तत्त्वों का उपयोग भी यहां हुआ है।

बौद्धतन्त्र वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान में विभाजित है। तन्त्रयान, वज्रतन्त्र, भद्रयान, मन्त्रयान जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वज्राचार्य और सिद्धों ने मन्त्र-तन्त्र शास्त्रों की रचना की है। असंग को बौद्धतन्त्र का जन्मदाता माना जाता है।

मन्त्र वज्रयान की रीढ है। वे अनेक प्रकार के हैं -- बीज, हृदय, उपहृदय, पूजा, अर्घ, पुष्प, दीप, धूप, नैवेद्य, नेत्र, शिखा, अस्त्र, रक्षा आदि। ये मन्त्र सार्थक नहीं होते। उनका अर्थ करना कठिन होता है। वज्रयानाचार्यों ने उनका उद्भव बुद्ध से माना है। ह्यूनसांग के अनुसार विद्याधर पिटक में उनका वर्णन है। बाद में धारणियों का भी उपयोग होने लगा निम्न वर्ग के लिए जो निर्वाण की ओर ध्यान नहीं देते। धारणी को सूत्रों का संक्षिप्तीकरण कहा जा सकता है। उन्हें याद करने के लिए जब और संक्षिप्त किया गया तो उन्होंने मन्त्र का रूप ले लिया। मन्त्र से ही बाद में तन्त्र परम्परा का अविर्भाव हुआ।

तन्त्र शब्द तन् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसके दो अर्थ हैं - विस्तार और ज्ञान। प्रथम अर्थ लेने पर उसका तात्पर्य होगा - तन्त्र वह विद्या है जो ज्ञान का विस्तार करती है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्) सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि से। इसलिए सांख्यतन्त्र, न्यायतन्त्र जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है । सीमित अर्थ ग्रहण करने पर उसका विशेष सन्दर्भ आध्यात्मिक और व्यावहारिक रहस्य साधना से जुडा हुआ है। दर्शन यहां गौण हो गया है। बौद्ध तान्त्रिक प्रवृत्तियां बहुमुखी रही हैं - मन्त्रजप, आसन, देवपूजा, देवी उपासना, ध्यान, मैथुनादि पंचमकारों से युक्त योग साधना आदि। ये तत्त्व महायानिक साधना से विकसित हुए हैं जिस पर वैदिक धर्म का प्रभाव पडा है। ये दोनों साधनायें शरीर को अधिक महत्त्व देती हैं और उसीके माध्यम से सत्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न करती हैं। यह साधना गुप्त रहा करती है। प्रसन्न होने पर गुरु अपने शिष्य को सौंप दिया करता है। वह जन साधारण के पहुंच के बाहर रहा करती है। यह एक विडंबना है।

वस्तुतः तन्त्र-मन्त्र का उद्देश्य पूर्णतः अर्थसिद्ध सुख प्राप्ति रहा है। साधनमाला में ३१२ सिद्धियों का नाम है, पर वैदिक साहित्य में साधारणतः ८ सिद्धियों के उल्लेख हैं - अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वृशित्व, कामावसायित्व (पातंजलि योगशास्त्र, ३-४५) । ब्रह्मवैवर्तपुराण में ३४ सिद्धियां हैं - दूरश्रवण, परकायप्रवेशन, मनोयायित्व, सर्वज्ञत्व, बहिस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवितत्व, वायुस्तम्भ, क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भ, कायव्यूहप्रवेश, वाक् सिद्धि, मृतानयन, प्राणाकर्षण, प्राणदान, इन्द्रियस्तम्भ, बुद्धिस्तम्भ आदि। जैन परम्परा में भी सिद्धियों का गहरा वर्णन है।

हर संप्रदाय में सिद्धपुरुष हुए हैं। बौद्ध ८४ सिद्ध मानते हैं। सिद्धि ५ प्रकार की होती है - जन्मज, औषधिज, मन्त्रज, तपोज और समाधिज। रोग, सर्पदंस आदि से मुक्ति पाने के लिए, बिना अभ्यास के आगम ज्ञान प्राप्ति के लिए, सर्वज्ञत्व प्राप्ति हेतु, प्रतिपक्षी को पराजित करने हेतु, धर्मान्तरण हेतु, भविष्य में सुखप्राप्ति हेतु, अर्थप्राप्ति हेतु आदि के निमित्त सिद्धियां की जाती रही हैं। साधनमाला में ८ सिद्धियां निर्दिष्ट हैं - खड्ग, अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रसरसायन, खेचर, भूचर और पाताल (पृ. ३५०)। षट्कर्मों का उल्लेख है - शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण। इन सिद्धियों से अन्तः शक्ति की अभिव्यक्ति होती है।

अन्तर्निहित सत्य को उद्घाटित करने में देह को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। सरहपा ने तो उसे तीर्थ कहा है। दूसरी बात है, यहां अद्वैत में द्वैत की स्थापना होती है। अद्वैत में न्विृत्ति और प्रवृत्ति ये दो तत्त्व रहते हैं। वैदिक साधना में ये शिव और शक्ति के रूप में रहते हैं तथा बौद्ध साधना में प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा के रूप में। पुरुष और स्त्री के संयुक्त होने पर ही अद्वैत स्थिति आती है। वैदिक और बौद्ध दोनों साधनाओं में मूल रूप यही है।

बौद्धतन्त्रयान महायानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। महायान के सभी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का आकलन इसमें है। महायान का सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्राणी में सम्यक् सम्बुद्ध बनने की शक्ति रहती है। फलतः हीनयान की अर्हदावस्था ने यहां बोधिसत्त्वावस्था का स्थान ले लिया। महाकरुणा के आधार पर बोधिसत्त्व तबतक स्वयं निर्वाण प्राप्त नहीं करता जबतक संसार का हर प्राणी सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त न कर ले। तदर्थ करण्ड व्यूह में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व का उदाहरण दिया गया है। शान्तिदेव ने भी बोधिचर्यावतार में महाकरुणा का सुन्दर वर्णन किया है।

बौद्धधर्म में तीन प्रकार के साधकों का उल्लेख मिलता है - i) श्रावक जो चार आर्यसत्यों और दस पारमिताओं का पालन करता है और स्वयं के निर्वाण की ही चिन्ता करता है, ii) प्रत्येक बुद्ध बिना किसी दूसरे का निदर्शन पाये स्वयं के ही निर्वाण की साधना करता है हेतु-प्रत्यय का तत्त्वज्ञान समझकर, और iii) बोधिसत्त्व जो बोधि प्राप्तकर दूसरों के कल्याण के लिए आत्मसमर्पण करते हैं, महाकरुणावान् होकर दस भूमि प्राप्तकर बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में बोधिचित्त (बोधिचित्तं परार्थाय सम्यक् संबोधिका मता) तथा बोधिचित्तोत्पाद होता है। शांतिदेव ने इस पर बोधिचर्यावतार में काफी गहराई से विवेचन किया है। तन्त्रयान में इसका सम्बन्ध महाकरुणा और शून्यता से हो गया। उसमें साधक दस भूमियों की साधना करता है - प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। बाद में बोधिसत्त्व महासुख प्राप्तकर बुद्धत्व प्राप्त करता है।

प्रारंभिक बौद्धधर्म में बुद्ध के रूपकाय और धर्मकाय का वर्णन किया जाता था। तन्त्रयान तक आते-आते उनका ऐतिहासिक व्यक्तितत्व समाप्त हो गया और धर्मकाय, संभोगकाय तथा निर्माणकाय का चिंतन आया। धर्मकाय तथता और स्वभावकाय है, शाश्वत् और सीमातीत है, निर्मल और व्यापक तत्त्व है। संभोगकाय अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है जो सद्धर्म का उपदेश देने पर लोकधातु में किरणों के रूप में प्रकाशित हो जाता है। उन किरणों पर कमल और कमल पर तथागत विग्रह बैठकर बोधिसत्त्व गृहस्थों और प्रव्रजितों को उपदेश देते हैं। निर्माणकाय अवतारवाद की कल्पना समाहित किये हुए है। इस त्रिकाय सिद्धान्त का विकास तन्त्रयान की ओर भी हुआ। वहां लोकविद्या और तत्त्व विद्या के क्षेत्र में उसका महत्त्व बढा। निर्वाण को समाधिकाय कहा गया। धर्मकाय विज्ञप्तिमात्रता रूप है, संभोगकाय आनन्दरूप है और निर्माणकाय जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करने वाला आत्मा रूप है। धर्मकाय का विकास आचार के क्षेत्र में अधिक हुआ और तान्त्रिक साधकों ने शरीर के साथ उसका उपयोग किया।

महायान और तान्त्रिक बौद्धधर्म

तान्त्रिक बौद्धधर्म महायान की ही विकसित रेखा है। यह शून्यवाद की अपेक्षा योगाचार से अधिक सम्बद्ध है। शून्यवाद ने प्रत्येक सिद्धान्त को सांवृतिक सत्य से तो स्वीकार किया पर पारमार्थिक सत्य से उसे नकार दिया। प्रतीत्यसमुत्पाद जिसे भगवान बुद्ध ने स्वयं स्प्रष्ट किया था बोधिकाल में उसे भी नागार्जुन (१०० ई.) ने शून्यवाद के घेरे में डाल दिया। उन्होंने उत्पत्ति, विनाश, परभाव, स्वभाव, हेतु-प्रत्यय आदि सभी तत्त्वों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। निर्वाण को भी उन्होंने अनुत्पन्न, अप्रवीण,

अशाश्वत्, अनिरुद्ध आदि विशेषण दे दिये। विज्ञानवाद इन तत्त्वों के अस्तित्व को ज्ञान रूप (चित्तमात्र व्यवस्थानम्) मानता है।

इस संदर्भ में अश्वघोष का भूततथतावाद समझ लेना आवश्यक है। 'भूततथता' सभी पदार्थों को धर्मधातु के रूप में स्वीकारता है, वह आदि-अन्त विरहित है, अवक्तव्य है, शाश्वत् है पर संसार मात्र चित्त की स्थापना है, स्मृति के माध्यम से आलय विज्ञान में स्थित है। वस्तु की तथता हम दो प्रकार से समझ सकते हैं निषेधात्मक और विधेयात्मक रूप में। शून्यता निषेधात्मक है और अशून्यता विधेयात्मक है। प्रथम परमार्थसत्य है और द्वितीय संवृतिसत्य है।

विज्ञानवाद अथवा योगाचार में पदार्थ के विधेयात्मक तत्त्व को अधिक प्रस्फुटित किया गया है। मैत्रेयकृत माध्यन्तविभंग पर वसुबन्धु और स्थिरमति ने व्याख्यायें लिखी हैं। उनका 'अभूतपरिकल्प' [१] सर्वास्तिवाद और माध्यमिक के अतिवाद के बीच का मार्ग है।[२] माध्यमिकों ने सभी पदार्थों को निःस्वभाव माना है। वे यहां कहते हैं कि सभी निःस्वभाव के रूप में शून्य नहीं हैं बल्कि शून्य इसलिए हैं कि वे अभूत परिकल्प हैं, उनमें द्वैतभाव नहीं है, ग्राह्यग्राहकभावरहितता भले ही हो पर पूर्णतः नास्तित्व नहीं है। सर्वास्तिवादियों की पदार्थ की व्याख्या में यहां उसे भावमात्र माना है। मन के बाहर पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है। विज्ञान मात्र उसका अर्थाभास देता है जैसे वासना का फल विपाक होता है। शून्यता को अभूतपरिकल्प में भी माना है पर अन्तर यह है कि यह शून्यता अन्तर व्यापार-पुरुष रहितता (आत्मविरहितता) में है। पदार्थ का अस्तित्व विज्ञान मात्र में है। अभूत परिकल्प का अर्थ है - पदार्थ का वही रूप नहीं है जो हमारे विज्ञान में है। पदार्थ शून्य है अनध्यारोप और अनपवाद अर्थ में। रूप और आयतन विज्ञप्ति में प्रकाशित होते हैं। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के दूर होने पर सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। धर्म के यहां तीन स्वरूप बताये गये हैं - परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न । उसका वास्तविक स्वरूप है तथता।

शून्यवाद और विज्ञानवाद ने वेदान्त के लिए भूमिका तैयार कर दी। नागार्जुन का काम खण्डन करना अधिक रहा है। विज्ञानवाद का विधेयात्मक तत्त्व शंकर को

---

१. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।। माध्यमिक वृत्ति

२. अभूतपरिकल्पो ऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते।। माध्यंतविभंगटीका।

साथ लेकर शून्यवाद की आलोचना करता रहा है। अश्वघोष ने भी तथता को नित्य माना है। योगाचार का अभूतपरिकल्प अथवा विशुद्ध चित्त (विज्ञप्तिमात्रता) वेदान्त के 'निर्गुण' सिद्धान्त के समीप तक पहुंचा देता है। गौडपाद का भी झुकाव माण्डूक्योपनिषद् के तत्त्व की ओर दिखाई देता है। शंकर ने उसी को ब्रह्मसूत्र में विकसित किया है। उन्होंने बौद्धधर्म का बडे जोर-तोर से खण्डन किया है, यद्यपि वे भी संसार को मायावत् मानते हैं। योगवासिष्ठ में उसे 'चिद्विवर्त' कहा गया है अविद्या के कारण।

महायान का एकेश्वरवाद अथवा ब्रह्मवाद की ओर झुकाव बढता गया और अंत में तंत्रयान में आद्य ईश्वर जैसा रूप बुद्ध में स्थापित हो गया। देवी-देवताओं की भी स्थापना हो गई। महायानी सिद्धान्तों का भी पर्याप्त विकास हो गया। और उनका योगसाधना में उपयोग किया गया। यह तथ्य तंत्रयान के प्रमुख ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित होता है। धर्मकाय और बोधिचित्त के स्वरूप विकास ने बौद्धधर्म को वैदिकधर्म के समीप खींच लिया। प्रारम्भ से ही यद्यपि बौद्धधर्म ईश्वरवाद के विपरीत रहा है पर वज्रतन्त्र परम्परा तक आते-आते यह विपरीत वृत्ति कम होती गई और बुद्ध एक ईश्वर की प्रतिमूर्तिवत् उपस्थित हो गये। तिब्बती बौद्ध तन्त्र परम्परावादी ग्रन्थों में यह तन्त्र अधिक प्रतिबिम्बित हुआ है।

पण्डित अद्वयवज्र की तत्त्वरत्नावली में योगाचार की दो शाखाओं का उल्लेख है - साकारवादी और निराकारवादी। माध्यमिक संप्रदाय की भी दो शाखायें हैं - मायोपमाद्वयवाद तथा सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद। ये शाखायें वैभाषिकों के श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान से संबद्ध हैं। सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिकों को महायान के अन्तर्गत माना जाता है। माध्यमिकों के दो भेद हैं - i) पारमितानय (सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक), और ii) मन्त्रयान । इनमें सर्वत्र शून्यवाद को स्वीकारा गया है। और अस्तित्ववाद का खण्डन किया गया है। उच्छेदवाद भी यहां खण्डित हुआ है। साथ ही यह भी कहा गया है कि अभाव-कल्पना की अपेक्षा भावकल्पना अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसके बिना निर्वाण-कल्पना भी नहीं हो सकती है। सत्य का अनुभव होने पर शून्यता, अशून्यता, संसार, निर्वाण आदि सभी तत्त्व चित्त की कल्पना मात्र हैं। उन्हें वास्तविक नहीं माना जा सकता है।

गुह्यसमाजतन्त्र, साधनमाला आदि ग्रन्थों में भी देवी-देवताओं की पूजा के सन्दर्भ में मन्त्रों आदि का उल्लेख मिलता है। वज्रतारासाधनम् में कहा गया है कि सही साधक को चित्त के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। नागार्जुन के पंचकर्म में शून्यता सिद्धान्त के चार सोपान हैं - शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य। प्रथम शून्य अवस्था में

प्रज्ञा, ज्ञान, आलोक रहता है और मन परतन्त्र होकर घूमता रहता है - वेदना, संस्कार, कारुण्य, मात्सर्य आदि दोषों में। इस अवस्था को 'स्त्री संज्ञा' दी गई है। अतिशून्य अवस्था को उपाय, अलोकाभास, परिकल्पित कहा गया है जहां चैतसिक अवस्थाएं विद्यमान रहती हैं। महाशून्य को अलोकोपलब्धि माना है, स्वाधिष्ठानचित्त कहा है। फिर भी वहां अविद्या है, विस्मृति, भ्रान्ति प्रकृतिदोष हैं आदि। सर्वशून्य में ये सभी अशुद्धावस्थायें समाप्त हो जाती हैं और बुद्धत्व प्राप्त्र हो जाता है।

महायान तथा तन्त्रयान में **करुणा** को अधिक महत्त्व दिया गया है। ज्ञानसिद्धि होनेपर बुद्ध निर्वाण को भी स्वीकार नहीं करते। वे सारे संसार के निर्वाण की प्रतीक्षा करते हैं। साधनमाला, चतुःशतक, बोधिचर्यावतार आदि में चित्तविशुद्धि का वर्णन मिलता है। गुह्यसाधना में करुणा का रूप वाराही जैसी देवियों में भी देखा जाता है (प्रज्ञोपायसमापन्ना करुणारागसम्मुखा)। आर्यमंजुश्रीमूलकल्पतन्त्र, प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि आदि ग्रन्थों में अनुष्ठान, मंत्र आदि में करुणा को ही प्रमुखता दी गई है। संसारकल्याण के लिए साधक अपने शरीर को भी कष्ट देते हैं। सरहपाद आदि सिद्धाचार्यों ने भी करुणा के गीत गाये हैं।

बौद्धधर्म के उत्तरकालीन रूप में करुणा ने ही महाकरुणा का रूप ले लिया और वही महाकरुणा धर्म बन गई, शाश्वत् सुख का कारण मानी जाने लगी। धर्म का चिन्तन करते समय ईश्वर भी चिंतन का एक विषय बन जाता है। एकदेवतावाद और सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त ईश्वरवाद पर आधारित है। बौद्धधर्म में यह नहीं है। वहां संसार का अस्तित्व मात्र मानसिक भ्रान्ति है। देव यहां छः प्रकारके भवों में एक है। साधारणतः उन्हें मानव से सुखी माना गया है फिर भी वे मानव से अच्छी स्थिति में नहीं रहते। जैन परम्परा भी यही मानती है। उच्च आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त करने के लिए पारमिताओं की प्राप्ति की जाती है। तन्त्रयान में गुह्यसमाजतन्त्र को पितृतन्त्र और चक्रसंवरतन्त्र को मातृतन्त्र माना जाता है। पितृतन्त्र में पुरुषप्रधान रहता है और मातृतन्त्र में नारी को प्रमुखता दी गई है। फिर भी दोनों की एकात्मकता से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसलिए दोनों देवी-देवता आलिंगनबद्ध रहते हैं। कलात्मक अनुकृति में देवी सवस्त्र रहती है पर जब वह प्रधान रहती है तो वह निर्वस्त्र रहती है। ये देवी-देवता व्यक्ति-साधक को मानसिक आनन्द प्रदान करते हैं।

मानसिक आनन्द व्यक्ति की मनोभूमिका पर आधारित है। पदार्थज्ञान उसकी भावभूमि को बदल देता है। पदार्थज्ञान के आधार पर ही बौद्धधर्म के संप्रदाय खड़े हुए हैं। ये सम्प्रदाय प्रमुखतः चार हैं - वैभाषिक (शुद्धयथार्थवाद), सौत्रान्तिक (आलोचनात्मक

यथार्थवाद), विज्ञानवाद (आदर्श यथार्थवाद) और माध्यमिक (शून्यवाद)। माध्यमिक के फिर दो सम्प्रदाय बने - स्वातंत्रिक और प्रासंगिक। माध्यमिक सम्प्रदाय से तिब्बत में चार सम्प्रदायों का जन्म हुआ – 1) BKa-brgyud-pas और 2) dGe-Lugs-pas जिन्हें प्रासंगिक का आधार मिला, 3) Sa-Skya-pas जिसने स्वातन्त्रिक को अपनाया, 4) rNying-ma-pas ने विज्ञानवाद और माध्यमिक को समन्वित करने का प्रयत्न किया। प्रासंगिकमत की दृष्टि में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार संवृतिसत्य है परन्तु सापेक्षता के कारण वह स्वभावशून्य है। इसके विरोध में भावविवेक ने स्वातन्त्रिक शाखा की स्थापना की जिसने परमार्थ पर विशेष ध्यान दिया। यहीं से तन्त्रयान के बीज विकसित हुए।

पालि साहित्य, महावस्तु तथा अभिधर्म में संवर्त-विवर्त का उल्लेख है जिसका सम्बन्ध संसार की उत्पत्ति से है। कामधातु की उत्पत्ति से है। कामधातु की उत्पत्ति और फिर व्यक्तिगत संपत्ति, राजा, आभास्वर, ईश्वर, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्तों का जन्म हुआ। त्रिकाय सिद्धान्त में धर्मकाय मृत्यु और चित्तशुद्धि पर, संभोगकाय अन्तरस्थिति की शुद्धि पर तथा निर्माणकाय जन्मशुद्धि पर विचार करता है। अनुत्तर योगतन्त्र में उत्पत्तिकर्म और संपन्नकर्म पर विचार हुआ है।

तान्त्रिक बौद्धधर्म के बीज प्रारम्भिक बौद्धधर्म में खोजने का प्रयत्न किया गया है। उनका ही विकास उत्तरकाल में हुआ है। तत्त्वरत्नावली में भी महायान के दो विभाग हैं - पारमितानय और मन्त्रनय। मन्त्रनय साधारण व्यक्ति के समझ के बाहर है। मन्त्रनय, मन्त्रशास्त्र अथवा मन्त्रयान तान्त्रिक बौद्धधर्म को समाहित किये हुए है। उसकी शाखायें कालान्तर में वज्रयान, कालचक्रयान, सहजयान आदि रूप में विकसित हुईं। विमलप्रभा (लघुकालचक्रतन्त्रराजटीका) में पारमितानय के सिद्धान्तों को संस्कृत में तथा मन्त्रनय के सिद्धान्तों को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में स्पष्ट किया है [1]।

कहा जाता है, योगाचार के संस्थापक असंग ने मन्त्रनय को बौद्धधर्म में समाहित किया। उसे असंग को मैत्रेय ने तुषित स्वर्ग में दिया। **असंग** के महायानसूत्रालंकार में कहा गया है कि तान्त्रिक बौद्धधर्म में मैथुन प्रवृत्ति के माध्यम से महासुख प्राप्त किया जा सकता है [2]। एक अन्य परम्परा है कि माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक नागार्जुन ने उस वैरोचन बुद्ध और बोधिसत्त्व वज्रसत्त्व से प्राप्त किया दक्षिण भारत के

---

1. संस्कृत भाषया पारमितानयम्। मन्त्रनयं तन्त्रतन्त्रान्तरं संस्कृतभाषया प्राकृतभाषया अपभ्रंशभाषया असंस्कृत शवरादिम्लेच्छभाषया - लघुकालचक्रतन्त्रराजटीका (MS. RASB. 4727), P. 30 (A)

   डॉ. दासगुप्त द्वारा उद्धृत An Introduction to Buddhist Esoterism में ।

2. P.C. Bagchi - Studies in the Tantras.

धान्यकटकपर्वत पर। तिब्बती परम्परा कहती है कि नागार्जुन (तान्त्रिक) को सिद्धाचार्य सरहपाद ने मन्त्रनय में दीक्षित किया था। नागार्जुन ने महामंजुरि, कुरुकुल्ले आदि मन्त्रों की सिद्धिकर वज्रकायसिद्धि को प्राप्त किया। यहां लगता है, दार्शनिक नागार्जुन और तान्त्रिक नागार्जुन में भ्रान्ति हो रही है।

वैदिक परम्परा में प्रारम्भ से ही मन्त्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पालि परम्परा में भी **'परित्तों'** को उतना ही महत्त्व दिया गया है। उनको 'सच्चवचन' कहकर उन्हें संकटमोचक माना गया है। बोधिमण्डल तथा मुद्रा का भी प्रयोग यहां हुआ है। इस तरह मन्त्र, मुद्रा और मण्डल के माध्यम से भक्ति और ध्यान प्राप्त किया जाता है। इसी तत्त्व ने महायान में धारिणी का विकास किया। साधारण व्यक्ति बौद्धधर्म की गूढता को नहीं समझ सकता। इसलिए सूत्र और धारणी (धारयते अनया इति) का प्रचलन हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के अन्यतम भाग प्रज्ञापारमिताधारणी के अनुसार 'प्र' बीजमन्त्र से शून्यता और प्रज्ञापारमिता की साधना की जा सकती है [3]। इन बीजमन्त्रों में देव-देवी का आवास है। यथा - अ (वैरोचन), य (अक्षोभ्य), र (रत्नसंभव), ब (अमिताभ) और ल (अमोघसिद्धि)। 'हुँ' वज्रसत्त्व का बीज है। 'अ' शून्यता अथवा प्रज्ञा का प्रतिनिधि है। हेवज्रतन्त्र में ऐसे अनेक मन्त्रों का उल्लेख है।

वैदिकतन्त्र में **बीजमन्त्रों** का अच्छा स्थान है। बौद्धतन्त्र में भी बीज शून्यता-ज्ञान से आगे बढता है और बीज से देवी-देवताओं का बिम्ब प्रतिबिम्बित होता है [4]। इसी तरह आरण्यक उपनिषद् में 'ओम् ' वर्ण पर ब्रह्मा और योग में 'प्रणव' वर्ण पर ईश्वर का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। और 'अर्हम् ' में अ (धर्म), र (बुद्ध), हं (संघ) वर्ण बीजाक्षर हैं, हेवजतन्त्र में **श्री हेरुक** को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया - श्री (अद्वैतज्ञान), हे (अप्रतीत्यता- हेतुशून्यता), रु (प्रगतव्यूह), क (कहीं भी स्थित नहीं) [5]। इसी तरह श्रीचक्रसंभारतन्त्र में **'हुँ'** बीजाक्षर का अर्थ किया गया है - उ (ज्ञान जो कामपूरक होता है), ह् (ज्ञान जो पदार्थ को पृथक् करता है), अक्षर का ऊपरी भाग (ज्ञान जो साम्य उपस्थित करता है) और चन्द्रबिन्दु (प्रतिबिम्ब जैसा ज्ञान)। तन्त्र साहित्य में मन्त्रों की इस प्रकार की व्याख्या बहुत मिलती है।

मन्त्रों और धारणियों के शब्द व्युत्पत्ति विहीन होते हैं। वसुबन्धु ने बोधिसत्त्वभूमि में कहा है - कि ये मन्त्र अर्थहीन होते हैं। साधक उनका ध्यानकर 'धर्म" की आराधना करता है, शून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है। ये मन्त्र-वर्ण शरीर-शुद्धि के

---

3. Introduction to Buddhist Esotericism, by B. Bhattacharya, P. 50.
4. शून्यता-बोधितो बीजं बीजाद् बिम्बं प्रजायते - अद्वयवज्रसंग्रह, पृ. ५०.
5. श्रीकारं अद्वयं ज्ञानं, हेकारं हेतुशून्यता । रूकारा प्रगतं व्यूहं, ककरो न क्वचिदस्थितम्।। P.19(A)

लिए भी प्रयुक्त होते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न चक्रों पर उनकी स्थापना की जाती है।आलि, काली आदि शब्द भी मन्त्रों में अधिक प्रचलित हैं। शब्दों की अनादिता शक्ति की उत्पादिका होती है इसलिए उन्हें 'मातृका' भी कहा जाता है। मुंह से जो निकले उसे नाद या मन्त्र की संज्ञा दी गई है[6]। व्यक्तभावनागत तत्त्वसिद्धि में कहा है- बोधिचित्त से सहजतावश ओष्ठ जैसे भी चलते हैं, वे मुद्रायें कहलाती हैं, और उनसे जो भी शब्द निकलते हैं उन्हें मन्त्र कहा जाता है - स्वभावशुद्ध बोधिचित्तात् ये खलु सहज-विनिर्मितांगविक्षेपास्ते सर्वे एव मुद्राकाराः। ये ऽ पि रागविक्षेंपास्ते ऽ पि मन्त्र-प्रकाराः।

योगसाधना में मुद्राओं का भी महत्त्व है। मन्त्र और मुद्रा में स्पर्श शक्ति होती है। मन्त्र और मुद्रा से मण्डल बनाया जाता है। ये हाथ और अंगुलियों की इन मुद्राओं में वज्र और पद्म, घण्टा, कृपाण, शंख, पुष्प, माला, वाद्य आदि की स्थापना होती है। इनसे सांसारिक दुःखों की मुक्ति की कल्पना की जाती है। इन सभी तत्त्वों से तान्त्रिक बौद्धधर्म का विकास हुआ है - जिसे **वज्रतन्त्र** कहा जाता है।

तान्त्रिक बौद्धधर्म में धीरे-धीरे अभिचार और पञ्चमकार किंवा पंचकाम गुणों का प्रयोग होने लगा। प्रज्ञोपाय साधक उनका प्रयोग बोधिचित्त की प्राप्ति के लिए करने लगा। इसे ही समवेत रूप में **'वज्रयान'** की संज्ञा दी गई। कहीं-कहीं मन्त्रयान भी उसे कहा गया - मन्त्रमहायाने त्वनुवक्ष्यते, हे वज्रपंजिका; मन्त्रयानानुसारेण तदिदं वक्ष्यते ऽधुना- (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ. ५४)। सहजयान का भी विकास इसी से हुआ है। वज्रयान के चार संप्रदायों का उल्लेख प्रायः मिलता है - क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तर तन्त्र। प्रथम दो संप्रदाय क्रियाकाण्ड से संबद्ध हैं और शेष दो योगसाधना पर आधारित हैं। पर इन संप्रदायों की अपेक्षा तीन संप्रदाय अधिक प्रचलित हैं - वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान।

कालचक्रयान की उत्पत्ति लगभग दसवीं शताब्दी में हुई। उसमें भैरवाकार के बुद्धों में कालचक्र, हेरुक, अचल, वज्रभैरव अधिक प्रसिद्ध हैं। कालचक्रयान का सम्बन्ध ऐसे यान से है जो विनाशचक्र से बचा सके। मंजुश्रीकृत कालचक्रतन्त्र और सुचन्द्रकृत उसकी विमलप्रभा नामक टीका तथा नारोपा की सेकोद्देशटीका इसके प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में सहजावस्था को प्राप्त करने के लिए मैथुनयोग साधना को विहित माना गया है। शून्यता और करुणा को इसमें अच्छा स्थान मिला है। श्रीकालचक्र की देवी प्रज्ञा है। वज्रसत्व बुद्ध की प्रकृति भी लगभग ऐसी ही है। 'का' का तात्पर्य कार्यकारण से, 'ल' का तात्पर्य लय से, 'च' का सम्बन्ध चित्त की चंचलता से और 'क्र' का सम्बन्ध

6. नादो हि मन्त्र इत्युक्तं सर्वेषां तु शरीरिणां - श्रीसंपुटिका ।

क्रमबन्धन से है । प्रज्ञा और उपाय उससे जुडे हुए हैं। इसी को बोधिचित्त और अचिन्त्य महासुख भी कहा गया है। कालचक्रयान को वज्रतन्त्रयान की एक शाखा के रूप में भी स्वीकारा जा सकता है (सेकोद्देशटीका, पृ. ८)।

सहजयान को सरहपा आदि सिद्धों ने प्रस्तुत किया है। इसमें सहजता पूर्वक जो भी उपलब्ध हो, स्वीकार्य माना गया है। यहां तप, यम, नियम आदि की आवश्यकता नहीं है। यह सहजयान भी वज्रतन्त्र में अन्तर्भूत हो जाता है।

वज्रतन्त्र की उत्पत्ति लगभग ७ वीं सदी में हुई। यहां वज्र का सम्बन्ध शून्यता से है। साधक यहां प्रतिज्ञा करता है कि वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त रहेगा और कुशल कर्मों में आबद्ध होगा। इसे अनुत्तर सम्यक्संबोधिमार्ग कहा गया है। इसमें छः प्रकार के अभिचार (मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और वशीकरण) और पंच मकार (मैथुन, मत्स्य, मांस, मदिरा, मुद्रा) जैसी वाममार्गी साधना का खुलकर प्रयोग किया गया है। इसमें देव-देवियों के नाम भी वज्र से प्रारंभ होते हैं। पूजा में प्रयुक्त पुष्प, माला, घट, पट, आभूषण, ध्वज, तिल, यव, लाज, अक्षत, पंचामृत आदि को भी वज्र से जोडा गया है। साधना में प्रयुक्त कन्या को भी वज्रकन्या कहा गया है। वज्रबुद्धों के हाथों में वज्र, खड्ग, कपाल, पाश, पद्म, प्रज्ञा, पुस्तक आदि अंकित किये गये हैं। साधनमाला और हेवज्रतन्त्र में इन तत्त्वों पर अच्छा विवेचन मिलता है।

बौद्धतन्त्र परम्परा के इन सारे तत्त्वों पर डॉ. दासगुप्त ने सुन्दर सयुक्तिक विवेचन किया है उन्होंने तर्कतः यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बौद्धतन्त्र वैदिक तन्त्रों से प्रभावित रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धतन्त्र की दार्शनिकता बौद्धधर्म को ओढे अवश्य है पर उसने अपना विकास वैदिक तन्त्र-परम्परा की पृष्ठभूमि में किया है अन्यथा पंच मकारों का खुलकर प्रयोग उसके साधक नहीं करते। अपनी मातृभूमि से ११-१२ वीं शताब्दी के बाद बौद्धधर्म का लुप्तप्राय हो जाना और बंगाल, उडीसा और महाराष्ट्र के सन्तों द्वारा बौद्धधर्म का नाम लिये बिना अपने सिद्धान्तों में उसके सिद्धान्तों को पचा लेने का प्रयत्न करना इसी कथ्य को पुष्ट करता है कि बौद्ध तन्त्र की बीभत्स तान्त्रिकता को भारतीय संस्कृति स्वीकार नहीं कर पायी और उसे बौद्धधर्म के पतन के कारणों में अपने आपको एक महत्त्वपूर्ण कारण बन जाना पडा।

इसके विपरीत जैन संस्कृति, जो बौद्ध संस्कृति के समान ही श्रमण संस्कृति का प्राचीनतम रूप है, यद्यपि तान्त्रिकता की ओर बढी पर उसने अपने मूल स्वरूप पर आंच कभी नहीं आने दी। पंच मकारों का किसी तरह का प्रयोग वहां देखने नहीं मिलता। इसलिए अपनी विशुद्ध चारित्रिक दृढता के कारण जैन संस्कृति नष्टभ्रष्ट नहीं हो सकी भले ही उसे अपने अस्तिव के लिए कितना भी संघर्ष क्यों न झेलना पडा हो।

** ** **

२

वज्रतन्त्र परम्परा केआचार्य और उनका साहित्य

गुह्यसमाजतन्त्र

वज्रतन्त्र परम्परा का आधारभूत ग्रन्थ गुह्यसमाजतन्त्र माना जा सकता है। भट्टाचार्य तथा वायमन ने उसका समय लगभग चतुर्थ-पंचम शती निश्चित किया है। यदि हम इसे सही माने तो यह कहा जा सकता है कि इस समय तक बौद्धधर्म में तन्त्र परम्परा पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। जापानी परम्परा भी यही स्वीकार करती है।

गुह्यसमाजतन्त्र के पूर्व की स्थिति पर जब हम विचार करते हैं तो हमें कोई ऐसा उद्धरण पालि त्रिपिटक में नहीं मिलता जहां तथागत बुद्ध ने मन्त्र, जप, मुद्रा, नाडी तन्त्र आदि के प्रयोग को चित्त-शुद्धि के लिए निर्देशित किया हो। प्रारम्भिक सद्धर्म में स्मृति और ध्यान का उपदेश वितर्क और विकल्प क्षय के लिए अवश्य हुआ था पर वहां वज्रतन्त्र का प्रयोग वर्जित ही रहा है।

जैसा हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं, वज्रतन्त्र का प्रारम्भ महासांघिक सम्प्रदाय से होना चाहिए। वहां रूपकाय एक प्रकार की सिद्ध देह है। कथावत्थु की टीका में उनके धारिणी पिटक का भी उल्लेख मिलता है तथा महासंघ की आन्ध्रक और वैतुल्यक शाखाओं में आभिप्रायिक मिथुन-चर्या को अध्यात्मोपयोगी स्वीकार किया है। प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र में प्रज्ञापारमिता को ही धारिणी मान लिया गया। ये धारणियां मन्त्र विशेष ही होना चाहिए।

महायान के ही विकसित रूप मन्त्रयान, तन्त्रयान और वज्रयान हैं। मंजुश्रीमूलकल्प और गुह्यसमाज इनके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। डॉ. भट्टाचार्य ने मंजुश्रीमूलकल्प का रचयिता असंग को माना है। असंग के महायानसूत्रालंकार तथा अभिधर्मसमुच्चय में "मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्" (पृ. ४१) जैसे उल्लेख मिलते हैं जहां बोधिसत्त्व को सतत मैथुन-समापन्न माना है। हेवज्रतन्त्र में यह प्रवृत्ति और अधिक विकसित रूप में दिखाई देती है।

तारानाथ के अनुसार वज्रयान की गुह्य परम्परा सातवीं शताब्दी में अधिक विकसित हुई है। महायान में बुद्ध में प्रज्ञा और करुणा की समरसता मानी गई है और करुणा को ही उपाय कहा गया है। पर वज्रयान परम्परा में प्रज्ञा को वज्र (हीरा) कहा जाता

है और उपाय या करुणा को पद्म। मिथुन कल्पना में वज्र पुरुषतत्त्व है तथा पद्म स्त्रीतत्त्व। त्रिकाय के स्थान पर काय, वाक्, चित्त-वज्र की कल्पना तथा फिर वज्रधर अथवा वज्रसत्त्व की कल्पना निस्सृत हुई है। यहीं पंच ध्यानी बुद्ध और उनका कुल, मण्डल आदि भी कल्पित हुआ है।

साधारणतः यह माना जाता है कि सरह धर्मपाल (769-809 A.D.), नागार्जुन (आर्यस्कूल) और बुद्धश्रीज्ञान (ज्ञानपाद स्कूल) के समकालीन थे। नवीं शताब्दी में तान्त्रिक चन्द्रकीर्ति, इन्द्रभूति और उनकी बहन लक्ष्मींकरा, आर्यदेव और तिलोपा को तथा दशवीं शताब्दी में शबर और नारोपा को रखा जा सकता है। साधन साहित्य बारहवीं शताब्दी तक लिखा गया है। गुह्यसमाज इसके पूर्व का होना चाहिए लगभग ७-८ वीं शती का।

गुह्य समाजतन्त्र के प्रथम १७ अध्याय मूलतन्त्र हैं और १८ वें अध्याय को उत्तरतन्त्र कहा जाता है। कुछ व्याख्यात्मक तन्त्र हैं। नागार्जुन के पंचकर्म में तीन तन्त्रों का उल्लेख है - चतुर्देवी परिपृच्छा, सन्धिव्याकरण और वज्रमाला। आर्यदेव के चर्यामिलापक प्रदीप में भी ज्ञानवज्रसमुच्चय का उल्लेख है। ये चारों तिब्बती में हैं। प्रदीपोद्योतन में देवेन्द्र परिपृच्छा का उल्लेख है जिसका अनुवाद तिब्बती में नहीं हुआ।

निदानकारिका (चन्द्रकीर्ति के प्रदीपोद्योतन में उल्लिखित) में विष्णु के दश अवतारों का वर्णन है तथा ३३ नारी प्रकृतियों और ४० पुरुष प्रकृतियों का । इन्हें पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है। यहां योगाचार के अष्टविज्ञान का भी उल्लेख है। वायु / पवन पर जोर और लंकावतार के उल्लेख भी गुह्यसमाजतन्त्र की व्याख्याओं में मिलते हैं। 443 A.D. में इसका चीनी अनुवाद हुआ और बाद में 520 A.D. में बोधिधर्म उसे चीन ले गये। अतः लगभग पांचवीं शती वज्रमाला का समय है।

बी. भट्टाचार्य ने गुह्य समाज को असंग से संबद्ध किया है (375-430 A.D.)। तारानाथ ने एक परम्परा का उल्लेख किया है कि सिद्धों के लगभग ३०० वर्ष पहले तन्त्र समाज में आ चुका था। जापानी विद्वान Shan Toganoo आदि महावैरोचन को छठी, तत्त्वसंग्रह को सातवीं और गुह्यसमाज को आठवीं शती में रखते हैं। गुह्यसमाज की दो व्याख्या परम्परायें Wayman ने उल्लिखित की हैं –

१) **आर्यदेव परम्परा** - माध्यमिक आचार्य नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति आदि द्वारा पोषित उत्तरतन्त्र (१८ वां अध्याय) पर व्याख्या तथा अन्य श्रुतिपरम्पराओं का उल्लेख है। प्रज्ञापारमिता आदि अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों का तथा सौत्रान्तिक और वैभाषिक आभिधार्मिक परम्पराओं का भी उल्लेख है। नागार्जुन की

तान्त्रिक टीका और चन्द्रकीर्ति की प्रतीपोद्योतनटीका (PTT. Vol. 158, P. 55-3) शाब्दिक की अपेक्षा व्याख्यात्मक अधिक है।

२) **ज्ञानपाद परम्परा** - बुद्धश्रीज्ञान आदि द्वारा पोषित। उत्तरतन्त्र तथा अन्य अध्यायों पर, योगतन्त्र परम्पराओं का उल्लेख है। इसमें शाब्दिक व्याख्या अधिक है। प्रशान्तज्ञान की उपदेशनिश्चय टीका (PTT. Vol. 63, P. 65-5), Celu. Pa की रत्नवृक्ष नाम रहस्य समाजवृत्ति (PTT. Vol. 63, P.183-5) टीका, जिनदत्त की पत्रिका नामक व्याख्या (PTT. Vol.3, P. 259-1), रत्नाकर शान्ति की कुसुमाञ्जलि गुह्यसमाजनिबन्ध नामक टीका, (Vol. 64, P. 127-1) स्मृतिज्ञानकीर्ति की श्री गुह्यसमाज तन्त्रराजवृत्ति (PTT. Vol. 66, P. 132-3), आनन्दगर्भ की श्री गुह्यसमाज-महातन्त्रराजटीका (PTT. Vol. 84, P. 127-4, 5) भी उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त गुह्यसमाजतन्त्र पर समाधिव्याकरण और वज्रमाला (निदानकारिका) का भी प्रभाव है।

इस प्रकार Wayman ने गुह्यसमाज को चतुर्थ शती का माना है और उसे इन्द्रभूति, (राजा इन्द्रभूति से भिन्न) की कृति स्वीकार किया है। उसे उन्होंने ग्रीक रोमन विचारधारा से भी प्रभावित सिद्ध किया है। पर यह सही नहीं लगता। गुह्यसमाज असंग का नहीं है। वह तान्त्रिक नागार्जुन का होना चाहिए जिसका समय आठवीं शती का पूर्वार्ध है। तान्त्रिक प्रवृत्तियां बौद्धधर्म में सातवीं शती के पूर्व अवश्य आ चुकी थीं पर जिस विकसित रूप में वे गुह्यसमाज में मिलती हैं उस रूप में सातवीं शती के पूर्ववर्ती बौद्धसाहित्य में उपलब्ध नहीं होतीं।

तारानाथ के अनुसार असंग से धर्मकीर्ति तक तन्त्र परम्परा गुप्त रही। पर पाल सम्राटों के समय वह अधिक विकसित हुई। इस समय अनेक सिद्धाचार्य और वज्राचार्य हुए। तारानाथ ने आचार्य कम्बलपाद, कुक्कुराचार्य, सरोरुहवज्र, ललितवज्र तथा इन्द्रभूति को समकालीन माना है। सरोरुहवज्र ने वज्रतन्त्र का प्रवर्तन किया जहां प्रज्ञोपाय दर्शन का विकास हुआ । इसी दर्शन से सहजयान का उद्भव हुआ जहां तप, विनय, संयम, स्नान, उपवास आदि का कोई उपयोग नहीं माना जाता। शरीर को ही सब कुछ साधन मान लिया गया। ८४ सिद्धों की परम्परा भी सहजयान से जोडी जाती है। इसके बाद कालचक्रयान का उदय होता है जहां शून्यता और करुणा संवलित है। कालचक्रतन्त्र, उसकी विमलप्रभा टीका तथा सेकोद्देशटीका से उसे समझा जा सकता है।

हेवज्रतन्त्र परम्परा

वज्रतन्त्र परम्परा का वस्तुतः प्रथम आचार्य कंबल अथवा कंपल होना चाहिए जो घंटापा के शिष्य थे। घंटापा देवपाल (८०८-८४९ ई.) के कनिष्ठ समकालीन थे। कंबल के शिष्य जालन्धरपाद थे। जालंधरपाद सिन्धदेश के ठाठा नगर में एक निम्न कुल में जन्मे थे। कहा जाता है, उन्होंने उदयमान (उड्डीयमान) जाकर आचार्य इन्द्रभूति, लक्ष्मींकरा और कचपाद से बौद्धतन्त्र की शिक्षा ली और हेरुक मण्डल में प्रवेश कर महामुद्रासिद्धि प्राप्त की। बाद में मालव, मारुदेश, दक्षिण प्रदेश, बंगाल, नेपाल आदि की यात्रा कर बौद्धतन्त्र का प्रचार किया और भर्तृहरि, गोपीचन्द्र, कृष्णाचार्य आदि को शिष्य बनाया। राहुल सांकृत्यायन तथा विनयतोष भट्टाचार्य ने तिब्बती और बंगाली साधनों के आधार पर जालन्धरपाद के संदर्भ में अनेक अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है। उड्डीयान कहां था, यह विवाद का विषय हो सकता है। वह स्वात घाटी में हो या आसाम अथवा उडीसा में, पर वह वज्रतन्त्र का एक समर्थ केन्द्र अवश्य था।

जो भी हो, वज्रतन्त्र परम्परा के प्रथम सिद्ध आचार्य के रूप में कंबल को स्वीकार किया जा सकता है। पर विडम्बना यह है कि उनके विषय में विशेष कुछ अधिक मिलता नहीं। जो भी मिलता है वह परस्पर विरोधात्मक स्वर लिये हुए है। उदाहरणार्थ– लामा तारानाथ कभी उन्हें जालन्धर का गुरु कहते हैं तो कभी उनका शिष्य बतलाते हैं। डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने उन्हें बौद्ध कापालिक साधना का प्रथम आचार्य तो कह दिया है पर वे उनके विषय में सामग्री के अभाव के कारण मौन रह गये हैं। पर इतना अवश्य है, जालन्धर कंबल के शिष्य थे।

जालन्धर के विषय में भी यही स्थिति दिखाई देती है। उनके विषय में जो भी मिलता है वह था तो तिब्बती किंवदन्तियों में या बंगाली लोकगीतों में। हम दोनों को एकदम प्रामाणिक नहीं मान सकते। फिर भी उस सामग्री में जालन्धर को कम्बल का शिष्य बताया गया है और साथ ही इन्द्रभूति, लक्ष्मींकरा, और कचपाद को भी उड्डीयमान पहुंचने पर गुरू के रूप में प्रस्तुत किया गया है जहां उन्होंने महामुद्रासिद्धि प्राप्त की थी ।

राहुल सांकृत्यायन ने जालन्धरपाद को ब्राह्मण कुलीन बताया और नाथमत के पुरस्कर्ता आदिनाथ के रूप में उन्हें प्रस्थापित किया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का गुरुभाई कहा पर तिब्बती परम्परा उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का गुरु मानती है और जालन्धरपीठ का अधिष्ठाता स्वीकार करती है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि जालन्धर तान्त्रिक धर्मकीर्ति (९ वीं शती), दार्शनिक धर्मकीर्ति (६०० - ६५० ई.) से पृथक्, के समकालीन थे जिन्होंने हेवज्रतन्त्र पर टीका लिखी

थी। अन्य परम्पराओं के अनुसार जालन्धरपाद के गुरु सरहपा और वज्रघंटापा भी थे। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि वज्रतन्त्र परम्परा का प्रारंभ आचार्य कंबल या सरहपा से हुआ जिसे जालन्धर और इन्द्रभूति जैसे आचार्यों ने विकसित किया।

जालन्धरपाद के शिष्य कृष्ण वज्रपाद थे जिन्होंने हेवज्रतन्त्र पर योगरत्नमाला नामक पत्रिका लिखी। उन्हें काण्हपा और कृष्णाचार्य भी कहा जाता था। वे ब्राह्मणकुल में जन्मे थे और कदाचित् कर्णाटक के थे। कुछ समय वे सोमपुरी (पहाडपुर, जिला राजशाही, बंगाल) में रहे और वहीं जालन्धरपाद से दीक्षा ली। वे देवपाल (८०९ - ८४० ई.) के समकालीन थे। कतिपय विद्वान उन्हें उडीसा अथवा विजयानगरम् का भी मानते है। एक सिद्ध के रूप में उन्होंने अनेक देशों की यात्रा की। तिब्बत में उनकी बडी लोकप्रियता बढी अतिश दीपंकर श्री ज्ञान के काल में। कण्हपा के विषय में भी अनेक अनुश्रुतियां हैं। अतः कुछ भी निश्चित करना सरल नहीं है।

इन्द्रभूति जालन्धरपाद के शिष्य थे। ये भी देवपाल के समकालीन थे। इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मींकरा भी एक साधिका थी। ये दोनों कण्हपा के शिष्य थे। एक परम्परा यह भी है कि जालन्धरपाद इन्द्रभूति द्वितीय के शिष्य थे। तथ्य तो यह है कि इन सभी सिद्धों के संदर्भ में इतनी अधिक अनुश्रुतियों के उल्लेख मिलते हैं कि कुछ भी निश्चित नहीं किया जा सकता है। तारानाथ, तिब्बती परम्परा व बंगाली परम्परा में परस्पर मतभेद है फिर भी हम संक्षेप में यही कह सकते हैं।

हेवज्रतन्त्र : लेखक और टीकाकार

हेवज्रतन्त्र पर भद्रपाद, नारोपा (१०-११ वीं सदी), टंकदास, (928-1026 A.D) काण्ह, रत्नाकर शान्ति, धर्मकीर्ति और वज्रगर्भ आदि विद्वानों की भी टीकायें मिलती हैं। इनमें धर्मकीर्ति तार्किक धर्मकीर्ति से पृथक् होना चाहिए। वज्रगर्भ की टीका कदाचित् सर्वाधिक विशालाकार है जो मैत्रेय (११ वीं सदी) कालीन है। इसमें वज्रगर्भ ने मूल हेवज्रतन्त्र के ३२ भाग और ५,००,००० श्लोक बताये। बस्तन (Buston) ने उसके १,००,००० श्लोकों की संख्या का उल्लेख किया। जो भी हो, पर चीनी और तिब्बती अनुवादों के आधार पर यह अवश्य माना जाता है कि कंबल और सरोरुह द्वारा प्रकाश में लाया गया हेवज्रतन्त्र अपने मूल रूप में यही रहा होगा। साधनमाला (२२८) में भी इसके कुछ उद्धरण उपलब्ध होते हैं। हेवज्रतन्त्र का उपलब्ध रूप संक्षिप्त भी हो सकता है। उसके वृहदाकार का आभास साधनमाला (२२८) में उद्घृत उद्धरणों से मिल जाता है। हेवज्रतन्त्र में भी एक स्थान पर कहा गया है कि कुरुकुल्ला का साधन बारह भागों

में विभक्त है[१]। टीकाकारों ने उसे 'विस्तीर्ण हेवज्रतन्त्र' कहा है। वज्रगर्भ और नारोप मूलतन्त्र को कभी ५,००,००० कभी ६,००० श्लोक प्रमाण बताते हैं।

हेवज्रतन्त्र के विषय और दर्शन के अध्ययन से उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। बौद्धतन्त्र में गुह्य साधना के लिए आभूषण, मुद्रा, मण्डल, प्रतीक, देह, बुद्ध, देव, देवी, क्षेत्र आदि सभी का उपयोग किया जाता है। हेवज्रतन्त्र और उसकी टीका योगरत्नमाला में इन सभी विषयों पर संक्षेप में सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। बौद्ध तान्त्रिक परम्परा को समुचित ढंग से समझने के लिए इसके अध्ययन-अध्यापन की महती आवश्यकता है। अभी तक इसका नागरी संस्करण उपलब्ध नहीं था जिसे हमने प्रस्तुत किया है। उसका गंभीर अध्ययन भी शेष है। बौद्धेतर तान्त्रिक परम्परा के संदर्भ में भी इसका अध्ययन अपेक्षित है।

बौद्धधर्म लगभग दसवीं शताब्दी में अपनी ही मातृभूमि में लुप्तप्राय हो गया। इस स्थिति तक पहुंचने में मुस्लिम आक्रमणों का भी विशेष हाथ रहा है। अशोक, हर्ष, पाल जैसे साम्राज्यों ने बौद्धधर्म का भरपूर संरक्षण किया। लगभग ७-८ वीं शताब्दी तक बौद्धधर्म के ह्रास के लक्षण दिखाई नहीं देते। सारनाथ, नालन्दा, विक्रमशिला और वज्रासन (बोधगया) जैसे बौद्ध केन्द्रों में अनगिनते बौद्ध संप्रदाय रहा करते थे। तिब्बत और चीन में भी यही परम्परा रही है। यहां के विहार बौद्ध साहित्य के संरक्षक रहे हैं। पद्मसंभव के नाम पर यहां बौद्ध शिक्षा का प्रचार हुआ है।

बौद्ध शिक्षा के इन केन्द्रों में साहित्य-निर्माण के साथ ही विविध अनुष्ठान भी हुआ करते थे। उससे चित्रकला और कल्पना-विस्तार का भी विकास हुआ। नये धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से कुछ ऐसे भी कार्य हुए जिनका संबन्ध बौद्धधर्म की लोकप्रियता से रहा है। ऐसे कार्यों में मन्त्रों के बल पर वर्षा करना, अतिवृष्टि रोकना, अनपेक्षित पडोसी को मार्ग से अलग करना, कलहकारी देवों को शान्त करना आदि कार्य भी संमिलित हो गये।

तिब्बत और भारत के संबन्धों को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से देखने के लिए प्राचीन मूल ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का अत्यधिक महत्त्व है। तिब्बती ग्रन्थों को बिना भारतीय मूल ग्रन्थों के नहीं समझा जा सकता । हेवज्रतन्त्र को समझने के लिए इसी भूमिका पर विचार करना होगा ।

---

१. अथ कुरुकुल्लायाः साधनं वक्ष्ये येन सर्वसत्वानि वशं यान्ति।
संक्षिप्तं पूर्वमुद्दिष्टं विस्तरेण कल्पद्वादशैः।। हेवज्रतन्त्र, भाग १, ११.१२

महत्त्वपूर्ण बौद्धागम के दो भाग हैं - १) कंज्योर जिसमें विनय के तेरह भाग हैं, प्रज्ञापारमिता के २१ भाग हैं, महायान सूत्रों के ४४ भाग हैं और तन्त्रों के २२ भाग हैं। २) दूसरा भाग तेन्जयुर कहलाता है जिसमें भारतीय आचार्यों के व्यक्तिगत ग्रन्थों का संग्रह है। इसके दो विभाजन हैं - १) सूत्रों पर टीका, और २) तन्त्र ग्रन्थों पर टीका। प्रथम विभाजन का सम्बन्ध प्रज्ञापारमिता अथवा महायान सूत्र साहित्य से है और द्वितीय नवीन सिद्धान्तों और साधनाओं से संबद्ध है। इनमें क्रमशः १३७ और ८६ भाग हैं। इन सभी भागों में तन्त्रभाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सूत्र साहित्य द्वितीय से लेकर अष्टम शताब्दी तक हुए महायान के विकास का परिणाम है जबकि तन्त्र साहित्य सप्तम से द्वादश शताब्दी तक रचा गया साहित्य है। इसमें भी ९-१० वीं शताब्दी का अधिक है। सूत्र साहित्य को बुद्धवचन कहा गया है और तन्त्र साहित्य उसे व्यवस्थित करने वाली रचनाओं का संग्रह है। उनमें बोधिसत्त्वों के लिए संबोधन मिलता है उनके प्रश्नों के उत्तर में। इस उत्तर में बौद्ध सिद्धान्तों की नये ढंग से व्याख्या की गई है। यह व्याख्या सत्य और तथ्य पर आधारित नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश मिश्रित संस्कृत भाषा में लिखे गये इन ग्रन्थों की तिथि का निर्धारण करना भी सरल नहीं है। उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए अथवा बौद्धधर्म को सर्व साधारण जनता तक पहुंचाने के लिए रक्त, मांस और पंचमकार का उपयोग प्रारम्भ किया गया और फिर उनकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई। वज्रयान के इस रूप को कोई भी व्यक्ति मूल बौद्धधर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।

वज्रतन्त्र किंवा वज्रयान एक विकास का परिणाम है जो महायान सूत्रों से विकसित हुआ है। उसमें बौद्धधर्म का नैतिक तत्त्व लगभग समाप्त हो गया था जो बौद्धधर्म के पतन का एक अन्यतम कारण बना। पर उसने तिब्बत को अवश्य प्रभावित कर लिया। यद्यपि बौद्धतन्त्र और शाक्ततन्त्र में कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं था पर बौद्धतन्त्र ने अज्ञानियों, मूर्खों और सर्वसाधारण जनों को प्रभावित करने के लिए उन्हें मांस, मदिरा, मैथुन, मत्स्य, मुद्रा आदि की ओर प्रवृत्त अधिक किया और उसमें सिद्धि की सफलता भी बताई। इस सिद्धि का संबन्ध वस्तुतः निर्वाण से उतना नहीं था जितना चमत्कार तत्त्व से। इसमें सांसारिक कष्टों से भयभीत लोगों को तन्त्र के माध्यम से कष्टमुक्त किया गया। स्वानुभूति उसका प्रमुख कारण रहता है। यह भी कहा जाता है - यत्कञ्चित् मैत्रेय-सुभाषितं तद् बुद्धवचनम् ।

बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्त और परम्परा के परिज्ञान की दृष्टि से हेवज्रतन्त्र और उसकी कण्हकृत टीका योगरत्नमाला (पञ्जिका) बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा माना जाता है कि हेवज्रतन्त्र को सिद्ध साधक कंबल और सरोरुह ने आकार दिया। बौद्धधर्म के ८४ सिद्धों में सरोरुह का प्रमुख स्थान है। कहा जाता है, इन्द्रभूति ने सरोरुह और कंबल से

शिक्षा ग्रहण की हेवज्रतन्त्र की। यह परम्परा इन्द्रभूत जालन्धरों से होते हुए कण्ह तक पहुंची जिसने हेवज्रतन्त्र पर योगरत्नमाला नामक पञ्जिका टीका लिखी। तारानाथ ने सरोरुह-कंबल के पूर्ववर्ती डोंबी-हेरुक का उल्लेख किया है।

यह भी माना जाता है कि सरोरुह ने हेवज्र पर टीका लिखी। साधना, विधि, स्तोत्र आदि से संबद्ध और भी उनकी रचनायें उपलब्ध होती हैं। उन्हें पद्मवज्र भी कहा जाता है। वे इन्द्रभूति के समकालीन रहे। तारानाथ ने इस विषय में दो परम्पराओं का उल्लेख किया है - (१) इन्द्रभूति I - महापद्मराज - अनंगवज्र - सरोरुह - इन्द्रभूति II (२) आश्वपद - विलस्यवज्रा - वज्रघण्ट - कंपल या कंबल - इन्द्रभूति II । इन दोनों परम्पराओं में इन्द्रभूति, सरोरुह और कंपल दोनों से शिक्षा ग्रहण करता है। तारानाथ ने सरोरुह के पूर्व डोम्बि-हेरुक का उल्लेख किया है जिसने हेवज्रतन्त्र में रुचि दिखाई और उसका सारग्रहण किया। यह इससे भी सिद्ध होता है कि साधनमाला (२२८) में उनके नाम से नैरात्म्य प्रार्थना का उल्लेख हुआ है। अतः वह सरोरुह और कंपिल से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

इन्द्रभूति II से उत्तराधिकारिता जालंधरि तथा बाद में कण्ह (कृष्ण) तक पहुंचती है जो राजा गोपिचन्द्र और धर्मकीर्ति के समकालीन थे। तारानाथ ने इनका समय ७०० ई. माना है। पर कृष्ण जालन्धरि के शिष्य थे और जालन्धरि इन्द्रभूति II के। कण्ह ने नवीं सदी के प्रारंभ में योगरत्नमाला टीका लिखी। कदाचित् उन्हीं की 'स्मृति निष्पत्ति' नामक एक और टीका मिलती है जो तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। अतः कण्ह का काल ग्यारहवीं शती नहीं माना जा सकता। देवपाल का राजकाल आठवीं शताब्दी का मध्यकाल रहा है। अतः हेवज्रतन्त्र का रचनाकाल नवीं शताब्दी के पूर्व नियोजित किया जा सकता है। यह इससे भी प्रमाणित है कि हेवज्रतन्त्र में आगत अपभ्रंश की गाथाओं की भाषा भी नवीं सदी की दिखाई देती है।

बौद्ध तान्त्रिक रचनायें संगीतियों के रूप में मिलती हैं और उनके आविर्भावक के रूप में तथागत बुद्ध का नाम आता है। शान्तरक्षित ने भी तत्त्वसंग्रह में यही कहा है कि मुद्रा, मण्डल और मन्त्रों के जन्मदाता बुद्ध हैं। उन्हीं का विकास मन्त्रयान में हुआ है। पर यह तथ्यसंगत नहीं माना जा सकता है।

तन्त्रकाल लगभग ई. ७५० से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व वह गुह्य परम्परा से जकडा हुआ था। गुह्यसमाजतन्त्र, मंजुश्रीमूलकल्प और प्रज्ञापारमितासाधन में पंचध्यानी

बुद्धों का उल्लेख है जो उत्तरकाल में अधिक स्पष्ट होता गया है। तारानाथ ने इस परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है क्रमशः –

पद्मवज्र - अनंगवज्र - इन्द्रभूति - भगवतीलक्ष्मी - लीलावज्र - दारिकपा - सहजयोगिनीचिन्ता - डोम्बी हेरुक। काजी दवासंदुप ने चक्रसंवर तन्त्र में परम्परा दी है- सरह - नागार्जुन - शबरीपा - लुईपा - वज्रघण्टा - कच्छपा - जालन्धरिपा - कृष्णाचार्या- गुह्य - विजयपा - तईलोपा - नारोपा ।

तारानाथ ने कहा - सरहण ने बुद्धकपालतन्त्र, लुईपा ने योगिनीसंचर्या, कंबल और पद्मवज्रने हेवज्रतन्त्र, कृष्णाचार्य ने संपुटतिलक, ललितवज्र ने कृष्णयामारितन्त्र, गंभीरवज्र ने वज्रामृततन्त्र, कुक्कुरीपा ने महामायातन्त्र और पिटो ने कालचक्रतन्त्र की प्रस्थापना की।

इनमें द्वितीय सूची के अनुसार जालन्धरपा प्रथम थे जिन्होंने हेवज्रतन्त्र को प्रस्तुत किया। प्रथम सूची के अनुसार पद्मवज्र ने हेवज्रतन्त्र को सामने रखा। अतः पद्मवज्र जालन्धरपा से एक पीढी पूर्ववर्ती हैं। दूसरी बात, कमलशील ने सरहपा द्वारा लिखित व्याख्या का अनुकरण किया, तीसरी बात दारिकपा ने लुईपा का उल्लेख किया अपने एक दोहे में। अतः लुईपा उसका पूर्ववर्ती होना चाहिए।

इन्द्रभूति गुरु पद्मसंभव के पिता थे जो शान्तरक्षित के साथ तिब्बत गये थे और वहां 749 A.D. में समय में एक बिहार बनाया था। ऐसी स्थिति में इन्द्रभूति का समय 687 A.D. और 717 A.D. के बीच होना चाहिए। यदि १२ वर्ष का अन्तराल एक पीढी के बीच रखें तो आचार्यों के प्रथम उत्तराधिकार का समय यह रखा जा सकता है।

पद्मवज्र	A.D. 693	लीलावज्र	741
अनंगवज्र	705	दारिकपा	753
इन्द्रभूति	717	सहजयोगिनी	765
लक्ष्मींकरा	729	डोम्बी हेरुक	777

यदि जालन्धर पद्मवज्र से एक पीढी पीछे हैं जिन्होंने हेवज्रतन्त्र को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया और एक पीढी को १२ वर्ष का अन्तराल दिया जाये तो आचार्यों के द्वितीय उत्तराधिकार का समय इस प्रकार रहेगा।

सरहपा	A.D. 633	कच्छपा	693
नागार्जुन	645	जालन्धरिपा	705
शबरिपा	657	कृष्णाचार्य	717
लुईपा	669	गुह्य	729
वज्रघण्टा	681	विजयपा	741

ताईलोपा और नारोपा के विषय में सूचनायें सही नहीं लगतीं। अतः वज्रपा और ताईलोपा के बीच अनेक गुरुओं का समय होना चाहिए यह हम जानते हैं कि तईलोपा महीपाल का समकालीन है (978-1030 A.D.) जबकि नारोपा जेतारी का उत्तराधिकारी रहा जो महीपाल का समकालीन तथा विक्रमशिला का द्वारपण्डित था। इसलिए तईलोपा को ई. ९७८ तथा नारोपा को ई. ९९० में रखा जा सकता है।

तारानाथ के अनुसार सरहपा तान्त्रिक परम्परा को प्रस्थापित करने वाले प्रधान आचार्य थे। उनके बुद्धकपालतन्त्र और चक्रसंवरतन्त्र के भी उल्लेख मिलते हैं। Pag Sam Jon Zan के लेखक के अनुसार सरहपा ने चमत्कार प्रदर्शनकर राजा रत्नपाल को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। बाद में वे नालन्दा के आचार्य हुए। उन्हें राहुलभद्र भी कहा जाता था। वे राज्ञी नगर में बाह्मण परिवार में पैदा हुए थे। उडीसा में भी उनका कार्य क्षेत्र रहा है। मन्त्रयान सीखकर वे महाराष्ट्र गये। वहां उन्होंने नारी योगिनी के साथ योगसाधना की, महामुद्रा साधना की। ये शायद धर्मकीर्ति (ई. ६००-५०) के समकालीन थे। ऐसी वेमन की अवधारणा है।

हेवज्रतन्त्र और योगरत्नमाला की पाण्डुलिपियां केम्ब्रिज ओर काठमाण्डू में थीं। उनके आधार पर स्नेलग्राव ने सन् १९५९ में संपादन किया। फेरो और मेनन ने रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया की अपूर्व पाण्डुलिपि (सन् १९९२) भी देखी रत्नाकरशान्ति की मुक्तावलि नामकी एक और हेवज्रतन्त्र की टीका है जो योग-रत्नमाला को भी स्पष्ट करती है।इस संदर्भ में स्नेलग्राव की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है।

हेवज्रतन्त्र में बुद्ध और उनके शिष्य वज्रगर्भ के बीच संवाद है प्रथम भाग में और द्वितीय भाग में भगवान और उनकी पत्नी के बीच उपदेश है। इसमें कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। अन्य तन्त्र ग्रन्थों के समान हेवज्र का भी प्रारंभ निदानवाक्य से होता है - 'एवं मया श्रुतम्'। इससे उपाय की जानकारी दी गई है। हेवज्रतन्त्र पंजिका के लेखक है महासिद्ध कृष्णाचार्य ।इसमें व्याकरणात्मक नियमों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया

गया। गुह्यसमाज की पञ्जिका प्रदीपोद्योतन और कालचक्रतन्त्र पञ्जिका विमलप्रभा में भी ये भूलें दृष्टव्य हैं।

महासिद्ध वे है जिन्होंने ५ से १३ वीं शती के बीच बौद्धतन्त्र को व्यवस्थित किया है अपने गुरुओं द्वारा प्रदत्त शिक्षा को। यह तन्त्र-शैली सात शिक्षाओं पर आधारित है जो आज भी तिब्बत में प्रचलित है - कर्ग्युप, सस्क्युप, गेलुग्प सम्प्रदायों में। नियिन्गांपा सम्प्रदाय में भी यही है पर गुरु रिम्पोचे और पद्मसंभव द्वारा प्रसारित तन्त्र शिक्षा अधिक लोकप्रिय है। इन महासिद्धों ने समय-समय पर सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप बौद्धतन्त्र में अन्य तन्त्रों को भी समाहित किया। हेवज्रतन्त्र में यह प्रक्रिया देखी सकती है जहां हिन्दू देव ब्रह्मा, कापालिकों के पांच अलंकार, कौलों की योगमुद्रा आदि का उपयोग हुआ है।

चौरासी सिद्धों का प्रभाव भी दृष्टव्य है - नाथयोगी, दत्तात्रेय, दसनामी नागयोगी का वैदिक तन्त्रों पर प्रभाव खोजा जा सकता है। कबीर तुलसी ने भी उनका प्रयोग किया है। आदि ग्रन्थ साहित्य में भी ऐसे कुछ गीतों का संग्रह है। उत्तर भारतीय संत परम्परा में यह परम्परा मिलती है। सहज गीत बंगाल में भी प्रचलित हैं, चर्या गीत भी।

कृष्णाचार्य तान्त्रिक थे। वे पूर्व भारत में ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। उनके गुरु जालन्धर थे। वे स्वयं को कापालिक योगी कहा करते थे। महामुद्रासिद्धि के साथ उन्होंने आठ सिद्धियां प्राप्त की थीं। उनके शिष्य थे - भद्रपाद, महिल, भदल, शेम्बुप, धमप और धुमप। कृष्णाचार्य ने योगिनी के साथ तन्त्रसिद्धि करने की शिक्षा दी है। श्मशानों, जंगलों में और योगिनियों के साथ वे घूमे। प्रज्ञा - योगिनी का उपयोग बहुत हुआ है। १० से १३ वीं शती के बीच वज्रतन्त्र का प्रचार तिब्बत में अधिक हुआ।

इस संदर्भ में योगतन्त्र और अन्य मातृ-पितृ तन्त्रों का संबंध योगिनि अथवा अनुत्तर तन्त्रों से क्या - कैसा था? यह समझना आवश्यक है। हेवज्रतन्त्र योगिनितन्त्र है। उसका प्रथम अभिषेक क्रियातन्त्र है - दूसरा चर्यातन्त्र है। ऊष्मा मिलने पर उसका अभ्यास होता है। योगिनी के लिए भी यही रीति-प्रक्रिया है। तृतीय अभिषेक में प्रवेश के लिए प्रज्ञा में जाने के लिए इसकी आवश्यकता पडती है। योगी-योगिनि चतुर्थ अभिषेक में अद्वैत होते हैं। जो सहज की चरम सिद्ध अवस्था है। तान्त्रिक दीक्षा के योग्य शिष्य बडी कठिनाई से मिलते थे। हेवज्रतन्त्र में इसका आभास हो जाता है।

तान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार चूंकि शरीर में भावों की उत्पत्ति होती है, इसलिए देवी-देवियों को शरीर में निवास करना आवश्यक माना गया है। अशुद्ध भावनाओं के नियंत्रण के लिये उनका रहना उपयोगी है। योगी का प्रथम कर्तव्य है उन

अशुद्ध भावनाओं को शुद्ध करना देवी-देवताओं के माध्यम से। गुरु से दीक्षा लेकर वज्रयान परम्परा को साधना के रूप में स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

उत्पत्ति क्रम और परिपूर्णक्रम को जानने के पूर्व वज्रयान परम्परा को जान लेना आवश्यक है। गुह्यसमाजतन्त्र के उत्तरतन्त्र में कहा गया है कि तन्त्र में तीन तत्त्व होते हैं- तन्त्र की उत्पत्ति, तन्त्र का फल और तन्त्र की साधना। वज्र परिवार इसका साधन है। हेवज्रतन्त्र में बुद्ध नाटक को खेलने वाले वज्र परिवार के सदस्य हैं। उनके बीच परिसंवाद बुद्धत्व प्राप्ति का साधन है। हेवज्र को प्राप्त करना उसका फल है।

प्रज्ञा और उपाय देवी और देवता के प्रतीक हैं। उनके ही माध्यम से शून्यता समाधि और महासुख की प्राप्ति संभव है। यह प्राप्ति उत्पत्तिक्रम से प्रारंभ होती है। इसमें देवी-देवताओं को मण्डल में बैठाया जाता है, उनके आकार, प्रतीक, मुद्रायें, बीजाक्षरों का उपयोग होता है। उत्पत्तिक्रम में दो शुद्ध आकारों का मेल होता है और निष्पन्नक्रम में महासुख की अनुभूतिं होती है शून्यता समाधि और महामुद्रा के माध्यम से।

शून्यता समाधि की अनुभूति का क्रम हेवज्रतन्त्र का अभिधेय है। सभी बौद्धतन्त्र ग्रंथों का प्रारंभ इसी वाक्य से होता है। इसमें तान्त्रिक भाषा सम्मिलित है। हेवज्र भी ऐसा ही एक प्रतीक है। हे का अर्थ करुणा और वज्र का अर्थ शून्यता है। करुणा और शून्यता देवी-देवताओं की विशेषता है। हेवज्र, भगवान्, वज्रसत्त्व, श्रीहेरुक, नैरात्म्या, एवं, वज्र, पद्म आदि और भी नाम मिलते हैं।

हेवज्रतन्त्र का प्रारंभ निदानवाक्य से होता है - "एवं मया श्रुतं एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागत कायवाक्‌चित्तवज्रयोषिद्‌भगेषु विजहार।" इस वाक्य में तान्त्रिक परिभाषा में काय-वाक्-चित्त के केन्द्र रूप बुद्ध शरीर की ओर संकेत है। यहां **ए** स्त्री-योनि का प्रतीक है और **वं** पुरुष-लिंग का। ये दोनों मातृ और पितृ मण्डल हैं जहां प्रज्ञा और उपाय रहते हैं, शून्यता और करुणा का जो निवास स्थल है। परिपूर्ण समाधि तब होती है जब 'वं' का प्रवेश 'ए' में हो जाता है। यही उत्पत्तिक्रम है। दोनों का संमिलन उत्पन्नक्रम है - एवं का मिलन है। निष्पन्नक्रम में मया की अनुभूति होती है, शून्यता समाधि की प्राप्ति होती है। 'श्रुतम्' से उसी की अभिव्यक्ति है, वह शुक्र है; मूलशक्ति का प्रतीक है।

तान्त्रिक सिद्धान्त में भगवान् की व्याख्या की गई है वह व्यक्तितत्व जिसके पास भग अर्थात योनि है। वज्रा की योनि काय वाक् चित्त का आश्रय है जिनमें उत्पत्ति आनन्द और मूल प्रकृति (धर्मकाय) निहित है। यहीं से धर्मोदय होता है। यही धर्मकाय

है। निर्माणकाय और संभोगकाय भी यहीं बने रहते हैं। महामुद्रा की अनुभूति भी यहीं से होती है। वज्रसत्त्व उसके धारक हैं।

हेवज्रतन्त्र में उसकी साधना को स्पष्ट किया गया है। संवर अभिषेक, सन्ध्याभाषा, आनन्द, क्षण, चर्या, भोजन आदि के माध्यम से इस साधना की व्याख्या की गई है। मूल परम्परावादी इसे नहीं समझ सकते। तान्त्रिक सिद्धान्त बडा कठिन और दुरूह है। हीनयान और महायान के गंभीर अध्येता ही उसे समझ सकते हैं।

संवर का अर्थ ही है कि वह साधना शरीर में प्रच्छत्र है। वह दो प्रकार की है- एक वह जो प्रच्छत्र है और दूसरी वह जो उसे उद्घाटित करती है। उद्घाटन करने में पुरुष और स्त्री का संमिलन आवश्यक माना गया है।

तत्त्वसंग्रहतन्त्र के अनुसार हेवज्र वज्रधर का पर्यायवाची शब्द है जिसका सम्बन्ध करुणा और शून्यता की सिद्धि से है। हेवज्र और उनकी शक्ति नैरात्म्या की सिद्धि-प्रक्रिया हेवज्रतन्त्र में अच्छे ढंग से वर्णित है। तिब्बत में उसे Ka-gyu-pas तथा Sa-Kya-pas, दोनों ने स्वीकार किया और उसकी टीका का भी विशेष उपयोग किया। Kubilai नामक मंगोल शासक को भी इसमें दीक्षित किया गया था।

हेवज्रतन्त्र में न व्याकरण का पूरा ध्यान रखा गया है और न ही छन्दरचना का। विषय का विभाजन भी रीतिबद्ध नहीं है। इसका मुख्य विषय है किसी विशिष्टस्थान पर योगिनी के साथ मिलना, क्रियाकाण्ड का संयोजन करना और निर्दिष्ट विधि से ध्यान करना पंच मकारों के साथ। लगभग पांच वर्ष की साधना में सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसी के माध्यम से चतुर्थ अभिषेक में सहजानन्द की प्राप्ति होती है। यही बोधिचित्त है और यही सम्यक्सम्बोधि है। युगनद्धता, देवमण्डल, और आचार-विचार की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

गुह्यसमाजतन्त्र तथा हेवज्रतन्त्र - योगरत्नमाला के अतिरिक्त प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि, सेरुक, अद्वयवज्रसंग्रह, चण्डमहारोषण, वज्रवाराही, क्रियासमुच्चय, वज्रावली, योगिनीजाल, तत्त्वरत्नावली, अद्वैतसिद्धि, गुह्यसिद्धि, चण्डमहारोषणतन्त्र, साधन समुच्चय, साधनमाला, कालचक्रतन्त्र तथा उसकी विमलप्रभा टीका, सेकोद्देशटीका, आदि ग्रन्थ वज्रतन्त्र परम्परा के आधारभूत ग्रन्थ रहे हैं। जालन्धरपाद की विमुक्तमंजरी, शुद्धिवज्रप्रदीप, सरोरुहपाद का हेवज्रसाधन, बुद्धकपालतन्त्र, कृष्णपाद का दोहाकोश, हेवज्रपञ्जिका भी अन्यतम प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिसमें वज्रतन्त्र परम्परा पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सरहपा के दोहाकोश आदि ग्रन्थ भी इस संदर्भ में उद्धरणीय हैं।

** ** **

३

वज्रतन्त्र परम्परा : उत्पत्ति और विकास

पृष्ठभूमि

वज्रतन्त्र परम्परा की पृष्ठभूमि में धर्म और संघ के विस्तार की योजना सन्नद्ध रही है। यही कारण है कि त्रिपिटक के प्राचीनतम भाग में जहां बुद्ध अलौकिक चमत्कार प्रदर्शन के विरोधी दिखाई पडते हैं वहीं आगे वे चमत्कार प्रदर्शन के माध्यम से ही जनता को आकर्षित करते दिखाई देते हैं। गया के काश्यप बन्धुओं को संघ में दीक्षित करना, राजगृह के ब्राह्मणों को नीचा दिखाना, संकाश्य में तावत्त्रिंश से उतरना, राजगृह में आकाश में उडकर बांस में टंगे हुए चन्दन-पात्र को उतारना, अकाल पडने पर मन्त्र का सहारा लेना आदि जैसी अनेक घटनायें हैं जहां बुद्ध और उनके अनुयायियों ने सम्राटों, श्रेष्ठियों और अन्य मतावलम्बियों को चमत्कार-प्रदर्शन के माध्यम से बौद्धधर्म में दीक्षित किया।

बुद्ध के समय मन्त्र और विद्यायें बहुत लोकप्रिय थीं। मोक्ष के लिए भी उनका उपयोग होता था। कहा जाता है, बुद्ध ने श्रावकों के संतोष के लिए मन्त्रों और धारणियों का उपदेश दिया, उनका निर्माण किया।

तदुक्तमन्त्रयोगादिनियमाद् विधिवत् कृतात् ।
प्रज्ञारोग्य-विभुत्वादि दृष्टधर्मोऽपि जायते ।।
तत्त्वसंग्रह ३४८७

ब्रह्मजालसुत्त में मन्त्रविद्याओं का उल्लेख है जिन्हें बुद्ध ने तिरच्छान कहकर निन्दित किया था। मंजुश्री - मूलकल्प, गुह्यसमाज, साधनमाला आदि तान्त्रिक ग्रन्थों में मुद्रा, मण्डल, धारिणी, मन्त्र आदि का विवेचन है। पालि साहित्य में भी चार प्रकार की ऋद्धियों का उल्लेख है - छन्दो, विरिय, चित्त, वीमंसा। विनयपिटक में भारद्वाज और मण्डूक जैसे अनेक चामत्कारिक घटनाओं से जुडे व्यक्तियों का उल्लेख है (महावग्ग. vi, 34.1.2)। विशुद्धिमग्ग में इन ऋद्धियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस वर्णन विधा में तन्त्र परम्परा के बीच संश्लिष्ट हैं।

इसी तरह संघ में नारियों के प्रवेश ने भी वज्रतन्त्र परम्परा के दरवाज़े खोल दिये। आनन्द के दुराग्रह पर नारियों को संघ में प्रवेश तो मिल गया पर बुद्ध की दूरदृष्टि ने यह भी संकेत दे दिया कि 'आनन्द, हमारा धर्म जो एक सहस्र वर्ष टिकता, वह अब केवल पांच सौ वर्ष ही रह पायेगा'। संघ में मारसेना का प्रवेश भी तभी से हो गया।

वज्रतन्त्र परमम्परा का एक द्वेष परिवार है। राग-द्वेष के कारण ही संगीतियां हुईं और संघ के टुकडे-टुकडे हो गये। इसी संघ का एक टुकडा वैपुल्यवाद भी था जो ई.पू. प्रथम सदी में अस्तित्व में आया। वह महायान के शून्यवाद का समर्थक था। इसी वैपुल्यवाद से तन्त्रयान की उत्पत्ति हुई जिसकी आधार भित्ति थी - हठयोग से सिक्त पंच मकारों की स्वीकृति।

मौर्य वंश के बाद शुंग, काण्व और सातवाहन जैसे ब्राह्मण राज्य हुए जिनसे प्रभावित होकर बौद्धधर्म भी ब्राह्मण संस्कृति की ओर झुकी। आगमों की भाषा पालि-प्राकृत से बदलकर संस्कृत हो गई और बुद्ध में विष्णु, शिव और शक्ति की प्रतिष्ठा की जाने लगी। उनकी मूर्ति-पूजा होने लगी, अलौकिक कहानियां गढ ली गईं, लोकोत्तरवाद पनपने लगा और 'एकाभिप्राय' से मैथुनकर्म की छूट दे दी गई। इसी को महाशून्यवाद और **महासुखवाद** कहा गया।

यह महासुखवाद आन्ध्र के धान्यकटक पर्वत पर पनपा। नागार्जुन ने उसे सातवाहन काल में तन्त्र से जकडा और आटानाटीयसुत्त के आधार पर मन्त्रों की संरचना हो गई। बुद्धवचनों को मन्त्र के रूप में ढाला गया जिन्हें धारिणी कहा गया। मंजुश्रीमूलकल्प, मंजुश्री नामसंगीति, हेवज्रतन्त्र जैसे ग्रन्थों में यह मन्त्र और धारिणी परम्परा काफी विकसित हुई है। आनापानसति, परचित्तविजानन, ऋद्धि-सिद्धि प्राप्ति, समाधि में श्मशान का उपयोग, जुगुप्सा के माध्यम से चित्त की चंचलता को रोकना आदि जैसे प्राचीन तत्त्व गुह्य साधना की पृष्ठभूमि तैयार करते रहे हैं।

मन्त्रयान

कथावत्थु में संकलित नागार्जुन के वैपुल्यवाद के बाद असंग महायान-सूत्रालंकार को उद्धृत किया जा सकता है जहां पंचपरावृत्तियों (पंचेन्द्रियपरावृत्ति, मानसपरावृत्तिं, सार्थोद्ग्रहपरावृत्ति, विकल्पपरावृत्ति, प्रतिष्ठा-परावृत्ति और मैथुन परावृत्ति) की क्रियाओं से विभुत्व-प्राप्ति बताई गई है[१]। यहां वागची के अनुसार मैथुनस्य परावृत्ति का अर्थ मैथुन जनित आनन्द के समान सुख का उपभोग है। इसका सम्बन्ध अचला, साधुमती और धर्ममेघा भूमियों से है। यह प्रवृत्ति वैपुल्यवाद से होती हुई असंग तक आयी और फिर वहां से विकसित होकर गुह्यसमाज तथा हेवज्रतन्त्र में विकसित हुई।

---

१. मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परं ।
बुद्धसौख्य विहारे च दारासंक्लेशदर्शने ।। पृ. ४१

गुह्यसमाज का समय ल. आठवीं शती है। मंजुश्रीमूलकल्प भी इसी समय का माना जा सकता है। इस दृष्टि से धान्यकटक का धर्मचक्रप्रवर्तन भी उत्तरकालीन कल्पना प्रसूत विचार प्रतीत होता है। असंग का एक और उद्धरण उल्लेखनीय है जहां यह कहा गया है कि बोधिसत्त्व महासत्त्व निम्न पांच धर्मों से युक्त होकर ब्रह्मचारी होता है - i) मैथुन के अतिरिक्त मैथुन से निस्सरण नहीं खोजता, ii) मैथुन त्याग की ओर उपेक्षक होता है, iii) उत्पन्न मैथुन राग को अधिवासित करता है, iv) मैथुन विरोधी धर्म से त्रस्त होता है, और v) अभीक्ष्ण मैथुन-समापन्न होता है। तारानाथ के अनुसार ३०० वर्ष तक तन्त्र परम्परा गुप्त रही। संभव है, यह काल असंग के बाद का काल रहा हो। उसके बाद पालकाल में ७-८ वीं शती में उसके प्रचार में वृद्धि हुई। यह समय गुह्यसमाज और हेवज्रतन्त्र का रहा है। उन ३०० वर्षों में बुद्ध का परम दैवत रूप, बोधिसत्त्वों की स्थापना, हारीति, चंडिका, सरस्वती आदि देवियों की कल्पना, स्तोत्र, धारणियों और मन्त्रों की संरचना, शून्यवाद की प्रस्थापना, शक्तिसाधना का बीजारोपण गुप्त रूप से होता रहा। इसे हम मन्त्रयान कह सकते हैं।

वज्रतन्त्र परम्परा

मन्त्रयान के बाद लगभग आठवीं शती से वज्रयान/वज्रतन्त्र परम्परा प्रचलित हुई जिसमें हठयोग, मन्त्र और मैथुन के साथ मद्य, मांस, मत्स्य और मुद्रा तत्त्व भी जुड गये। यहां प्रज्ञा स्त्री का और उपाय पुरुष का प्रतीक है। दोनों की युगनद्धता निर्वाण-प्राप्ति का साधन है। वज्रयान में यह मैथुनकर्म अपनी बहन, दुहिता, माता आदि सभी स्त्रियों के साथ खुला है। जो जितना मैथुनकर्म में लीन रहेगा उसे उतनी ही जल्दी गुह्य तथा वज्र की सिद्धि होगी।[१]। इसी वज्रयान परम्परा में आचार्य कम्पल, जालन्धर, इन्द्रभूति, सरोरुह हुए। उनमें कम्पल ने वज्रतन्त्र का प्रवर्तन किया। कम्पल के शिष्य अनंगवज्र की प्रज्ञोपायसिद्धि भी हेवज्रतन्त्र जैसा ही ग्रन्थ है। इन्द्रभूति के ज्ञानसिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ हैं। इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मींकरा को सहजयान का प्रवर्तक कहा गया है। सिद्ध सरहपा का भी नाम सहजयान के आचार्य के रूप में स्मृत होता है। वज्रयान के बाद यह सहजयान अस्तित्व में आया।

---

१. ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम् ।। २५।।
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम् ।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघुसिद्ध्येद्धि साधकः ।। २६।।
—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि

सहजयान और दोहाकोश

सिद्धों का उद्देश्य व्यक्ति की क्षमता को जाग्रत करना रहा है। अज्ञानता के कारण व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से सुप्त और प्रमत्त बना रहता है। उसमें भी सिद्ध,बुद्ध,महावीर, मुहम्मद जैसा ऊपर उठने का स्वभाव है पर उस स्वभाव का वह अनुभव नहीं कर पाता। जन्मतः हर व्यक्ति शूद्र है, सुप्त है। जाग्रत हो जाने पर वह शुद्ध बन जाता है, ब्राह्मण बन जाता है। सरहपा स्वयं ब्राह्मण थे और थे नालन्दा विश्वविद्यालय के प्राचार्य, महापण्डित, अगाध ज्ञानी। पर अनुभूति का जागरण हो जाने पर उन्होंने ज्ञान-मद को तिलांजलि दे दी और अहंकार मुक्त होकर, कोरे शास्त्रज्ञान को दर किनारे कर विशुद्ध निर्मलता का पाठ पढ लिया। इस निर्मलता का पाठ पढकर वे वज्रयान संप्रदाय में दीक्षित हो गये।

वज्रयान का तात्पर्य है वज्र जैसा कठोर आघात कर तुरन्त सिद्धावस्था प्राप्त कर लेना। वह क्रमिक आरोहण पर विश्वास नहीं करता और न अतीत की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं में विचरण करता है। वह तो वर्तमान में जीता है और अशान्ति से मुक्त होकर सहज हो जाता है। इसलिए इसे सहजयान कहा जाता है और वज्र की तरह कठोर चोट करने के कारण वज्रयान भी माना जाता है।

सरहपा के ग्रन्थों को पढने से यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं रहता कि वे एक अद्भुत क्रान्तिकारी महापुरुष थे जिन्होंने धर्म को लीक से हटाकर, निषेधात्मकता से मुक्त कर उसे विधेयात्मकता के खांचे में ढालने का साहसिक प्रयत्न किया है। अपने समय में प्रचलित सम्प्रदायों का खण्डन करते हुए कृत्रिमता और मुखौटे से अपने चेहरे को मुक्त किया है। उनकी दृष्टि में मन्त्र-तन्त्र मात्र प्रवञ्चक हैं। वे अशान्ति के उन्मूलक नहीं होते। अशान्ति तो समाप्त होती है महत्त्वाकांक्षा से दूर होकर। अन्तरात्मा की पवित्र आवाज पर और मौन धारणकर शून्यता में खो जाने पर। यही शून्यता परमात्म अवस्था है।

यह परमात्म अवस्था किसी धर्म की लीक पर चलने से नहीं मिलती, पण्डिताऊ से प्राप्त नहीं होती, वह प्राप्त होती है तथ्य को परखने से, सत्य को जीवन में उतारने से। इसलिए उनकी दृष्टि में नग्न रहना, केशलुञ्च करना, गंगास्नान करना, पीछी रखना आदि जैसे मात्र बाह्याचार साधन नहीं माने जा सकते परमपद प्राप्त करने के लिए। उसे तो क्रियाकाण्ड से मुक्त होकर सद्गुरु के माध्यम से अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना होगा। तभी वह सहज हो पायेगा। सहज होने के लिए स्वानुभूति चाहिए जो क्रियाकाण्ड में नहीं होती। सहजता में ही साधना होती है, सत्य का दर्शन होता है और ध्यान भावना पलती है।

ध्यान शरीर के बिना संभव नहीं होता। इस लिए शरीर वर्ज्य नहीं माना जाना चाहिए। शरीर का जीर्ण-शीर्ण होना तो उसका धर्म है। पर उसमें रहने वाला मन सर्वाधिक चंचल और उपद्रवी है। वह सांसारिक भोगों और अतृप्त वासनाओं की ओर दौड लगाता है। सहजयान में देह को तीर्थ माना गया है क्योंकि उसी के माध्यम से परमपद प्राप्त होता है और वही परमात्मा को देखने-सुनने का साधन है। इसलिए आत्महत्या जैसे घिनोने कृत्य से व्यक्ति को दूर रहना चाहिए। फ्रायड के शब्दों में आत्महत्या एक थानाटोस है जो मानसिक थकान और टूटन से होती है।

सरहपा की दृष्टि में मानसिक अशान्ति मन्त्र-जाप करने से दूर नहीं होती। मन्त्र-जाप संमोहन शक्ति पैदाकर साधक को भ्रम में ढाल सकता है पर शाश्वत् शान्ति प्रदान नहीं कर सकता, शब्दों की पुनरुक्ति से और संगीत की धुन बार-बार सुनने से शरीर में रासायनिक परिवर्तन हो सकता है, एक धोखा -सा दिखाई दे सकता है पर मन शान्त नहीं हो सकता। मन की शान्ति के लिए महत्त्वाकांक्षा आदि जैसे अशान्ति के कारणों को दूर करना होगा और मौन होकर निश्चेष्ट हो जाना होगा। तभी अन्तरात्मा में अनाहतनाद सुनाई देगा। उसी शून्यता की स्थिति में परमात्मा से मिलन हो सकेगा। आकांक्षाओं के त्याग से चित्त शान्त हो जायेगा। परम सत्य का यथार्थ रूप अवभासित हो जायेगा। उपचार के बिना रोग-शान्ति नहीं होती। रोग शान्ति के लिए और चित्त स्थिर करने के लिए साधक जब तक स्वयं ही स्वयं को नहीं जान लेता तब तक प्रज्ञापूर्वक दूसरे को वह मार्गदर्शक सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे को ले जाने वाली बात होगी।

सरहपा ने कहा कि पण्डित और पुरोहित प्रज्ञाशील नहीं होते, वे मात्र ज्ञान का बोझ लिये क्रियाकाण्ड को जीवित बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। सरहपा ने इसीलिए स्वानुभूति हीन ब्राह्मण पण्डितों की भरपूर आलोचना की है और उनकी भी जो ऐसे अनुभूतिहीन तथाकथित विद्वानों के पीछे दौड लगाते हैं। ऐसे पण्डित सत्य पर परदा डालते हैं और झूठ पर मिठास लगाकर उसे बेच देते हैं। इसलिए सत्य कडुवा होता है, दुश्मनी पैदा करने वाला होता है और झूठ मीठा जहर होता है, समझौतावादी होता है। सत्य कभी समझौतावादी नहीं होता, अंधा नहीं होता। वह समर्पण चाहता है। नग्न रहना और केशलुंच करना समर्पण के बिना कोई अर्थ नहीं रखता। सही नग्नता सम्यक् ज्ञान होने के बाद निर्दोषता उत्पन्न होना है। तभी अहिंसकता आती है, तभी पीछी रखकर जीवों की हिंसा से बचा जा सकता है। अन्यथा वह मात्र क्रियाकाण्ड होगा, वृक्ष में लगे फल को देखना मात्र होगा। अतः सरहपा औपचारिकता का निषेधकर सहज हो जाने की सलाह देते हैं।

उसी सहज में अन्तर्ज्योति होती है, हृदय होता है, आत्मा की पुकार होती है जो शुष्क क्रियाकाण्ड में कहाँ?

धर्म का सम्बन्ध जन्म से नहीं है, निजता की खोज से है जहां साधन और साध्य एक होता है, फलाकांक्षा नहीं रहती, तन्मयता रहती है, समग्रता रहती है। यदि यह सब नहीं है तो वह साधना मात्र क्रियाकाण्ड होगी। निर्जीवता से भरी हुई और बोझिलता लिये हुए क्रियाकाण्ड को ही साधना समझ लेना कोरी मूल होगी। ऐसे क्रियाकाण्ड से भरी यदि कोई उपासना है तो वह भी झूठी ही होगी। उसमें कोई जीवंतता नहीं होगी। वह तो एक खोटे सिक्के का ही रूप होगा जो बाजार में धडल्ले से चलता है। वहां निर्विचारता कहाँ, अनाहद नाद कहाँ? जीवन को यदि नाटक समझा जाये तो सहजता और निर्विचारता आसानी से आ जायेगी। उपद्रवी मन शान्त हो जायेगा, देह और परमात्मा के बीच रहने वाला भेद समझ में आ जायेगा। मन केवल स्वप्नों का जाल है, संस्कारों का स्कन्ध है जो देह और परमात्मा के बीच विभेदक रेखा खींच देता है। यहां सरहपा दूसरों से बिलकुल अलग-थलग हो जाते हैं। वे देह और आत्मा को द्वैत के रूप में नहीं देखते। उनकी दृष्टि में देह आत्मा का अभिव्यक्त रूप है जिसे समझने के लिए देह को छोडने की आवश्यकता नहीं है। बस, उसमें रमण न हो, आसक्ति न हो। अनासक्त भाव से देह का यदि उपयोग किया जाये तो परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। और परमात्मा का दर्शन अहंकारमुक्त स्वानुभूति के बिना हो नहीं सकता । स्वानुभूतिमय साधक ही धार्मिक माना जा सकता है।

स्वानुभूति-प्राप्ति में उपासना का भी महत्त्व है। पर वह उपासना मात्र शारीरिक आसन भरी नहीं हो। उसमें तो सद्गुरु के समीप बैठकर शुद्ध भाव से चिन्तन करना मुख्य उद्देश्य होता है जिससे चित्त शून्य हो जाये और उसमें एक नई ज्योति का प्रवेश हो सके। उसके आगे की सीढी है उपवास जिसमें सद्गुरु के पास बैठकर कुछ पाना होता है, वापिस लौटना नहीं। इसके बाद उपनिषद् की स्थिति आती है जिसमें मन गुरु के माध्यम से शून्यता में प्रवेश करता है। इसलिए उपासना व्यर्थ नहीं है। गुरु के पास बैठकर हम कौन हैं, किसलिए हैं, कहां से हैं और कहां जा रहे हैं आदि जैसे प्रश्नों पर शान्त होकर उपासना काल में विचार किया जाता है। यही विचार जीवंत ज्योति बन जाती है जहां सत्य की अभिव्यक्ति शुरु हो जाती है। फिर न कोई आग्रह रहता है, न कदाग्रह और न वह सत्यवादी होने का ढिंढोरा पीटता है। वह तो पूर्ण सहज-सरल होकर सत्य की खोज में ध्यान में प्रविष्ट हो जाता है।

परम्परा से देह को शत्रु माना जाता रहा है, घिनोना माना जाता रहा है पर सहजयान में उसे 'तीर्थ' कहा गया है। वह तो एक शुद्ध दशा है। संघर्ष है तो मन से जो अशान्ति का कारण है। मन से ही लोग हिन्दू-मुसलमान होते हैं और मन ही संसार में आसक्ति का कारण है तन परमात्मा से जुडा है, सत्य से सन्नद्ध है, परमात्मा के सौन्दर्य को उसी से देखा जा सकता है। पर मन है जो अवरोध पैदा करता है, ऊहापोह में पडा रहता है, देह और आत्मा को पृथक् पृथक् मानता रहता है। मन के जाते ही आत्मा और देह एक हो जाते हैं, देह आत्मा की स्थूल अभिव्यक्ति के रूप में प्रगट हो जाता है। आत्मा की पहचान के लिए देह का छोडना आवश्यक नहीं है। यह स्वयं छूट जाये तो छूट जाने दो, पर तपस्या के द्वारा देह से मुक्ति पाने का प्रयत्न करना उचित नहीं कहा जा सकता। जो हो उसे स्वीकार करो। मन के निराकांक्ष होने पर ही संसार के आवागमन से मुक्ति मिल सकती है।

सरहपा ने ऐसे धार्मिकों की घनघोर निन्दा की है जो आत्मानुभूति से परे होकर उपदेशक बन जाते हैं। वे परमात्मा को नहीं जानते फिर भी उसके अस्तित्व-अनस्तित्व पर अपने विचार व्यक्त करने लगते हैं। परम पद (परमात्मा) को जानना अपने अनुभव की बात है। स्वयं का अध्ययन करने के बाद ही उसे जाना जा सकता है। पहले जागो फिर जगाना यह सरहपा का उपदेश है।

झेन के क्षणबोध और सरहपा के सहज-योग में कोई विशेष अन्तर नहीं है। झेन कहता है - क्षण-क्षण जियो। इस क्षण पर अतीत का स्पर्श न रहे। उसने एक उदाहरण दिया कि जिस तरह दर्पण किसी वस्तु के सामने आने पर उसे प्रतिबिम्बित कर देता है और उसके दूर होने पर दूसरी वस्तु को प्रतिबिम्बित होने के लिए स्थान बना देता है उसी तरह मन पर स्मृति का कोई बोझ नहीं हो और न भविष्य की कोई आशायें हों। यही ध्यान है, यही शुद्ध जीवन है। सहज-योग में भी स्वाभाविक रहने की बात कही गई है। जीवन जैसा है वैसा जिओ। उसमें कृत्रिमता न आने दो। आदर्श को मत ओढो। झूठ को झूठ और सत्य को सत्य कहो। यही सहजता और निजता है। ऐसे जीवन में किसी तरह का कोई मुखोटा नहीं होगा। बस, जो है उसे स्वीकार कर लो, जो मिले उससे संतुष्ट रहो। कोई अभ्यर्थना न करो। सब कुछ क्षण-भंगुर है। इसलिए किसी भी वस्तु में मन को बांधो मत, सहज हो जाओ। सहजयान की यही कल्पना है।

सहज का अर्थ है अपने ही स्वभाव से उद्भूत जिसपर बाहर से कुछ भी न थोपा गया हो। परम्परागत धर्म, सम्प्रदाय, जाति, भाषा, व्यक्ति के जन्म होने के बाद उस पर थोप दी जाती है फिर भी उसकी निजता का स्वभाव ढक नहीं पाता। उसकी खोज साधक

को अपने ही भीतर करनी पडेगी। सुख और दुःख के रूपों को समझना होगा। उस समझ से जो स्वाद-रस मिलेगा वह महासुख होगा। उसमें न दुःख होगा, न सुख होगा। सुख से उस का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो एक शून्य दशा है, उसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। वह शाश्वत् है, अलौकिक है। बाहर का सुख इन्द्रियज है, आन्तारिक सहज सुख अतीन्द्रियज होता है, वर्तमानज होता है। सरहपा ने कहा कि जिस तरह घोर अंधकार में चन्द्रमणि प्रकाश फैला देता है उसी तरह अपूर्व महासुख क्षणभर में ही संपूर्ण दुश्चरित्रों का नाश कर देता है।

घोरान्धारे चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ ।
परम महासुह एक्कु खणे दुरि आसेस हरेइ

यह महासुख तब मिलता है जब साधक का मन विलीन हो जाता है, तब वर्णभेद दूर हो जाता है, समरसता आ जाती है और सारे बन्धन दूर हो जाते हैं। मन का काम विचार करना है, सोचना है जो बाहर से आता है। मन बडा संवेदनशील होता है। विचारों की तरंगों को वह पकडता रहता है। उनसे मुक्त होने पर ही मन शान्त हो पाता है। मन शान्त करने के लिए सरहपा की दृष्टि में कृत्रिम क्रियायें (नग्न रहना, सिर के बल खडे होना आदि) व्यर्थ होती हैं। उसके लिए तो जीवन को बिलकुल प्राकृतिक बना देना होगा। इसलिए वे तो यहां तक कह देते हैं कि भला ध्यान करने से कहीं मुक्ति होती है? ध्यान में हुआ जाता है, किया नहीं जाता। ध्यान कृत्य नहीं, बोध है। जो कृत्य है वह बन्धन का कारण होता है। इसी संदर्भ में सरहपा यह भी कहते हैं कि तीर्थ दर्शन करना, गंगा में नहाना भी मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण है परोपकार करना। पर शर्त यह है कि यह परोपकार भी तभी सार्थक होगा जब मन शान्त होगा, सहज होगा, दृष्टि-शून्य होगा।

सुख में अहंकार की क्षणमात्र के लिए तृप्ति होती है, अहंकार दर किनारे होता है। दुःख का कारण होता है अहंकार। महासुख में यह अहंकार सदा के लिए दूर हो जाता है। शून्य में सुख मिलता है । उपनिषद् में महासुख के स्थान पर आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। महासुख सुख से ही निकलता है, सुख महासुख की ही एक तरंग है, उसी का सजातीय है।

सरहपा चौरासी सिद्धों में अन्यतम हैं। चौरासी सिद्ध चौरासी योनियों के प्रतीक हैं। अर्थात् प्रत्येक योनि सिद्धावस्था की अधिकारिणी है। प्रत्येक जीव सिद्ध हो सकता है। महावीर ने भी इसीलिए कहा कि तुम्हीं अपने मित्र हो और तुम्हीं अपने शत्रु हो। सब कुछ तुम्हारे हाथ में है।

सहजयान में आचार-व्यवहार पर कोई जोर नहीं। जहां जो सुविधापूर्ण है, वही उसका आचार-व्यवहार है। उसका कोई मूल्य नहीं। असली मूल्य है शून्य निरंजन सकल विकल्पों से रहित शून्यावस्था का, अन्तर्ज्योति का। यह अन्तर्ज्योति ही धर्म है जो निषेध परक है। निषेध के बाद जो बचता है वही दृष्टा है - न च सो न च अञ्ञो। क्रियाकाण्ड धर्म का विधेयात्मक रूप है, यथार्थवादी रूप है।

सहजयान दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार विष का शोधक विष खाकर भी मरता नहीं है, उसी प्रकार योगी सांसारिक विषयों को भोगता हुआ भी संसार के बंधनों में नहीं पडता।

जिम विस भक्खइ विसहि पलुत्ता
तिम भव भुज्जइ भवहि ण जुत्ता ।। (तिलोपा)

अज्ञानियों के लिए यह संसार जहर हो सकता है पर बुद्धिमानों के लिए तो वह अमृत है। वह संसार का भोग करता है, पर बंधता नहीं है। जो भोगी होता है, वह बंध जाता है।

सहजयान में किसी प्रकार के तप, नियम, स्नान, उपवास आदि को उपयोगी नहीं माना गया। वहां गुरुकृपा और बोधिचित्त ही वास्तविक उपाय हैं। विधि-निषेध सब कुछ निरर्थक हैं, शरीर ही आद्य और अन्त्य साधन है। प्रतीत्य समुत्पन्न सब कुछ कृत्रिम होने के कारण मिथ्या हैं। मैत्रेयनाथ के स्वाभाविक काय की अवधारणा यहां स्मरणीय है। हठयोग की ओर सहजयान का झुकाव दिखाई देता है।

वज्रतन्त्र परम्परा से ही सहजयान उन्मेषित हुआ है। हेवज्रतन्त्र और योगरत्नमाला में इस तथ्य के पोषक अनेक स्थल दृष्टव्य हैं। सरहपाद, शबरपाद आदि सिद्धों ने गीतों और दोहों के माध्यम से सहजयान की मान्यताओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। विशेष रूप से सरहपा की कृतियां अत्यन्त उपयोगी हैं। इसी उपयोगिता की दृष्टि से यहां हम सरहपा के दोहाकोश का गीतिभाग हिन्दी अनुवाद के साथ परिशिष्ट में प्रस्तुत कर रहे हैं जो राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित संस्करण पर आधारित है। उसमें प्रतिपादित विषयों का संकेत मात्र हम कर रहे हैं कोष्ठक में पृ.क्र. देकर। पाठक विस्तार से मूल ग्रन्थ को देखकर जिज्ञासा पूरी कर सकते हैं। कतिपय विद्वानों ने सरहपा को हेवज्रतन्त्र के रचयिता के रूप में भी प्रस्थापित किया है। इस दृष्टि से भी यह अध्ययन उपयोगी होगा।

षड्दर्शन खण्डन - ब्राह्मण - वेद-ज्ञान किये बिना पारायण करते, कुशग्रास, होमाग्नि-भेंट, नेत्र में धुआं, एकदण्डी-त्रिदण्डी साधु, धर्म-अधर्म को न समझना-१-३, होम से मुक्ति, वर्णभेद से परमार्थ साधना, स्वप्न-सुख में अनुराग, मायाजाल में मृगमरीचिकावत् लिप्त - च. २३-२६, ब्राह्मण यज्ञनिंदा - च. २३. **पाशुपत**-भस्म लपेटे, जटालु, दीप जलाये बैठे, घर में घण्टी बजाते, आसन में विधवा भिक्षुणियों को पढाते, दक्षिणा लेते - ४-५, **जैन** - दीर्घनख, मलिनवस्त्रधारण, नग्नत्व-दिगम्बरत्व, केशलुञ्चन, अज्ञानता पूर्वक मोक्षोपदेश, मयूरपंख की पीछी रखना-६-९, **बौद्ध** - स्थविरवादी और सूत्रान्तपाठी भिक्षु ध्यान साधना करते हुए भी चित्त को केन्द्रित नहीं करते, महायानी - मूल ग्रन्थ की व्याख्या, मण्डल चक्र पर ध्यान, चतुर्थ ध्यानावस्था (आकाशधातु पर ध्यान), मतभेद, सहजता छोड निर्वाण-पथ की ओर दौडना, परमार्थ-प्राप्ति न होना, सन्तुष्ट होने पर मोक्ष कैसे? दीप, नैवेद्य, मन्त्र, तीर्थ, अभिषेक आदि सार्थकता भी क्या? - १४-१५, पण्डित की आलोचना - ६८-७६, पण्डित मुझे सुनें-गुनें - ९३, पण्डितों के हृदय विषसिक्त हैं - उ. ४, धर्मधातु की स्थिति, परमतों का खण्डन - उ. ४-११, अ. १-२.

चित्त - चित्त छोडो - सूर्य-चन्द्र वहां नहीं पहुंचते - २३, अज्ञानी चित्त के मूल आधार को नहीं देखते। वे निरर्थक सहज में दृष्टा, दृश्य, दर्शन की कल्पना करते हैं - ३६, चित्त के विविध रूप पहचानो, वही महासुख है - ३७, चित्त स्वच्छ हो जाने पर मन्त्र-तन्त्र की आवश्यकता नहीं - ३९, चित्त-मुक्ति होने पर ही निर्वाण प्राप्ति संभव है और कर्ममुक्ति होने पर ही चित्त-मुक्ति होती है - ४०, योगिनियां चित्त-सिद्धि करती हैं - ८७, चित्त-विशुद्ध होने पर ही परमपद मिलता है - १०८, बंधा व्यक्ति घूमता है, मुक्त निश्छल होता है ऊंट के समान, चित्त की निर्मलता होने पर सहजावस्था होती है। वही चित्तदेवता है - २१-२८, ११८-१२८, चित्त सकल बीज है संसार-निर्वाण का, इच्छाफल जैसा उसका सत्कार करो, चित्त बंधे को छोडता है, अज्ञानी जिससे बंधते हैं ज्ञानी उसीसे छूटते हैं - ४२-४३, चित्त स्थिर हो जाने पर बंधन टूटते हैं तब शूद्र-ब्राह्मण जैसा वर्णभेद समाप्त हो जाता है - ४६, चित्त विशुद्ध है - बोधिचित्त उसी को कहते हैं। महायानी तान्त्रिक परम्परा में चित्त-विशुद्धि की चार अवस्थायें होती हैं- आनन्द, चरम आनन्द, निरोध आनन्द और सहजानन्द - ११, काय-वाक्-चित्त में जब अन्तर समाप्त हो जाता है तब चतुर्थावस्था प्राप्त हो जाती है - उ. ८३; आसक्ति - भ्रम छोडो। यही ज्ञान है, और कुछ नहीं - १६, आकाश विशुद्ध है पर अपने दृष्टि-भेद से वह काला होता जाता है - ३४, विशुद्धि के बिना शून्यता का अभ्यास जहाज पर वापिस आये पक्षी के समान होता है - ७०, इन्द्रियासक्त न हों अन्यथा मत्स्य, हाथी, भ्रमर

जैसी विकट स्थिति में फंस जाओगे - ७१. चित्त-विकार से व्यक्ति की भावनाओं का पता चल जाता है - ७२, सिद्धि-प्राप्त न हो तो गृहवास छोड भिक्खु हो जाना चाहिए- १११.

ध्यान - स्थविरवादी भिक्षुओं की ध्यान-प्रक्रिया की आलोचना - १०, मण्डलचक्र पर ध्यान - ११, आकाशधातु का ध्यान चतुर्थ ध्यान है - ११, सूर्य-चन्द्र योगी के साथ रहते हैं वे क्रमशः ललना, रसना हैं - २५, ध्यान से मोक्ष मायाजाल है - ३२, ध्यान-प्रक्रिया - ६६, विषय-रमण के रहते ध्यान कहां? - ६७, चित्त स्वच्छ होने पर मन्त्र-तन्त्र की कोई आवश्यकता नहीं - ३९, समतावृत्ति हो - गुण-दोष को समान मानो- ७४, समचित्तता हो। तिल-तुष मात्र शल्य न हो - ७५, यह ऐसा है वैसा है मत सोचो - ७६, द्वैतग्राही बोधिचित्त को छोडकर पाप करता है - १५, अद्वय स्वभाव में महामुद्रा का वास रहता है - ७. त्रिलिंगी मुद्रा में समरस हो, श्मशान में बैठकर चिताचक्र शीतल करें, हीन धर्मों का आचरण करें - उ. ४४-५०, व्यालयोग - ७१, निर्विकल्प चित्त ख (आकाश) समान है - उ. ७३.

महासुख - सहज ही महासुख है - २३. महासुख में आदि, अन्त, निर्वाण कुछ भी नहीं - २७, चित्त के विविध रूप पहचानना ही महासुख है - ३७, अचित्त हो जाने पर महासुख है - ७८, सहज महासुख को न जानने वाला मृगमाया मरीचिवत् नष्ट हो जाता है - ९१, गोप्य कुछ भी नहीं - ९२-९३, कमल-कुलिश के बीच महासुख कौन नहीं पायेगा? - ९४, सहज महासुख गंभीर है - ९६, परम महासुख दुरितहारी है - ९७, कुदृष्टियों के दूर होने पर वह प्राप्य है - ९९.

परमपद - इन्द्रियां विलीन आत्मभाव - उ२९, परम ध्यान - ३०, स्वानुभव- ३१, भाव-अभाव का भी बंधन होगा - ३१, निज स्वभाव का ज्ञान होने पर धर्म-अधर्म सब कुछ लुप्त हो जाता है - ३८, हृदय हृदय में विलीन हो जाता है, धूलि धूलि में - ७३, गुण-दोष में कोई अन्तर नहीं - ७४, समचित्तता हो, निःशल्य हो - ७५, यह ऐसा-वैसा है, मत सोचो - ७६, अचित्त-विचारहीन हो जाओ - ७८, योगिनी चित्तसिद्ध तथा सहजज्ञानी होती हैं, अभेदक भी - ८७, निरक्षर होना या अक्षर समझना - ८८, शरीर के भीतर अशरीर छिपा है जो जानेगा वह पा लेगा - ८९, निरक्षरता-अनाम - ९०, स्व-पर का भेदभाव करना - १००, अद्वैत - अनुत्तर - ७६-८३, यहां पुण्य-पाप नहीं, पंचकाम गुणों के उपयोग से ही प्राप्य है, वह शून्य-निरंजन है - १३८-१४८, अनासक्ति - १३८-१४८, अद्वैत-परमपद साधना - घर में रहते हुए, सहजयान - १११-१३.

सहजयान - सहज छोड निर्वाण की ओर दौडना निरर्थक है - १३, इससे न निर्वाण मिलेगा और न परमार्थ, तीर्थाटन वगैरह भी व्यर्थ है - १४-१५, घर में रहते हुए भी सपत्नीक भोग भोगते हुए निरासक्त होकर रहा जा सकता है - १९, १९१, १२८, सहज न भाव है न अभाव - २०, सहज से ही महासुख की प्राप्ति होती है फिर भी वह संसार ग्रहण नहीं करता - २९, सहज गंभीर है, गुह्य है, महासुख है - २१, वह ध्यान की वस्तु नहीं - अकथनीय है - निज स्वभाव है - २२. मन्त्र-तन्त्र निरर्थक हैं, सहज ही महासुख है - २३, खाओ, पीओ, इन्द्रियसुख भोगो, मण्डलचक्र भरो - २४, सहज में दृष्टा, दृश्य, दर्शन की कल्पना व्यर्थ है। चित्त के मूलरूप को देखो - ३६, देखो, सुनो, स्पर्श करो, खाओ, सूंघो, विवाद छोडो, विचार छोडो, अकेले रहो - ५५, विषयोग-भोग करते हुए भी योगी उससे लिप्त नहीं होते - ६४, वासना हीन होना आवश्यक है - २९-४८, सहजावस्था - ७८-८३, सर्वव्यापकता जो दृष्टिहीनों को नहीं दिखती - च. ३; सहज एक स्वभावता है जलधरवत् - ५-६; समुद्रजल - जलधर के मुख में जाकर मधु हो जाता है वैसे ही परमार्थ के इन्द्रियविषय भी मधु हो जाते हैं - ११, अवाच्य में दुःख नहीं, स्वभावचित्त में भुवनिर्माण पंक न हो - १८, महायान का सार - ६६, महामुद्रा- ४०, रति से संबद्ध होना - ४५, षोडशी रतिकान्ता की विशेषता - ४३, तान्त्रिकी सहित गुह्य-सेवन - ४४, दीप-सा प्रकाश - सहजयोग, महामुद्रा, त्रिकायचित्त में - ३. स्वसंवेद्य प्रकाश - अ. ४, योगप्रदीप, निर्विकल्प स्मृति - ६, महामुद्रा महासुख - ७, विषयातीत निर्विकार - आशय - १३, सहज का ध्यान करो, चित्त की एकाग्रता की भी आवश्यकता नहीं - ४५, चित्त स्थिर होने पर सहज आता है- ४६, समरसता यहीं आती है - ४६, यहीं गंगा, यमुना, प्रयाग वाराणसी है, देह जैसा कोई तीर्थ नहीं, अन्तर छोडो, प्रवाह में मत पडो - ४८, कुलहीन की पूजा करो, ब्रह्मा, विष्णु सभी यहीं गर्भित हो जाते हैं - ५०, ग्रन्थवाचक भी संसार से मुक्त नहीं हो पाते, अभिमान टूटता है, संसार मायामय है, वहां ध्यान से क्यों बंधे हो, उत्पाद-विनाश युक्त संसार है - ५१-५४, बालकवत् विचार छोड दो और गुरु उपासना करने पर सहजता पालो - ५५-५७, बिना अनुभव को पाये सहज साध्य नहीं - ६३, आकाश के समान सहज स्वभावी हो - ७८, काय-वाक्-चित्त में अन्तर न होने पर सहज भाव प्रगट होता है - ८३, सहज में रागादि भावों का न भाव होता है न अभाव-यथेच्छ खाओ-पीओ - ८५, अभिमान के कारण तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता। वह दैत्य के समान है - ३५.

गुरुकृपा - गुरुकृपा से ही ज्ञानोपलब्धि होती है, सर्वज्ञता मिलती है - १७-१८, गुरुवचनों पर विश्वास करने से तत्त्वज्ञान होगा - ३७, निज स्वभाव की व्याख्या दूसरा नहीं कर सकता पर गुरुवचन उसे स्पष्ट कर सकते हैं - ३८, चित्त के

विशुद्ध होने पर ही गुरु उपदेश कार्यकारी होगा - ३८, गुरु का उपदेशामृत पान जो नहीं कर पाता वह यों ही चला जाता है - ५६, गुरु-उपदेश से अजरामर अवस्था मिलती है - ६८, महासुख गुरुकृपा से ही मिलेगा - ९५.

तत्त्वज्ञान - परमार्थ को जानो - ६१, परमार्थ (अप्प) अन्दर है, बाहर नहीं। वह पति को देखती है, पर पडौस में पूछती है - दाम्पत्यभाव - ६२. गुरु के मात्र कहने से क्या होगा जब तक उसे न जानो और न अनुभव करो। पर सहज को जान नहीं पाते - ६३, बिना अध्यवसाय के संसार नहीं टूटता - ८५, एक ही देव आगमों में विविध वर्णित है - ६९, दाम्पत्य भाव - ८०, परमार्थ - परमेश्वर निष्कलंक है - ८१, भव-भ्रमण दूर करने पर ही वह प्राप्य है - ८२. संसार का फल है - किसी का उपकार न करना, दान न देना। अतः इसे छोड देना चाहिए - अन्तवाद को भी - ११२, कर्म से मुक्त होने पर ही निर्वाण मिलता है - ४२. संसार अक्षर से दुःखी है - ८९, निर्वाण और संसार में कोई अन्तर नहीं - १०२, बोधि-प्राप्त होने पर संसार- निर्वाण का अन्तर समाप्त हो जाता है - १०३, चित्त-मुक्ति से निर्वाण मिलता है - ४०, विषयोपभोग करते हुए भी योगी उसमें लिप्त नहीं होते - ६४. वज्रचित्त, क्रिया रहित चित्त, महासुख, गुह्यवचन, वज्रज्ञान, समरसता, महामुद्रा, रति से संबद्ध, षोडशी रतिकान्ता की विशेषता, तान्त्रिकी सहित गुह्य सेवन, प्रज्ञा-उपाय की स्वभाव-समता, काय-धर्म-संभोग, निर्माण - स्वभाव, सुख, महासंभोग- उप. २०-६३.

मण्डलचक्र - ११, ९८, २४-२६ च. १६, करुणा - १५-२०, १०७, शून्यता तरु भी करुणा कार्य से ही हरा-भरा रहता है - ११०, शून्यता शुद्ध रूप है, भव-पंक में आसक्ति शूकर जैसी है, विमलचित्त में कोई दोष नहीं है - च. ३८. अमनसिकार ध्यान निर्मल है, अनासक्त स्वभाव - च. ३१-३७, मिथ्याज्ञान - च. १-१८. समरसता - ५५-५६, भोग में योग - स्व-पर-भेदविज्ञान - ६३-७१, सहजयान - १११-११३. स्थविरवाद - १०, महायान - ११, शून्यवाद - १२, आली- १६, सूर्य-चन्द्र, ललना-रसना - २५, वज्रतथागत - पुण्डरीक, रत्न-कर्म - २६, बोधिचित्त- च. ३०-३७.

कालचक्रयान

सहजयान के पूर्व कालचक्रयान का उद्भव हुआ लगभग १० वीं शताब्दी में। कालचक्रतन्त्र और उसकी विमलप्रभा टीका इसका आधारभूत ग्रन्थ है। इसी के आधार पर नारोपा ने सेकोद्देशटीका लिखी थी। मञ्जुश्री इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। इसमें शून्यता और करुणा और अद्वयतत्त्व, प्रज्ञात्मक शक्ति से आपूरित रहते हैं। कालचक्र

यहां आदिबुद्ध के रूप में प्रस्थापित हुए हैं। असंग ने इसका उल्लेख किया है, करण्डव्यूह में भी कालचक्र का उल्लेख आया है। कालचक्र का सम्बन्ध कालतत्त्व से माना जाता है। इसे वज्रतन्त्र का भेद भी माना जा सकता है।

कालचक्रयान को मृत्यु से बचानेवाला या मृत्युचक्र से रक्षा करने वाला यान माना जाता है। सेकोद्देशटीका के अनुसार 'का' से शान्तकारण, 'ल' से लय, 'च' से चंचलचित्त, तथा 'क्र' से क्रमबंधन अर्थ द्योतित होता है। यह सतत कालचक्र है, अद्वय है और अविनाशी है। श्रीकालचक्रमूलतन्त्र, परमार्थ सेवा आदि ग्रन्थों में इस शरीर को ही सम्पूर्ण विश्व का आवास माना है। यह यान योग पर अधिक ध्यान देता है। सेकोद्देशटीका में चार प्रकार का योग निर्दिष्ट है - विशुद्धियोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इसमें चार काय हैं। आदिबुद्ध को ही इस यान में कालचक्र कहा जाता है जो शिव-शक्ति की युगनद्धता के प्रतीक हैं।

वज्रतन्त्र की दार्शनिक भित्ति

बौद्ध तन्त्र और शैवतन्त्र परम्पराओं में **आदान-प्रदान** होता रहा है। शैवतन्त्र परम्परा कदाचित् बौद्ध तन्त्र परम्परा से पूर्वतर रही है। यद्यपि बौद्धतन्त्र परम्परा के बीज तथागत बुद्ध के जीवनकाल में घटित अनेक घटनाओं में संवलित हैं पर वे उतने अधिक विकसित नहीं हो सके जितना विकास शैवतन्त्र का हुआ है। ७ वीं शताब्दी तक शैव तन्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था। गुह्यसमाजतन्त्र और मंजुश्री - मूलकल्प को तीसरी-चौथी शताब्दी की रचनायें मानने वाले विद्वानों की दृष्टि में शैवतन्त्र ने बौद्ध तन्त्र से बहुत कुछ लिया है पर जो विद्वान इन ग्रन्थोंको ८-९ वीं शती का मानते हैं वे उन्हें शैव-शाक्त तन्त्र परम्परा से प्रभावित मानते हैं।

दोनों तन्त्रों के कतिपय समान तत्त्व हैं - गुरु का महत्त्व, दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मण्डल, चक्र, मुद्रा, नाडी, शक्ति-साहचर्य आदि। इन तत्त्वों को जैन परम्परा में भी देखा जा सकता है। पर हर परम्परा ने उन्हें अपने दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर ढाल लिया है। बौद्धधर्म के प्रारम्भिक रूप में तृष्णाक्षय उद्देश्य था साधक का । पर महायान में उसका स्थान करुणा ने ले लिया और जनसेवा की महत्ता को सर्वोपरि रखा। वज्रतन्त्र परम्परा में इस करुणा का ही इतना अधिक विकास हुआ कि पंच मकारों की खुली छूट हो गई, स्त्री द्वारा संभोग की अभ्यर्थना करने पर उसे महाकरुणा के नाम पर विहित माना गया और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दमित करना सिद्धान्त बाह्य स्वीकारा गया।

वज्रतन्त्र में वज्र का अर्थ शून्यता है, प्रज्ञा है और तन्त्र का संबंध प्रज्ञोपाय से है। 'हे' का अर्थ महाकरुणा है। हेवज्रतन्त्र का यही विषय है। तन्त्र का अर्थ है उपाय, मार्ग

या विधि। वह तीन प्रकार का है - हेतुतन्त्र, फलतन्त्र और उपायतन्त्र,। वज्रकुलीन सत्त्व हेतु है, हेवज्रमूर्ति फल है और उपाय मार्ग है। हेवज्रतन्त्र का सामर्थ्य बहुविध वर्णित है - दृष्टि, आकृष्टि, प्रतीकज्ञान, स्तम्भन, उच्चाटन, सैन्यस्तंभन आदि। वह योगिनियों की उत्पत्ति और स्थिति का कारण (महोपाय) है, ज्ञान-विज्ञान का जनक है और देवताओं की उत्पत्ति का आधार है (हे. १.१.४-१०)।

तन्त्र प्रश्नात्मक शैली में रचित हैं। हेवज्रतन्त्र 'एवं मया सुतं' से प्रारम्भ होता है और तथागत तथा वज्रगर्भ के बीच हुए संवाद से उसकी व्याख्या की जाती है। विज्ञान भैरव तन्त्र का प्रारम्भ देवी के प्रश्न से होता है जो शिव से किया गया है पर हेवज्रतन्त्र में तथागत को वज्रयोगिनियों के साथ घूमता हुआ बताया गया है। वहां प्रश्नकर्ता वज्रगर्भ हैं। पर बीच-बीच में योगिनियां भी प्रश्न करती हुई दिखाई देती हैं। ये प्रश्नोत्तर गुरु और शिष्य के बीच हो रहे हैं जिनमें शिष्य का समर्पण भाव स्पष्टतः झलक रहा है। तन्त्र के साथ योगिनियों का जुडाव इसी समर्पण भाव का द्योतक है जो स्त्रियों में अधिक संभव है। इस समर्पण में साधक द्वैत के पार जाकर योगिनियों के साथ अद्वैत भाव की स्थापना करता है। इस स्थापना में नैतिकता आवश्यक नहीं। वह अतिनैतिक बन जाता है और स्वच्छन्दता पूर्वक पंच मकारों का प्रयोग करता है। वह नैतिकता को आवरण मानकर चलता है। सहजता वश जो भी भाव आता है उसे पूरा कर लेता है और इसी के माध्यम से चित्त को बदलने का प्रयास करता है, मन को अ-मन करने में जुट जाता है। संसार की संरचना हमारे मन की संरचना है। इसलिए मन को उससे ऊपर उठाया जाता है।

योग के बाद तन्त्र का विकास हुआ है। योग में वृत्तियों का दमन करना पडता है और चित्त के विपरीत चलना पडता है। उदाहरणार्थ चित्त में गहरी वासना भरी हुई है। योग उस कामवासना को दबाना चाहेगा, शान्त करना चाहेगा पर तन्त्र सजगता के साथ उसमें उतरने के लिए प्रेरित करेगा। तन्त्र में काम-ऊर्जा का बहुत उपयोग हुआ है। इसलिए वह उसे स्वीकारने के लिए आग्रह करता है। इस दृष्टि से योग निषेध है और तन्त्र विधेय है। वह संघर्ष में विश्वास नहीं करता। संघर्ष तभी होता है जब अहंकार होता है। इसलिए तन्त्र कहता है कि अहंकार के प्रति अपना बोध जाग्रत कर लो और फिर उसे स्वीकार-कर लो। वह मैथुन को भी पवित्र मानता है और उसमें ऐसे उतरता है जैसे मंदिर में प्रवेश कर रहा है। उस प्रवेश को वह पवित्र मानता है। पर इस स्थिति तक आते-जाते उस साधक का अन्तःकरण भी पवित्र हो जाना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब काम वृत्ति को भलीभांति समझ लिया जाये।

तन्त्र परम्परा में योगनियों का सम्बन्ध अधिक रहता है। वह शायद इसलिए कि उनमें पुरुष के समान आक्रामक वृत्ति नहीं रहती। योग वस्तुतः पुरुषवृत्ति का प्रतीक है और तन्त्र स्त्रैणवृत्ति का। इसलिए योग ग्रन्थों में कहीं भी देवियों का उल्लेख नहीं आता। पर तन्त्र ग्रन्थो में उनके बिना साधक की गति आगे नहीं बढती। ग्रहणशीलता समर्पण वृत्ति, अहिंसकता और निष्क्रियता जितनी स्त्री में होती है उतनी पुरुष में नहीं रहती। इसलिए तन्त्र में उन्मुक्त यौन संचरण होता है जो असामाजिकता को जन्म देता है। तन्त्र परम्परा के इतिहास से यह तथ्य पुष्ट भी होता है।

वज्रतन्त्र परम्परा में साधक जब ध्यान करता है तो वह श्वास-प्रश्वास पर चित्त केन्द्रितकर आनापानसति का अभ्यास करता है। शून्य का साक्षात्कार कर यह सत्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है कि वह यह जान ले कि भीतर वह आकाश की तरह शून्य है। तब उसे कोई भय नहीं रहेगा। मृत्यु से भय दूर करने के लिए श्मशान में बैठकर चिता पर ध्यान किया जाता है। ध्यान के लिए कुछ केन्द्र भी होते हैं। मुख्य रूप से तीन केन्द्र हैं - नाभि, हृदय और मस्तिष्क। इनके लिए मेरुदण्ड भी एक ध्रुव है।

तन्त्र परम्परा में **कपाल** का उपयोग किया जाता है। हेवज्रतन्त्र में भी इसका प्रयोग हुआ है। साधक तान्त्रिक उस पर आंख बंदकर एकाग्रता साधता है, बाहर के कपाल की कल्पना भीतर करता है और चेतना केन्द्रित करता है। इसमें **संभोग** का भी उपयोग बताया गया है आध्यात्मिक मिलन के लिए। अस्तित्वगत रूप से नाभि बुनियादी केन्द्र है इसके लिए। तन्त्र ने इसी काम केन्द्र का उपयोग किया है। रूपान्तरण के लिए इसी का प्रयोग किया जाता है और इस प्रयोग में नीतिवादी शिक्षा काम नहीं करती। तन्त्र के अनुसार गहरे काम-संभोग में ध्यान असली ढंग से घटित होता है, इसलिए कि वह स्वाभाविक है। अतः उसे पवित्र भी माना गया है। इस स्वाभाविकता और पवित्रता में कोई दमन या प्रतिरोध नहीं होता। कामालिंगन में अद्वैत स्थिति आने पर अहं भाव निर्मूल हो जाता है, अपराध-भाव समाप्त हो जाता है। धीरे-धीरे कामवासना रूपान्तरित हो जाती है और स्वयं द्वार बनकर कामुकता समाप्त कर देती है। फिर धीर-धीरे वह समाधि का रूप ले लेती है - तादात्म्य होने की यह सर्वोत्तम विधि है वज्रतन्त्र परम्परा में। अतीत स्मरण और प्रतिक्रमण भी इस साधना में उपयोगी माना जाता है। यहां दमन नहीं, सजग अभिव्यक्ति ही मुख्य केन्द्र बिन्दु है। ऊर्जा को शुद्ध करना उसका उद्देश्य है, निषेध करना उद्देश्य नहीं है। बस, यहां स्वयं का प्रामाणिक होना नितान्त आवश्यक है। पर यह

हो नहीं सका। इससे अनाचार पनपा और समाज धर्म के नाम पर उन्मुक्त यौनाचार में फंस गया।

तन्त्र परम्परा में **शरीर** को अधिक महत्त्व दिया गया है, वहीं से उसकी यात्रा प्रारंभ होती है। यह इसलिए कि आत्मा तो दृश्य है नहीं। जो दृश्य नहीं है उससे शुरुवात कैसे की जा सकती है? शरीर दृश्य है अतः तन्त्र उसे भी काम के समान समग्रता पूर्वक स्वीकार करने की सलाह देता है। शरीर ही प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहता है और व्यक्ति उसी की परीक्षा करता रहता है। तन्त्र शरीर को अपवित्र नहीं मानता बल्कि उसे शुद्ध, निर्दोष और पवित्र मानता है। काम-ऊर्जा भी उसी में रहती है जो सारे सृजन का स्रोत है। काम निम्नतम केन्द्र है जिस पर मनुष्य जीवित है। ध्यान के माध्यम से इस ऊर्जा को ऊपर की ओर गतिशील बनाया जाता है जो उच्चतम सहस्रधार चक्र तक पहुंच जाती है। इस पहुंच में आन्तरिक चेतना बोधमय और निरासक्त रहती है।

ध्यान की सारी विधियां मन के पार जाने की प्रक्रियायें हैं। मन के साथ तादात्म्य स्थापित करने में ही बुराईयां शुरु होती हैं। फिर मन शरीर पर भी अधिकार करने लगता है। इससे वचने के लिए ही ध्यान की विधियों का उपयोग किया जाता है। इन विधियों में सार्थक और भावात्मक ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। अ ब स आदि अक्षरों से निसृत ध्वनि पर चिन्तन किया जाता है और फिर वह ध्वनि एक विशेष भाव के साथ जुड जाती है। मन्त्र का विकास भी इसी प्रक्रिया के साथ हुआ है। सभी मन्त्र अर्थहीन ध्वनियां हैं। उन ध्वनियों पर आंख बन्द करके जब विचार किया जाता है तब वे नकारात्मक लगती हैं। वह नकारात्मक ध्वनि ही अनाहत कहलाती है। ध्वनि दूसरे से सम्बन्ध स्थापित कराती है और अनाहद अवस्था स्वयं में पहुंचने का साधन सिद्ध हो जाती है। अन्तर्यात्रा के लिए निर्ध्वनि को काम में लाया जाता है। मौन भी निर्ध्वनि का ही संबाहक है। मौन का अर्थ है ही संवादहीनता।

तन्त्र स्वीकृतिमूलक है, वह संघर्ष पर विश्वास नहीं करता, सजगता पर विश्वास करता है। नियमन वहां बाधक है। इसलिए कतिपय विद्वान व्यक्ति की सच्ची ऊर्जा को पशु-ऊर्जा कहते हैं और पशुवत् उन्मुक्त आचारण करने के लिए कहते हैं। उनकी दृष्टि में उसी पशुत्व में परमात्मा छिपा हुआ है।

संसार विरोधी अर्थात् प्रति-पदार्थ से आपूर है। हर पदार्थ का प्रतिपदार्थ मौजूद है। ध्वनि इसलिए है कि मौन है। मन शब्द है और ध्यान अमन की स्थिति है। सांख्य

मन के उपयोग की सलाह नहीं देता पर योग उसका उपयोग नकारात्मक रूप से करने के लिए प्रेरित करता है ताकि मन निर्बल होता रहे।

मन को निर्बल करने के लिए मात्रिक ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। **ओम्** का भी प्रयोग ऐसा ही होता है जिसमें अ, उ, और म ध्वनियां संबलित हैं। सारी ध्वनियां इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाती हैं। इसी का मन्द-मन्द उच्चारण किया जाता है। मन्द उच्चारण से प्रतीति में गहराई आती है। धीमा, लयपूर्ण और सूक्ष्म स्वर हृदयावर्जक होते हैं, तीव्र बोध पैदा करता है, उनकी पुनरावृत्ति की जाती है जप के माध्यम से सजगता पूर्वक। धीरे-धीरे वह ध्वनि भी लुप्त हो जायेगी जिसे पूर्ण ध्वनि या निर्ध्वनि कहा जाता है। जप में यदि सजगता नहीं होगी तो वह तन्द्रा पैदा कर देगी जिसे योगतन्द्रा या सम्मोहन-निद्रा कहा जाता है। संगीत इसमें सहयोगी बन जाता है।

वज्रतन्त्र परम्परा में तन्त्र की **दीक्षा** दी जाती है। यह दीक्षा आन्तरिक ऊर्जा का हस्तान्तरण है। शिष्य में ग्राहकता और श्रद्धा होने पर ही गुरु शिष्य को दीक्षा देता है और वह उसमें स्वयं प्रवेश कर जाता है। मन्त्र-दीक्षा में शिष्य की शक्ति को परखा जाता है, मन्त्र के सही उच्चारण को बताया जाता है, गलत उच्चारण आपत्तियों का निमन्त्रक होता है। इसलिए मन्त्रों को गुह्य माना जाता है।

तन्त्र में दो आयाम हैं - संसार और मोक्ष। जीवन इन दोनों आयामों में घटता है। तन्त्र परम्परा में इन दोनों आयामों में कोई विरोध नहीं है। जिस अंश को हम जानते हैं वह संसार है और जो छिपा है वह मोक्ष है। तन्त्र संसार का विरोधी नहीं है, वह उसे शत्रु नहीं मानता। वह तो उसे यथावत् स्वीकार करने के लिए कहता है। उसकी दृष्टि में संसार माया नहीं, सत्य है। संसार - निर्वाण भी दो चीजें नहीं हैं, वे महज दो दृष्टियां हैं, दो विकल्प हैं। यदि दृष्टि बदल गई तो वही संसार निर्वाण बन जाता है, परमानन्द का कारण हो जाता है। संभोग भी निर्वाण प्राप्त करा सकता है। तन्त्र यह भी मानता है कि न बन्धन है न मोक्ष है। न कोई आदर्श है। वह तो उपाय और विधियों की बात करता है, ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाता है। यही वज्रतन्त्र के विकासात्मक सोपान हैं।

हेवज्रतन्त्र में सहज साधना के बीज भरे पडे हैं। उसमें सहज उपासना, सहजानन्द, सहज स्वभाव का वर्णन प्रथम पटल से ही है और फिर अन्त में ग्यारहवें सहजार्थ पटल में तो उसे और भी स्पष्ट कर दिया है। इसी सहजयान को समझने के लिए हमने परिशिष्ट में सरहपा के दोहाकोश के गीतिभाग को भी यहां दे दिया है।

** ** **

४

वज्रतन्त्र की दार्शनिक परम्परा

पृष्ठभूमि

बौद्धधर्म के उदय की पृष्ठभूमि में **वैदिक धर्म** की वह परम्परा रही है जिसमें ऋषियों - महर्षियों को यौन संबन्ध स्थापित करने की और मद्य-मांस-भक्षण आदि पंच मकारों में प्रवृत्त रहने की खुली छूट थी। समूचा वेद, उपनिषद् और पौराणिक साहित्य ऐसे उल्लेखों से भरा पडा है। उदाहरण के तौर पर वशिष्ठ ने अपनी पुत्री शतद्रुरा से, मनु ने अपनी पुत्री इला से, सूर्य ने अपनी पुत्री उषा से विवाह किया। छान्दोग्योपनिषद् (२.१३.१) में यह लिखा है कि जब पुरुष किसी स्त्री के साथ समागम करना चाहता है तो पहले संकेत करता है जिसे हिंकार कहा जाता था, कुछ भेंट देकर प्रस्ताव करता था, सहवास करने पर उद्गीथ की उपासना करता था, प्रसन्नता पूर्वक स्त्री का संमुख आना प्रतिहार था, संभोग की समाप्ति को निधन कहा जाता था। वहां यह कहा गया है कि वामदेव्य (साम) मिथुन में ओतप्रोत है। उसे जो जानता है वह मिथुनी भाव से रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४.३.२१) में ब्रह्मानन्द की उपमा कामानन्द से देते हुए कहा है कि जैसे पुरुष प्रिय स्त्री के आलिंगन में सब कुछ भूल जाता है वैसे ही आत्मज्ञान होने पर व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है। इसी प्रकार अगस्त्य और वशिष्ठ की उत्पत्ति, इन्द्र द्वारा अहल्या से बलात्कार, नियोगप्रथा, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, बृहस्पति, पाराशर, विश्वामित्र, भारद्वाज, चन्द्र आदि महर्षियों के अनेक कथानक ऐसे हैं जिनसे वैदिककाल में उन्मुक्त यौन सम्बन्ध के संकेत मिलते हैं। इतना ही नहीं, द्यूत प्रथा, मद्यपान, मांस भक्षण आदि प्रथायें भी उस समय समाज में प्रचलित थीं।

तथागत बुद्ध ने कदाचित् ऐसी ही कुत्सित प्रथाओं के विरोध में अपने धर्म की स्थापना की थी जिसमें शील विशुद्धि, चित्त विशुद्धि, और दृष्टि विशुद्धि पर जोर दिया गया था। इन्हें अपर्याप्त मानकर महायान में मन्त्र, तन्त्र और देवताओं का प्रवेश हुआ, शैव तन्त्र से प्रभावित होकर वहां पंच मकारों का भी भरपूर प्रयोग शुरु हो गया। गुह्यसमाजतन्त्र और हेवज्रतन्त्र जैसे ग्रन्थ लिखे गये ऐसे ही नये दर्शन के साथ जिसे वज्रतन्त्र कहा जा सकता है।

वज्रतन्त्र या बौद्धतन्त्र महायान का ही एक विशिष्ट रूप है। इसलिए उससे अनुस्यूत माध्यमिक और योगाचार बौद्धधर्म की शब्दावली का भी उसमें भरपूर उपयोग हुआ है। तन्त्र एक साधना है इसलिए उसका आधार आगम, व्याख्याग्रन्थ और टीका ग्रन्थ

हैं। कालचक्रयानी ग्रन्थ विमलप्रभा के अनुसार महायानी साधना की दो पद्धतियां हैं - प्रज्ञापारमिता पद्धति और मन्त्र पद्धति। इन दोनों को क्रमशः कारण और कार्य व्यवस्था की सीमा में संयोजित किया जा सकता है। अर्थात् प्रज्ञापारमिता के माध्यम से मन्त्रादि की साधना की जाती है। इसलिए प्रज्ञापारमिता को प्रज्ञापारमितायान और मन्त्रयान की जननी कहा जा सकता है।

बौद्धधर्म की 'प्रज्ञा' वैदिक धर्म की 'शक्ति' के समान अपने विरोधियों को हानि पहुंचाने वाली नहीं है बल्कि वह एक ऐसा विशिष्ट करुणा तत्त्व है जो हर व्यक्ति में विद्यमान है। उसी से वह व्यक्ति दूसरे का सहयोग करता है और उसकी विपत्ति को दूर करने में कारण बनता है। इसलिए उसे वहां देवी माना है और योनि का प्रतीक भी।

वज्रतन्त्र परम्परा ने महायान दर्शन के मुख्य बिन्दुओं को ग्रहण किया और उनका अपने ढंग से विकास किया। बोधिसत्त्व की कल्पना, बोधिचित्त ग्रहण, षट्पारमिता की साधना, दशभूमि, त्रिकायवाद, धर्मशून्यता जैसे तत्त्वों पर तान्त्रिकता का आवरण डाला और प्रज्ञा-करुणा के आधार पर उनको प्रस्फुटित किया। अद्वयवाद, महासुख, देहवाद, बोधिचित्त आदि ऐसे ही दार्शनिक विचार-स्थल हैं जिनपर वज्राचार्यों ने नया चिन्तन दिया है। यहां हम ऐसे ही कतिपय बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

डॉ. दासगुप्त के अनुसार बौद्धतन्त्र परम्परा में बोधिचित्त की अवधारणा ही मूल भित्ति है। उसीसे शून्यता-करुणा, प्रज्ञोपाय, अद्वयवाद, युगनद्धता, समरस, महासुखवाद आदि सिद्धान्तों का विकास हुआ है। डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने बोधिसत्त्व सिद्धान्त को मूलाधार माना है। योगाचार - विज्ञानवाद ने उसी की दार्शनिक प्रतिष्ठा की है। शक्तिवाद और देववाद का भी विकास उसी से हुआ है। चित्त भी उसी का आधार है। पर बोधिसत्त्व की अपेक्षा वज्रसत्त्व का प्रयोग बौद्धतन्त्र ने अधिक किया है। वही चित्त का आधार है।

वज्रतन्त्र परम्परा में नागार्जुन दर्शन के आधार पर पदार्थ की निःस्वभावता को स्वीकार किया गया है। उसकी दृष्टि में न तत्त्व है, न रूप है, न दृष्टा है, न शब्द है, न श्रोता है, न गन्ध है, न घ्राता है, न चित्त है न चित्तिक है। स्वरूपतः उसका अस्तित्व न होने के कारण वह अदृश्य है, अकृत्रिम है। प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण वह पदार्थ का उत्पादक भी नहीं है (हे. १.५)

वज्र और वज्रसत्त्व

वज्र का अर्थ शून्यता है और यह शून्यता धर्म का लक्षण है। उसे अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी माना गया है [१]। अत्यन्त प्रचलित बौद्धमन्त्र में भी यह दृष्टव्य है - 'ओं शून्यता-ज्ञान-वज्रस्वभावात्मको ऽ हं'। वज्रसत्त्व में सत्त्व का अर्थ विशुद्ध ज्ञान है। इसे विज्ञानवादियों की विज्ञप्तिमात्रता कहा जा सकता है। विज्ञानवाद के अभूतपरिकल्प के समान इसमें शून्यता व परिज्ञान समाहित है। वह वज्रसत्त्व भाव-अभाव से विनिर्मुक्त और सर्वाकारमय है। उसे 'भगवान' कहा गया है क्योंकि वह मोह और मार को दूर करता है [२]। जन्म और मृत्यु से विरहित, सर्वज्ञ, विशुद्ध, वज्रसत्त्व चित्तधारा के रूप में सर्वव्यापक है। महायान का धर्मकाय वज्रयान का वज्रसत्त्व अथवा वज्रकाय है। सहजयान में इसी को सहजकाय कहा गया है। वज्रसत्त्व को, बुद्ध के समकक्ष माना गया है। सहजयान में उनके समक्ष भी बोधिसत्त्व, भूत, पिशाच आदि सभी उपदेश सुनने बैठे रहते हैं।

उपनिषदीय आत्मा के समान बौद्ध तन्त्र साहित्य में यह कहा गया है कि जो वज्रसत्त्व का स्वयं में अनुभव करता है वह भी वज्रसत्त्व हो जाता है। इस प्रकार के अनुभव के लिए उसे विशुद्ध शून्यता का भी अनुभव करना आवश्यक है। तब उसे महासत्त्व, समयसत्त्व, बोधिसत्त्व और ज्ञानसत्त्व की संज्ञा दी जाती है [३]। ज्ञानसिद्धि (अध्याय १५) में कहा गया है कि वज्रस्वरूप बोधिचित्त स्वयं बुद्धत्व है क्योंकि वह सभी में बुद्धत्व देखता है। स्वयं में देवता का अनुभव करना स्वाधिदेवतायोग कहलाता है। वह वज्री है, बोधिचित्त के रूप में रहता है और भगवान है [४]। साधक प्रथमतः सांसारिक भ्रम का अनुभव करता है, फिर भाव-अभाव से विनिर्मुक्त वज्रसत्त्व का और अन्त में स्वयं में वज्रसत्त्व का अनुभव करता है। स्वाधिष्ठान रूप आत्मा का अनुभव करना यहां बहुत महत्त्वपूर्ण है।

---

१. दृढं सारं असौशीर्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाही अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ।। अद्वयवज्रसंग्रह, पृ. ३७

२. भंजनं भगमाख्यातं क्लेशमारादिभञ्जनात् ।
प्रज्ञाबाध्यश्च ते क्लेशास्तस्मात् प्रज्ञा भगोच्यते ।। हेवज्रतन्त्र

३. अभेद्यं वज्रमित्युक्तं सत्त्वं त्रिभवस्यैकता...... हेवज्रतन्त्र, १.१.१.४

४. सर्वभावस्वभावो ऽ यं बोधिचित्तस्वरूपतः ।
स एव भगवान् वज्री तस्माद् आत्मैव देवता ।।
—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ५.३३

ध्यानी बुद्ध बोधिसत्त्व अवस्था से मुक्त हैं। वे बुद्ध के समान ही हैं, वे सदा ध्यानमग्न रहते हैं। सर्जन से दूर रहते हैं। सर्जन का काम उनके बोधिसत्त्वों का है। उनकी संख्या पांच है। कभी २ छठा नाम भी आ जाता है - वज्रसत्त्व। गुह्यसमाज में प्रथमतः उनका नाम आया। बाद में तान्त्रिक बौद्धधर्म में उन्हें स्वीकार कर लिया गया। पंचस्कन्धों से उनका जन्म होता है। वज्रसत्त्व उन सभी का पुजारी है जिसके दो चिन्ह हैं- वज्र और घण्टा। पंचध्यानी बुद्धों के बारे में संक्षेपतः यह वर्णन दृष्टव्य है।

नाम	रंग	मुद्रा	वाहन	चिन्ह	स्कन्ध परिवार	परिवार
अक्षोभ्य	नीला	भूस्पर्श	गज	वज्र	द्वेष	वज्रपाणि, लोचना, हेरुक, यमारि, एकजटा, नैरात्म्या, तारा
वैरोचन	सफेद	धर्मचक्र	सर्प या मगर	चक्र	मोह	समन्तभद्र-वज्रधात्वेश्वरी, मारीचि, वज्रवाराही
अमिताभ	लाल	समाधि	मयूर	कमल	राग	पद्मपाणि, पाण्डरा, लोकेश्वर, कुरुकुल्ला
रत्नसभव	पीत	वरद	अश्व	मोती	चिन्तामणि	रत्नपाणि-मामकी जम्भल, वसुधारा
अमोघसिद्धि	हरा	अभय	गरुड	विश्ववज्र	समय	विश्वपाणि, आर्यतारा, खट्वांगी, प्राणेश्वरी

क्रमांक 1508/

सेकोद्देशटीका : मूल ६.२६-३०, ३९, ५६-५३ आदि के अनुसार **वज्रयान सम्मत चक्रयोजना** इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

क्र. सं.	चक्र	१. काय	२. दल	३. वृत्ति	४. वज्र	५. योग	६. अवस्थायें	७. शून्य	८. बीज/ वर्ण	९. देवियां
१.	निर्माणचक्र	निर्माणकाय	६४	करुणा	कायवज्र	संस्थान	जाग्रत	शून्य	ए	लोचना
२.	धर्मचक्र	धर्मकाय	१६	मुदिता	चित्तवज्र	धर्मात्मक योग	सुषुप्ति	महाशून्य	म	पाण्डरा
३.	संभोगचक्र	संभोगकाय	३२	मैत्री व प्रणिधि	वाग्वज्र	मन्त्रयोग	स्वप्न	अतिशून्य	वं	मामकी
४.	महासुखचक्र	सहजकाय	४	उपेक्षा	ज्ञानवज्र	विशुद्धयोग	तुरीय	सर्वशून्य	या	तारा
१०. भूतत्त्व	**११. स्थान**	**१२. मुद्रा**	**१३. आनन्द**	**१४. क्षण**	**१५. विमोक्ष**	**१६. निकाय**	**१७. विशुद्धि**	**१८. शक्ति**	**१९. तिथियां**	**२०. उपाय**
पृथ्वी	नाभि	कर्ममुद्रा	आनन्द	विचित्र	अनभि-संस्कार	स्थविरवाद	कायविशुद्धि	चाण्डाली	१-५	सेवा
जल	हृदय	धर्ममुद्रा	परमानन्द	विपाक	अप्रणिहित	सर्वास्तिवाद	वाग्विशुद्धि	डोम्बी	६-१०	उपसेवा
पावक	कंठ या ललाट	महामुद्रा	विरमानन्द	विमर्द	अनिमित्त	संविदिवाद	चित्तविशुद्धि	बंगाली	११-१५	उपसाधन
वायु	मस्तक	समयमुद्रा	सहजानन्द	विलक्षण	शून्यता	महासांघिक	ज्ञानविशुद्धि	नैरात्म्या	षोडशी कला	महासाधन

वज्रसत्त्व शून्यता और करुणा की अद्वयावस्था का प्रतीक है। इसी को बोधिचित्त और संबुद्ध कहा जाता है। वज्रवाराही, प्रज्ञापारमिता, हेवज्र, हेरुक आदि नाम भी मिलते हैं। इसका बीजमंत्र 'हूँ' है।

वज्रयान के बोधिचित्त सिद्धान्त में योगाचार के चित्त का विकास दृष्टव्य है। योगाचार का चित्त परिवर्तनशीलता लिये हुए है। वासना आदि के कारण वह अशुद्ध हो जाता है। कुशल कर्मों के माध्यम से वह शुद्ध होता है और पूर्ण ज्ञानी होने पर अकनिष्ठ लोक में निवास करता है। हेवज्रतन्त्र में इसी चित्त को प्रज्ञा (शून्यता) और करुणा (उपाय) का अभिन्न रूप स्वीकारा है जो अद्वयरूप है। डॉ. दासगुप्त ने निम्न प्रकार से इसका अच्छा विवेचन किया है।

बोधिचित्त और करुणा

वज्रसत्व बोधिचित्त के रूप में व्याख्यायित है। यह चित्त की एक अवस्था है जिसमें शून्यता और करुणा आत्मा के प्रधान तत्त्व बन जाते हैं। परस्पर मिश्रित होकर तान्त्रिक बौद्ध धर्म में शून्यता और करुणा को क्रमशः प्रज्ञा और उपाय की संज्ञा दी गई है। शून्यता पूर्ण ज्ञान का प्रतीक है जिसमें सांसारिक दुःख निर्मूल हो जाता है और करुणा से व्यक्ति दूसरों के दुःख से दुःखी होता है। प्रज्ञा तथता है और उपाय अनुभूति का साधन है जो दुःख से मुक्त कराता है। प्रज्ञा और शून्यता समानार्थक है पर करुणा के लिए उपाय का प्रयोग कुछ पारिभाषिकता-सी लिये हुए है। श्रद्धोत्पाद सूत्र में अश्वघोष ने बोधि के दो गुण बताये हैं - प्रज्ञा और उपाय। उत्तरकालीन महायानी साहित्य में उपाय ने करुणा का स्थान ले लिया और उसे बौद्धधर्म के प्रचार और उपदेश का साधन बना लिया गया।

हेवज्रतन्त्र में उपाय और प्रज्ञा को योगिन् और मुद्रा (योग साधना में प्रयुक्त स्त्री) के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो बोधिचित्त में संवलित होते हैं और क्रमशः करुणा और शून्यता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं [१]। समूचे तान्त्रिक साहित्य ने इनकी एकता को स्वीकार किया है। ये दोनों प्रज्ञा और उपाय एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। वे ज्योति और प्रकाश के समान एक साथ चलते हैं। शून्यता और करुणा में ही बुद्ध, धर्म और संघ तथा चित्त ज्योतिमान् होते हैं [२]। प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि में उपाय को नौका की उपमा देकर उसके महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। वहां कहा गया है कि करुणा एक राग है जो नौका के समान दुःखियों के सांसारिक दुःखों को दूर करती है अतः वह उपाय

---

१. कृपापोय भवेत् योगी मुद्रा हेतु वियोगतः ।
शून्यता करुणाभिन्नं बोधिचित्तं ति स्मृतम्।। हे. पटल १.१०.४२; २.४.२४-२५

२. अद्वयवज्रसंग्रह, पृ. २६

माना जाता है। जल और दुग्ध के समान प्रज्ञा और उपाय (प्रज्ञोपाय) मिश्रित रूप में रहते हैं। यही मिश्रित रूप ही बुद्धत्व की प्राप्ति का साधन है। इसी मिश्रित अवस्था को धर्मधातु, चिंतामणि, भुक्ति-मुक्तिपद, जैसे विशेषणों से व्याख्यायित किया गया है[१]।

विश्वविज्ञानीय और सत्ताशास्त्रीय दृष्टि से भी प्रज्ञा और उपाय का महत्त्व दिखाई देता है। प्रज्ञा पूर्ण विशुद्धता और ज्ञान को संजोये है जो धर्मकाय और तथता का प्रतीक है और उपाय संभोगकाय और निर्माणकाय के रूप में विश्वप्रकाशक है। शून्यता और करुणा में अविनाभाव सम्बन्ध है जो अविभाज्य और सहज है।

देवी वाराही प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करती है और देव हेरुक उपाय (ज्ञेय पदार्थ) का तथा अवधूतमण्डल इन दोनों के संयोग को सूचित करता है। नेपाल के स्वाभाविक संप्रदाय के अनुसार आत्मा नामक तत्त्व वास्तविक जगत में नहीं है। यह जगत प्रवृत्ति और निवृत्ति का परिणाम है। निवृत्ति प्रज्ञा है और प्रवृत्ति उपाय है, ऐश्वरिक संप्रदाय में इन्हें क्रमशः आदिप्रजा और आदिबुद्ध कहा गया है। यह दृश्य जगत प्रज्ञा और उपाय के संयोग का परिणाम है। बुद्ध निवृत्ति अथवा आदिप्रज्ञा के साथ आगे बढते हैं और उनका उससे संयोग होने पर विश्वनिर्माण होता है। बुद्ध, धर्म और संघ क्रमशः प्रज्ञा, उपाय और विश्व के प्रतीक हैं। यह विश्व इन तीनों के संयुक्त होने पर उत्पन्न होता है। अतः बुद्धों को उत्पादक कारण माना गया है और प्रज्ञा को उनकी पत्नी।

प्रज्ञा और उपाय गर्भधातु और वज्रधातु से संबद्ध हैं। वज्रधातु तथता का सूचक है और गर्भ धातु तथागत गर्भ का। ये दोनों मण्डल के भाग हैं। कमल या कलश से निकलती ज्योति से इनके संयोग को अभिव्यंजित किया जाता है। यह एक रहस्यात्मक तत्त्व है। वैदिक तन्त्र में शिव और शक्ति क्रमशः निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रतीक है। इनके संयोग से 'अहं' की उत्पत्ति होती है। अंतर यह है कि शैव और शक्ति तन्त्र में पुरुष निष्क्रिय होता है और स्त्री सक्रिय जबकि बौद्धतन्त्र में पुरुष रूप उपाय सक्रिय होता है और शून्यता या प्रज्ञा रूप स्त्री निष्क्रिय होती है। यहां यह भी दृष्टव्य है कि बोधिचित्त को उपाय के रूप में भी जहां कहीं प्रस्तुत किया गया है, उसे सक्रिय माना गया है तथा नैरात्म्य अथवा शून्यता को प्रज्ञा के रूप में निष्क्रिय स्वीकारा है। गुह्यसमाजतन्त्र, हेवज्रतन्त्र और सिद्ध दोहे इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। वहां योगी और योगिनि के मिथुनचित्र दिखाई देते हैं।

---

१. उभयोर्मेलनं योच्चः प्रज्ञोपायः स उच्यते, पृ. ५

इस प्रकार वैदिक तन्त्र के समान बौद्धतन्त्र भी यह मानता है कि समूचे विश्व के पुरुष-स्त्री क्रमशः उपाय और प्रज्ञा से निष्पन्न हैं। बौद्धतन्त्र में प्रज्ञा को भगवती देवी, मुद्रा, महामुद्रा, वज्रकन्या अथवा युवती के रूप में प्रस्तुत किया गया है। हेवज्रतन्त्र में उसे जननी, भगिनी, रजकी, नर्तकी, दुहिता, डोम्बी आदि नाम दिये गये हैं। वहीं इनकी व्याख्या भी मिलती है। गुह्यसमाज तन्त्र में साधना के लिए प्रयुक्त षोडशी युवती को प्रज्ञा कहा गया है। हेवज्रतन्त्र में प्रज्ञा को युवती और उपाय को पुरुष कहा है। (योषितत्त्वात् भवेत् प्रज्ञा उपायः पुरुषः स्मृतः।) बुद्ध उपाय के अवतार हैं और उनकी पत्नी गोपा प्रज्ञा की। दोनों के संयोग से तथागत बुद्ध ने महासुख रूप निर्वाण प्राप्त किया।

नागार्जुन पाद के पंचक्रम में प्रज्ञा को शून्यता और उपाय को अतिशून्यता कहा है और वहीं उनका मिथुन - सादृश्यं भी प्रदर्शित है। प्रज्ञा को स्त्री इसलिए माना है कि वह महासुख से आपूरित है। उसे भग भी कहा गया है क्योंकि वह दुःखों को दूर करती है तथा सभी की उत्पत्ति उसी की योनि से होती है [१]। हेवज्रतन्त्र में भगवान को बीज और उनके आनन्द को कामिनी कहा है [२]। प्रज्ञा और उपाय को क्रमशः पद्म और वज्र भी कहा गया है। वज्र पुरुष है और उसे बोलक और कक्कोलक भी कहते हैं [३]। प्रज्ञा स्त्री है और उपाय पुरुष है और दोनों का संयोग सृष्टि है, बुद्ध का अवतार है।

प्रज्ञा और उपाय को क्रमशः ललना और रसना भी कहा गया है, वैदिक तन्त्र में उन्हीं को इडा और पिंगला नाडी कहा जाता है। इन दो नाडियों के संयोग स्थान को अवधूति अथवा सुषुम्ना नाडी कहते हैं जो निर्वाण की ओर ले जाती है। इडा शक्ति है और पिंगला पुरुष है। ललना और रसना को क्रमशः बीज और डिम्ब कहा गया है [४]। प्रज्ञा वामा है और उपाय दक्षिण है। ललना और रसना भी क्रमशः बायीं और दायीं नाडी हैं। प्रज्ञा का उच्चारण 'अ' (आलि) स्वर से तथा उपाय का उच्चारण 'क' व्यंजन (कालि) से होता है। हेवज्रतन्त्र में कहा गया है कि जिस तरह 'अ' स्वर उत्पत्तिविहीन है उसी तरह धर्म अथवा शून्यता की भी कहीं से उत्पत्ति नहीं होती। आलि और कालि क्रमशः रात्रि और दिन का प्रतीक है। इसी तरह ललना और रसना क्रमशः चन्द्र और सूर्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।

---

१. त्रैलोक्यस्तत्र जातो हि प्रज्ञोपायस्वरूपतः - हेवज्रतन्त्र, १.८.४९.

२. शुक्राकारो भवेद् भगवान् तत्सुखं कामिनी स्मृतम्, योगरत्नमाला, १.१.१.५; हे. १.८.५०.

३. वज्रं बोलकं ख्यातं पद्मं कक्कोलकं मतं - हेवज्रतन्त्र, २.२.५३.

४. अक्षोभ्यवहा ललना रसना रक्तवाहिनी।
तथा प्रज्ञा चन्द्रबहा अवधूती सा प्रकीर्तिता ।। हेवज्रतन्त्र, १.१.१२

प्रज्ञा को ''ए' तथा उपाय को 'वं' शब्द दिये गये हैं। ''ए' सुख का स्थान है यदि वह 'वं' से सन्निहित है – 'ए-वं-कार'। 'ए' जननी है, 'वं' जनक है और बिन्दु उनके संयोग से उत्पन्न तत्त्व है। इसी आधार पर 'एवं मया श्रुतम्' की व्याख्या की गई हैं। 'ए' काम मुद्रा है, लोचना है, करुणामयी है जो निर्माणचक्र में रहती है। 'वं' जल, धर्मकाय और देवी मामकी का सूचक है, विश्वप्रेम का दिग्दर्शक है जो धर्मचक्र में रहता है। हेवज्रतन्त्रपंजिका के अनुसार 'ए' स्त्रीयोनि और 'वं' पुरुषयोनि का प्रतीक है। 'मया' से दोनों का मैथुन तथा 'श्रुतम्' से साधना की संवृति और विवृति प्रतिबद्ध है। पुरुष बीजस्वभावी है जबकि आनन्द स्त्रीस्वभावी। वे धर्मकाय, संभोगकाय का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों का संयोग वज्रधर में होता है।

इन सभी की, साम्प्रदायिक व्याख्या है। हेवज्रतन्त्र में इनकी पांच व्याख्यायें मिलती हैं [१]। तदनुसार आलि वायीं ओर से प्रवाहित होने वाली मरुत है और कालि दायीं ओर बहनेवाली मरुत है। चण्डा का अर्थ प्रज्ञा है जो सभी पीडाओं को दूर करती है। आलि वज्रसत्त्व है, क्रम है पर चण्डा प्रज्ञा है, ओं है। आलि विश्वकरुणा की सूचिका है, उपाय है। काली अहंकार और ममकार का विनाश करती है।

हेवज्रतन्त्र (२.४.२८-६०) में बोधिचित्त की उत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है। तदनुसार मण्डल-चक्रादि उपाय से या अपने प्रयत्न से वैवृति और संवृति क्रम पूर्वक उसकी उत्पत्ति होती है। यही निर्वाण है और यही महासुख है। इसमें मुद्रा के साथ संभोग किया जाता है। यहां मण्डल और चक्र का विस्तृत वर्णन भी है।

योगी आत्मा और धर्म के सहज स्वभाव की प्राप्ति के लिए बोधिचित्त की साधना करता है। प्रज्ञा-उपाय के यौगिक संयोग से उसकी प्राप्ति होती है और प्राप्त हो जाने पर नाभि प्रदेश में उसे निरुद्ध किया जाता है। यही नाभि प्रदेश मणिपूर चक्र अथवा निर्माण कायचक्र कहा जाता है। जब तक साधक को बोधिचित्त की प्राप्ति नहीं होती तबतक वह सांसारिक आसक्तियों में घूमता रहता है। इस प्रकार बोधिचित्त के दो तत्त्व हैं - संवृत और विवृत। संवृत सांसारिक गतिविधियों से संबद्ध होता है और विवृत उनसे मुक्त रहता है। हेवज्रतन्त्र में संवृत को कुन्दपुष्प और विवृत को सुखरूपी कहा गया है [२]। आध्यात्मिक, वेदान्ती और जैन भी सत्त्वों के इन दो प्रकारों को

---

१. चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति पंचतथागतान् ।
दहति च लोचनादीनां दग्धे हुँ श्रवते शशी ।। हेवज्रतन्त्र १.१.१७-१८

२. बोधिचित्तं उत्पादयेत वैवृत्ति-संवृत्तिरूपकम् ।
संवृतं कुन्दसंकाशं विवृतं सुखरूपिणम् ।। वही, २.४.२९.

स्वीकार करते हैं। महासुख को बनाये रखने के लिए बोधिचित्त को अपकर्षण से बचाना आवश्यक है।

बोधिचित्त के अवकर्षण को हम षडंगयोग साधना से बचा सकते हैं - प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और संमाधि। श्री गुह्यसमाज और सेकोद्देशटीका में इनका अच्छा वर्णन मिलता है। प्रत्याहार में पंचेन्द्रियों की विषय वासना को केन्द्रितकर अन्तर्दृष्टि का विकास किया जाता है। ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता के माध्यम से चित्त को एकाग्र किया जाता है। प्राणायाम का सम्बन्ध बायीं-दायीं श्वासोच्छवास से है जो क्रमशः पंचस्कन्ध और पंचबुद्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। नासाग्र पर ध्यान कर पंचबुद्धों के गुणों पर चित्त को केन्द्रित किया जाता है सर्षप के रूप में वैदिक तन्त्रों में प्राण, अपान, समान, उपान और उदान का भी इसी प्रकार वर्णन मिलता है।

पंचकर्म के अनुसार मन्त्रों का जप करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि मन्त्रों के सहयोग से श्वासादि को रोकना भी है। मन्त्रयोग में मन्त्रों के तीन भाग हैं जो प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक से संबद्ध हैं। जपमन्त्र "ओं आः हूँ" का उच्चारण वज्रजप है जो एक प्रकार का प्राणयाम है। इन तीनों शब्दों का सम्बन्ध क्रमशः पदार्थ की उत्पत्ति, रक्षण, और विनाश से है। इसी प्रकार ' ओं मणिपद्मे हुँ' जैसे मन्त्रों की भी तान्त्रिक व्याख्या की गई है। पद्म का सम्बन्ध योनि से है और मणि का शिश्न से है। तान्त्रिक बौद्धधर्म में यह मन्त्र संभोगक्रिया से संबद्ध है। दोहाकोश में भी मरुत (श्वास) को रोकने की क्रिया का वर्णन है।

अद्वय और युगनद्धता

दो तत्त्वों का एक में समागम होना युगनद्धता है। बौद्धतन्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त है। जहां संसार और निवृत्ति, संक्लेश और व्यवदान, ग्राह्य और ग्राहकभाव, धर्म नैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य, सोपधिशेष और निरुपधिशेष, विधेयात्मक और निषेधात्मक, राग-अराग आदि जैसे द्वैततत्त्व समाहित हो जाते हैं उसे युगनद्धता कहा जाता है। इसी को बुद्धत्व अवस्था कहते हैं। वज्रसत्व होने का भी यही तात्पर्य है। इसी को अद्वयावस्था कहते हैं। यहां कोई भेदभाव नहीं रहता। इसी को बोधिचित्त और धर्मकाय कहा गया है।

वज्रयान के अद्वय को समझने के लिए शून्यता और करुणा को समझ लेना आवश्यक है। बोधिचित्त में ये दोनों गर्भित हैं। गुह्यसमाज में शायद सर्वप्रथम यह

सिद्धान्त मिलता है - शून्यताकरुणाभिन्नं...। शून्यता अनित्य, क्षणिक, निरात्म, परमविशुद्ध, तथतामय है। करुणा सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्त कराने की दृढप्रतिज्ञा से सम्बद्ध है। कहीं-कहीं वह तृष्णा से सिक्त व्यक्ति को परिवर्तित करने के लिए और प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर चलने की प्रेरणा से सम्बद्ध है। इस शून्यता और करुणा की एकाकारता वज्रयान में अद्वयवाद है। साधनमाला (पृ. ८२) में इसे समझने के लिए एक उपमा दी है - यथा सिद्धिरसेन विद्धं ताम्रं कृष्णतां त्यजति तथा शरीरमेवाद्वैतरसेन विद्धं रागद्वेषादिकं त्यजति। इसकी एकाकारता को जल के साथ नमक जैसा माना गया है। अद्वय को देवत्व का स्थान दिया गया और शून्य और करुणा के स्थान पर हेरुक और प्रज्ञा को स्थापित किया गया। बाद में प्रज्ञा का अन्तर्भाव हेरुक में हो गया और हेरुक अकेला देव रह गया।

सांसारिक द्वयता का विलय अद्वयता में होता है। संसार की ओर उन्मुख होना करुणा है और कायवाक्-चित्त में प्रवेश करना उपाय है। एक संवृति है, दूसरा परमार्थ है और दोनों का संयुक्त होना युगनद्धता है। यही बुद्धत्व है, स्त्रीत्व और पुरुषत्व के संयुक्त हो जाने का प्रतीक है। यही समरसता है और यही सहजावस्था है, यही संसार और निर्वाण का विलय है, एकात्मकता है, शान्तिमार्ग है, अर्धनारीश्वर का रूप है, शिव-शक्ति का मिलन है, आत्मा-परमात्मा की एकरूपता है।

यह अद्वयावस्था कला में भी उकेरी गई है। अनेक देव अपनी देवियों के साथ आलिंगनबद्ध दिखाये गये हैं। उदाहरणतः वज्रसत्त्व या वज्रधर को वज्रधात्वीश्वरी अथवा वज्रवाराही अथवा प्रज्ञा अथवा प्रज्ञापारमिता-नैरात्मा के साथ, हेरुक को वज्रवैरोचनी के साथ मैथुनबद्ध बताया गया है। इसी तरह साधनमाला में आदि बुद्ध अथवा हेरुक को प्रज्ञा के साथ आलिंगनबद्ध प्रदर्शित किया गया है। पंच ध्यानी बुद्धों की देवियां उनके साथ ही रहती हैं। नेपाल और तिब्बत के बौद्ध देव भी युगनद्ध हैं। प्रायः देव अपनी जंघाओं पर देवियों को बैठाये अंकित हुए हैं।

भगवान बुद्ध या वज्रसत्त्व परिषद् में बैठे सभासदों को रहस्यमयी साधना का उपदेश देते हैं वज्रवाराही अथवा नैरात्म्या द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर के रूप में। वे उनके साथ आलिंगनबद्ध हैं, चुम्बनक्रिया और मैथुनक्रिया में संनद्ध हैं - भाव-अभाव से विनिर्मुक्त हैं, चतुरानन्द से युक्त हैं (एकल्लवीरचण्डमहारोशणतन्त्र)। वैदिकतन्त्र में शिव और शक्ति का भी यही रूप मिलता है।

बौद्धतन्त्र प्रायः प्रारंभ होते हैं इस वाक्य से - "एवं मया श्रुतं एकस्मिन् समये भगवान् सर्व तथागत काय-वाक्-चित्त-हृदयवज्रयोषितभगेषु विजहार"। यहां भग के

अनेक अर्थ हैं - ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, योनि, ज्ञान और वैराग्य। पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि में भग का अर्थ प्रज्ञा है। अर्थात् भगवान प्रज्ञा से संयुक्त हैं और प्रज्ञा वज्रयोषित है, शून्यता है, नित्य और अनन्त है, विशुद्ध है, संवृति और कर्ममुद्रामय है और करुणार्द्र होकर स्त्री के रूप में विद्यमान हैं [१]।

गुह्य योग साधना का उद्देश्य है परमानन्द की प्राप्ति। वह विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार का होता है। संभोगजन्य आनन्द और परमानन्द में बहुत अन्तर है। तान्त्रिक बौद्ध साधना संभोगजन्य आनन्द को परमानन्द में बदलने का प्रयत्न करता है। देह एक माध्यम है जहां आत्मा और संसार एकाकार हो जाते हैं। यही निर्वाण है। इसकी व्यावहारिक साधना देह से प्रारंभ होती है।

देह : एक माध्यम

कहा जाता है, देह सत्य की निवासस्थली है। उसमें सारा संसार निवास करता है। सत्यानुभूति के लिए वह एक यन्त्रवत् है। यह साधना मेरुदण्ड से शुरु होती है। यहां सत्य का निवास रहता है। इसके बाद चक्र आता है। बौद्ध साधना में चार चक्र हैं - मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और उष्णीषकमल। वैदिकसाधना में इनके अतिरिक्त मूलाधार, सहस्त्रार, स्वाधिष्ठान और आज्ञाचक्र के नाम भी आते हैं। प्रथम तीन चक्र क्रमशः निर्माण, संभोग और धर्मकाय हैं। सहजकाय उष्णीषकमल अथवा सहस्त्रारचक्र में रहता है।

चक्र की धारणा एकमत नहीं है। हेरुकतन्त्र के ३१ वें पटल में महासुख का उल्लेख आता है। उसका अस्तित्व शीर्षभाग में बताया है। उसके चार पुष्पदल हैं जो चतुरार्यसत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, बोधिमण्डल और बीज उसका आधार है। उसके बाहर बत्तीस पुष्पदल हैं, उनके बीच में 'ह' अंकित है जो बोधिचित्त तथा पंद्रह कलाओं को सूचित करता है, अन्तर में षोडसकला संपन्न योगिनि, बगल में आलि और कालि रूप में ललना और रसना है। यह अद्वयपरमेश्वरी सहजानन्द स्वभावा का स्वरूप है । बोधिचित्त की षोडशकलायें यहां दिन-रात के हिसाब से बत्तीस हो गई हैं जो पुष्पदल के रूप में प्रतिष्ठित हैं, ललना और रसना इडा और पिङ्गला की प्रतीक हैं। इसी तरह कण्ठ भाग में संभोगचक्र लाल रंग के षोडश पुष्पदल सहित है, उसके भीतर 'हूँ' है, उसके ऊपर घण्टिका मार्ग से अमृत निरन्तर झर रहा है। हृदय में अष्टदल कमल वाला धर्मचक्र है, विश्वपद्म है, भीतर 'हूँ' अंकित है, ऊपर श्वेतकमल है ब्रह्माण्डसदृशाकार है, आभ्यन्तर में ही स्वयम्भूज्ञानाधार रूप विज्ञान रहता है। उसी को परमेश्वर कहा जाता है।

---

१. गुह्यसिद्धि, पृ. २-११

नाभि के मध्य भाग में नीले वर्ण के चौसठ पुष्पदल हैं, उनके बीच 'अं' लिखा है, कुछ नीचे कन्द है जो बहत्तर हजार तन्तुओं को केन्द्रित किये हुए है। इसी से प्रज्ञात्मक ललना और उपायात्मक रसना का उद्‌भव होता है, मध्य में 'अ' के रूप में देवी प्रतिष्ठित हैं [१] (हे. द्वितीयकल्प)।

सेकोद्देशटीका (पृ. २७) के अनुसार उष्णीषपद्म में चार पुष्पदल हैं शीर्ष भाग में सोलह, हृदय भाग में बत्तीस और नाभिभाग में चौसठ पुष्पदल हैं [२]। श्रीसंपुट टीका (पृ. १०) में चार चक्र चार मुद्राओं से मण्डित हैं - कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा जो क्रमशः लोचना, मामकी, पाण्डरा और तारा देवियों से चतुस्कन्ध रूप में संबद्ध हैं। उनके क्रमशः चार अक्षर हैं - ए, वं, म और य। चार चक्रों के नाम हैं - निर्माणचक्र, धर्मचक्र, संभोगचक्र और महासुखचक्र [३]। यहां यह उल्लेखनीय है कि वैदिक तन्त्रों में भी चक्र अथवा पद्म को डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी और हाकिनी जैसी देवियों से संबद्ध माना जाता है। वहां मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरचक्र, अनाहतचक्र और विशुद्धचक्र क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, मरुत, और आकाश का प्रतिनिधित्व करते हैं [४]। बौद्धतन्त्र की लोचना, मामकी, पाण्डरा और तारा देवियां क्रमशः करुणा, मैत्री-प्रणिधि, मुदिता और उपेक्षा का प्रतिनिधित्व करती हैं (संपुटटीका, पृ. १०) [५]।

हेवज्रतन्त्र (१.१.१७.०) में भी चक्रों का ऐसा ही वर्णन मिलता है। वहां यह भी कहा गया है कि चार चक्रों के समान तत्त्व भी चार हैं - विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण, साधना के चार अंग हैं - सेवा, उपसेवा, साधन और महासाधन, चार आर्यसत्य हैं; चार तत्त्व हैं - आत्मतत्त्व, मन्त्रतत्त्व, देवतातत्त्व और ज्ञानतत्त्व; चार आनन्द हैं - आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द; चार निकाय हैं - स्थविरवाद, सर्वस्तिवाद, संविदिवाद और महासांघिक; सोलह संक्रान्ति हैं, चौसठ दण्ड हैं, बत्तीस नाडीतन्त्र हैं, और चार प्रहर हैं। चक्रों के पुष्पदलों की संख्याक्रम में भी हेवज्रतन्त्र में कोई अन्तर नहीं है। पुष्पदलों पर अक्षरों के अंकन में भी यहां कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं निर्माणचक्र को योनिभाग में प्रतिष्ठित माना है। इस प्रकार धर्म, संभोग, निर्माण और महासुख कायों में से प्रथम तीन काय क्रमशः योनि, हृदय और कण्ठ भाग के समीपस्थ हैं। और निर्माणकाय को योनि में प्रतिष्ठित इसलिए

---

१. हेवज्रतन्त्र, द्वितीयकल्प, २. सेकोद्देशटीका GOS. पृ. २७, ३. श्रीसंपुटटीका, पृ. १०,
४. षट्चक्रनिरूपण, सं. A. Avalon. ५. श्री संपुटटीका, पृ. १०

माना है कि वहीं से जल - चेतन की उत्पत्ति होती है। धर्मकाय, संभोगकाय और महासुखकाय क्रमशः हृदय, कण्ठ और शीर्ष भाग में प्रतिष्ठित है। आगे यह कहा गया है कि स्थावरी निर्माणचक्र में हैं जहां से स्थावर उत्पन्न होते हैं। संभव है, इस स्थावर का संबन्ध स्थविरवाद से हो। सर्वास्तिवाद को धर्मचक्र में, संविदिवाद को कण्ठ में, महासंघी को सुखचक्र में और महासुख शीर्ष भाग में प्रतिष्ठित माना है । संविदिवाद साधारणतः विज्ञानवाद माना जाता है पर हेवज्रतन्त्रपंजिका में संविदि को भावों से संबद्ध किया गया है। महासुखचक्र सर्वप्रधान होने के कारण महासंघी है । काय, निकाय अथवा भिक्षुसंघ है और उदर (मातुः कुक्षि) को बिहार कहा गया है (हे. २.४.५०-६०)।

देह महासुख का आधार है। वज्रतन्त्र परम्परा के अनुसार वज्रकन्या की योनि में संभोगनिर्माण के रूप में बुद्ध निवास करते हैं। उस योनि को बुद्धरत्न की पिटारी कहा गया है। सारा संसार सहज रूप है। विष ही विष की औषधि है। मण्डल चक्रभावना से महामुद्रासिद्धि की प्राप्ति होती है। बौद्ध परम्परा में इस सिद्धान्त का विरोध हुआ होगा क्योंकि यहां यह कहा गया है कि बुद्धतीर्थिक वज्रयान के प्रति द्वेष रखते है - (हे. २.२.३४-४३; १.५; २.९)।

उपर्युक्त चार चक्रों का सम्बन्ध क्रमशः निर्माणकाय, संभोगकाय, धर्मकाय और वज्रकाय अथवा सहजकाय से है। यहां यह उल्लेखनीय है कि वज्रतन्त्र परम्परा में कायों का क्रम बदला है निम्न प्रकार से - निर्माणकाय, धर्मकाय और संभोगकाय। इनके अतिरिक्त एक और काय की कल्पना की गई है - उष्णीषकमल अथवा सहजकाय। बोधिचित्त की प्राप्ति के लिए देह को एक महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है और इसलिए तान्त्रिक बौद्धों ने कमलों, चक्रों और नाडियों की कल्पना की है। उन्होंने कहीं-कहीं पांच और छः चक्रों का भी उल्लेख किया है। संभव है, ध्यानी बुद्धों की संख्या के साथ संगति बैठाने की दृष्टि से ऐसा किया गया हो। मुद्राओं में कर्ममुद्रा आनन्दों की अनुभूति कराती है। उससे धर्ममुद्रा उत्कृष्ट है, जो करुणा और सहज स्वभाव रूप है, अवधूती है, मध्यमाप्रतिपदा है। महामुद्रा निर्वाणस्वरूपा है और समयमुद्रा में वज्रधर के रूप में जगत् कल्याण के लिए संभोगकाय और निर्माणकाय धारण किया जाता है। यही हेरुक अवस्था है। यहां चार योगों का भी विधान है - विशुद्धि, धर्म, मन्त्र और संस्थान। इनको पार करने पर वज्रयोग होता है और वज्रत्व की उपलब्धि होती है।

नाडी तन्त्र

गुह्य साधना में चक्र के बाद नाडीतन्त्र का स्थान आता है। साधारणतः यह माना जाता है कि बहत्तर हजार नाडी तान्त्रियां हैं। उनमें बत्तीस मुख्य हैं जिनमें ललना, रसना और अवधूती अधिक महत्त्वपूर्ण हैं (हे. १.१.११-१८)। इन तीनों को क्रमशः वैदिक तन्त्रों में इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना कहा जाता है। कुछ युगल रूप में प्रसिद्ध हैं - ललना-रसना, आलि - कालि, ए - वं, गंगा - यमुना, चन्द्र - सूर्य, धमन - चमन, ग्राह्य - ग्राहक, प्रज्ञा - उपाय आदि। सुषुम्ना के तीन भेद हैं - चित्रिणी, वज्रा और सुषुम्ना जो क्रमशः सत्, रजस और तमस स्वभावी हैं। ये सभी नाडियां कन्द से उद्‌भूत होती हैं जो गुदाभाग के एक इंच ऊपर और शिश्न के एक इंच नीचे अवस्थित है। सुषुम्ना पृष्ठ रज्जु (Spinal Cod) की एक धमनी है जिसमें वज्रा, चित्रिणी, ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार, इडा और पिंगला पृष्ठ रज्जु के बाहर क्रमशः बायें - दायें नासिका प्रदेश तक व्याप्त हैं। इडा को चन्द्र भी कहा जाता है जो श्वेत है और शक्ति का प्रतीक है और पिंगला को सूर्य कहा जाता है जो रक्तवर्ण है और पुरुष कहा जाता है। सुषुम्ना अग्नि स्वभाववाली है। ये तीनों शिश्न से संबद्ध हैं जिन्हें (यमुना, सरस्वती और गंगा) कहा जाता है। इडा और पिंगला से प्राण और अपान प्रवाहित होते हैं।

वज्रतन्त्र परम्परा में नाडी साधन से बोधिचित्तोत्पाद होता है जिसे हम कुण्डलिनी जागरण कह सकते हैं। यह कुण्डलिनीजागरण वैदिक साधना में मूलाधारचक्र में होती है और वज्रतन्त्र में निर्माण चक्र में चण्डाली जाग्रत होती है। तभी शिरोभाग स्थित चन्द्रमा से अमृतस्राव होता है। यही रूपान्तरण है। यहां चण्डाली को ही डोंबी, योगिनी, सहजसुन्दरी, नैरात्म्या कहा गया है। यही चण्डाली बोधिचित्त को महासुखचक्र तक ले जाती है। जिसे अद्वैतावस्था कह सकते हैं। यह सब देह साधना पर अवलम्बित है।

बौद्धतन्त्र में ललना अथवा आलि कण्ठ भाग से निकलती है और नाभि भाग में बायें से प्रवेश करती है और रसना नाभि से निकलती है जो कण्ठ भाग में प्रवेश करती है। इन दोनों के बीच अवधूती हृत्सरोरुहमध्यगा है जहां से बोधिचित्त प्रवाहित होता है। और यही अवधूतिका सहजानन्द तक ले जाती हैं। बायें और दायें भाग की ये नाडियां शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय के रूप में पहचानी जाती हैं तथा अवधूती को नैरात्म्य अथवा बोधिचित्त माना जाता है। एकल्लवीरचण्डमहारोषण तन्त्र में कहा गया है कि एक महिला भगवान बुद्ध से पूछती है कि प्रज्ञा और उपाय से उत्पन्न होने वाला

आनन्द शरीर में आनन्द कैसे पैदा कर सकता है ? भगवान ने उत्तर दिया कि बायीं और दायीं ओर क्रमशः ललना और रसना हैं जो प्रज्ञा और उपाय रूप हैं। इन दोनों के मध्य में मिल जाने पर प्रज्ञोपाय आनन्द की अनुभूति होती है। ये तीनों नाडियां ललना, रसना और अवधूती क्रमशः संभोग, निर्माण और धर्मकाय मानी जाती हैं। प्रज्ञा और उपाय क्रमशः ग्राहक और ग्राह्य हैं। अतः ललना और रसना को ग्राह्य-ग्राहक भी कहा जाता है।

इन नाडीतन्त्रों में आलि और कालि को लगभग सभी साधनाओं ने स्वीकारा है। ये स्वर और व्यंजन का प्रतिनिधित्व करते हैं और रात्रि और दिन से संबद्ध हैं। रात्रि और दिन चन्द्र और सूर्य से संबद्ध हैं और नाडी तन्त्र का बायां और दायां भाग चन्द्र और सूर्य कहा गया है हठयोगप्रदीप में। संमोहन तन्त्र में बायीं तन्त्री को सरल स्वभावी होने के कारण चन्द्र और दायीं तन्त्री को रौद्रात्मक होने के कारण सूर्य कहा गया है। बायीं तन्त्री बीजमूलक है जिसे शव अथवा चन्द्र कहा जाता है और दायीं तन्त्री अण्ड मानी जाती है जो शक्ति और सूर्य की प्रतीक है। कण्हपाद के दोहाकोश की टीका में चन्द्र को बीज से और सूर्य को अण्ड से उत्पन्न माना गया है। मर्मकलिका तन्त्र में आलि और कालि को क्रमशः स्वर और व्यंजन का प्रतिनिधि माना है जिनकी कुल संख्या ४९ है। वायु की संख्या भी इतनी ही है। इनका संबन्ध प्राण और अपान से है।

नाडपाद की सेकोद्देशटीका में हम पांच तन्त्रियों का उल्लेख पाते हैं जो पांच तथागतों का प्रतिनिधित्व करती हैं - १) ऊर्ध्वभाग, चन्द्र, ललना-इडा, जलवाहि-तथागत अमिताभ, २) दक्षिण भाग, सूर्य, रसना, अग्निबाहिका - तथागत रत्नसंभव, ३) निम्नभाग का मध्यवर्ती भाग, मलतन्त्री, पृथ्वीबाहिका - तथागत वैरोचन, ४) बायां भाग, मूत्रतन्त्री, वायुबाहिका - अमोघसिद्धि, और ५) ऊर्ध्वप्रदेश का मध्यनाडी भाग, शून्यता को लिए राहु - अक्षोभ्य तथागत। उसके नीचे वायीं तन्त्री शुक्र-द्वार है, वह ज्ञानबाहिनी है और वज्रस्वभावात्मिका है [१]।

मध्यतन्त्री को साधारणतः अवधूती कहा जाता है। अवधूती वह है जो सभी पापों का विनाश करती है। इसी को प्रज्ञा, नैरात्म्या, योगिनी अथवा सहज कुमारी कहा जाता है। वैदिकतन्त्रों में इसी को सुषुम्ना कहा जाता है। यही नाडी वज्रतन्त्र में निर्वाण मार्ग के रूप में स्वीकारी गई है।

---

१. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह - सं. गोपीनाथ कविराज, पृ. ४१

हेवज्रतन्त्र (१.१; २.४.१६-२५) में वज्रदेह में व्याप्त तीन नाडियों का वर्णन मिलता है - ललना, रसना और अवधूती। स्नेलग्रोव और नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने उनका वर्णन निम्न सारिणी के माध्यम से किया है -

नाडी	लिंगात्मक १	सैद्धान्तिक २	ब्रह्माण्डीय ३	यौन ४	शारीरिक ५	वर्णात्मक ६	दार्शनिक ७	ब्रह्माण्डीय स्थिति ८	व्यष्टि-पक्ष ९	योगिनि १०	बुद्ध ११	दोष १२	पिण्डगत स्थिति १३	बुद्धकाय १४
१. रसना	पुं.	उपाय	चन्द्र	वज्र	रक्त	कालि	ग्राहक	खमध्य	वाक्	खेचरी	अमिताभ	राग	कण्ठ	संभोग-काय
२. ललना	स्त्री	प्रज्ञा	सूर्य	पद्म	शुक्र	आलि	ग्राह्य	केन्द्र (मध्य)	चित्त	नैरात्म्या	अक्षोभ्य	द्वेष	हृदय	धर्मकाय
३. अवधूती	अद्वय	बोधिचित्त	अग्नि	शुक्र	बीज (सत्त्व)	अक्षर	चित्त	पाताल	काय	भूचरी	वैरोचन	मोह	नाभि	निर्माण-काय

देह नाडीतन्त्र का पिंजरा है इसलिए सरहपा ने उसे तीर्थ की संज्ञा दी है। बौद्ध तान्त्रिकों ने देह में जिन चार चक्रों की कल्पना की है - निर्माणकायचक्र, संभोगकायचक्र, धर्मकायचक्र और उष्णीषकमलचक्र या सहस्त्रारचक्र - उन चक्रों का सम्बन्ध चार मुद्राओं से है - कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा । ये चार स्कन्धों की अधिष्ठात्री देवियों से संबद्ध हैं - लोचना-पृथ्वी, मामकी-जल, पाण्डरा-अग्नि, और तारा-वायु। इन्हीं के माध्यम से बोधिचित्त की उत्पत्ति हो सकती है। हेवज्रतन्त्र में देह की महत्ता यहां तक बता दी है कि उसके बिना महासुख पाना संभव नहीं हैं - देहाभावे कुतः सौख्यम्, २.२.३५। शायद इसका आधार माध्यमिक मत का सिद्धान्त है जहां यह कहा गया है संसार और निर्वाण में कोई भेद नहीं है। हेवज्रतन्त्र इस कथन की पुष्टि यह कहकर कहता है कि न रूप है, न दृष्टा, न शब्द है, न श्रोता, न गन्ध है न घ्राता, न रस है न रासक, न स्पर्श है न स्पष्टा, न चित्त है, न चैतसिक (२.१.५.१)। इसलिए हेवज्रतन्त्र इस संदर्भ में योगाचार की अपेक्षा माध्यमिक के अधिक समीप है। यह इससे भी सिद्ध होता है कि हेवज्रतंन्त्र के कर्ता ने दुर्दान्त शिष्यों को अन्त में माध्यमिक दर्शन की शिक्षा देने का आग्रह किया है - योगाचारं ततः पश्चात् तदनु मध्यात्मकं दिशेत्। उसके बाद ही मन्त्रनय को जाने और फिर हेवज्र की साधना करनी चाहिए - २.२.८-१०। इतना ही नहीं, साधक को स्थविरवादी, वैभाषिक, सौत्रान्तिक और योगाचार दर्शनों का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

वज्रतन्त्र परम्परा में, जैसा हम देख चुके है, चित्त या बोधिचित्त का भी कम महत्त्व नहीं है जो योगाचार से सम्बद्ध है। बोधिचित्त ही बोधि-प्राप्ति का मूल कारण है। उसी से सभी धर्मों के अनुत्पाद का ज्ञान होता है - योगरत्नमाला, २.३। यह बोधिचित्त प्रज्ञोपायात्मक है, विवृत-संवृतरूपात्मक है, विज्ञानवादी बोधिचित्त से अभिन्न है। यही हेवज्र है, हे (महाकरुणा) और वज्र (प्रज्ञा) का समन्वित रूप है, गुह्य है, वज्रसत्त्व, महासत्त्व और महासमयसत्त्व का सार है (हेवज्रतन्त्र, १.१)

बोधिचित्त को बहन करने वाली उपर्युक्त बत्तीस नाडियां महासुख स्थान की ओर प्रवाहित होती हैं (हेवज्रतन्त्र, २.१.१.१३)। वहां उपाय को शुक्राकार और प्रज्ञा को तज्जनित सुख माना गया है। यही अद्वयावस्था किंवा यौनयौगिक साधना है। जिस राग रूप विषादि से सांसारिक बन्धन होता है उसी रागादि से साधक मुक्त भी होता है- रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते, वही २.२.४६-५१।

भोग-योगवाद

काममिथ्याचारों से विरत करने वाली स्थविरवादी परम्परा में षड्वर्गीय भिक्षुओं जैसे अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि जिन भिक्षुओं की कामवासना चीवर के भीतर शान्त नहीं होती थी वे उसके लिए उन्मुक्त अवस्था की खोज में रहते थे। उनका चित्तविक्षोभ स्वप्नावस्था में और भी क्षुब्ध हो जाता था। शायद इसी चित्त वृत्ति से मुक्त होने के लिए वज्रतन्त्र परम्परा में कामोपभोगमूलक व्याख्या की गई बौद्धदर्शन की। इसी लिए वहां आत्मपीडन के मार्ग को उपयोगी नहीं माना गया बल्कि कामोपभोग को स्वीकार करना युक्ति युक्त सिद्ध किया गया है -

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानै र्यथेच्छतः
अनेन खलु योगेन लघुबुद्धत्वमाप्नुयात्।
दुष्करै र्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्धयति।। गुह्यसमाज, पृ. २७

उत्तरकाल में तथागत के साथ उनकी भार्या या शक्ति का भी वर्णन हुआ है। पंचस्कन्धों को पंच तथागत माना है और ये पंचस्कन्ध निःस्वभाव हैं शून्य हैं। वज्रसत्त्व इसी शून्यता के प्रतिरूप हैं। इस शून्यता रूप पंचस्कन्धों से काय-वाक्-चित्त रूप अध्यात्म का विकास हुआ है। यहां शून्यता का तात्पर्य अभावात्मक नहीं है बल्कि स्वाभाविक सत्ता की अस्वीकृति है। गुह्य साधना में उसका अभावात्मक अर्थ बतलाकर शील विशुद्धि से संबद्ध सारे आचार नियमों की सीमा को बुरी तरह से तोड-मरोड दिया और योगसाधना में साधन के रूप में पंचमकारों का प्रयोग होने लगा। गुह्य समाज और हेवज्रतन्त्र इसके साक्षात् प्रमाण हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के आ जाने से उसकी इस प्रवृत्ति के विकसित होने में और भी सहयोग मिला। महायान में अनेक जन्मों तक प्राणिहित के लिए बोधिसत्त्व अपना सर्वस्व उत्सर्ग करता था बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्त। पर वज्रतन्त्र परम्परा में वह सहज आयास में ही इसी जन्म में प्राप्त किया जा सकता है (गुह्य समाज, पृ. १४४)।

बुद्ध में प्रज्ञा और करुणा का सामरस्य है। संसार के उद्धार के लिए करुणा ही 'उपाय' है, प्रज्ञा नारी है, वज्र है, उपाय या करुणा पद्म है दोनों की युगनद्धता है। बुद्ध काय-वाक्-चित्त वज्रधर हैं। उसी से पंच ध्यानी बुद्ध निकले जो पंचस्कन्धों के अधिष्ठाता हैं। उनकी अपनी मुद्रायें और शक्तियां हैं। इस तरह पांच कुलों से तथागत मण्डल बनता है जहां से गुह्यसमाज का प्रारंभ होता है। तन्त्रों में मण्डल या चक्र बनाये

जाते हैं जो मानचित्र हैं ।उनमें तथागत मण्डल का समग्र वर्णन समाहित रहता है। भग, देह और बोधिचित्त की कल्पना इस मण्डल में की जाती है (गुह्यसमाज, पृ. १५९)। इसमें नैरात्म्य की कल्पना से बोधिचित्त उत्पन्न होता है, गुरु के सहयोग से सिद्धियां प्राप्त होती हैं जिनमें कामोपभोग, मांसाहार, सब कुछ विहित है, रागचर्या ही बोधिसत्त्वचर्या है। यहीं फिर मन्त्रजप और समाधि, हठयोग होता है, वज्रसिद्धि होती है। उस वज्रसिद्धि में योगी को पंचमकारों के प्रयोग की छूट होती है। वह गम्य, अगम्य, भक्ष्य, अभक्ष्य आदि सीमाओं से मुक्त हो जाता है। इसी भोग से योग और योग से निर्वाण की कल्पना की गई है। इस पूरी कल्पना में प्रज्ञा को पद्म, नारी, योनि माना है और उपाय को वज्र, नर, पुरुषेन्द्रिय कहा है। दोनों की युगनद्धता महासुख का कारण है। चित्त शुक्र का काम करता है। इसकी पुष्टि 'एवं' की अवधारणा से भी की गई है। 'ए' माता है 'व' वज्रधर है, पिता है, 'व' का अनुस्वार अनाहत नाद है।

ऐसी ही कापालिक साधना भी होती है। कपाल पद्मभाजन है जो नारीशक्ति का प्रतीक है(हेवज्रतन्त्र, २.३.५८)। 'क' का अर्थ है सुख। महासुख का पालन करने में समर्थ व्यक्ति ही कापालिक हो सकता है। हेरुक कापालिक हैं, द्वेष देवता हैं, तदनुरूप उनका वेश है, भयानक रूप है, यौन साधनारत हैं।

राग और महाराग

राग का अर्थ है आसक्ति। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में राग करुणा अर्थ में भी प्रयुक्त है रञ्जति रक्षति। ज्वालावलीवज्रमाला तन्त्र में उसका अर्थ 'उपाय' मिलता है। क्रमशः इसका अर्थ-विस्तार होता गया और मैथुन-योगोत्पन्न सुख के अर्थ में उसका प्रयोग होने लगा। बोधिचित्त और सहजावस्था पाने का वह एक साधन बन गया[१]। मैथुनी साधना के संदर्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि राग से ही व्यक्ति बंधता है और उसी से वह मुक्त होता है [२]। शर्त यह है कि उसे पूर्णज्ञानी होना चाहिए। तब उसे महाराग कहते हैं और तभी महासुख मिलता है।

---

१. महारागानुरागेण सहजानन्दस्वरूपतः - हेवज्रतन्त्र, २.५.७

२. रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते।
विपरीत भावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः। ।। सुभाषित संग्रह
रज्यते रागचित्तेन रागभोगेन मुच्यते - चित्तविशुद्धिप्रकरण, पृ. ३५

समरसता

राग से ही सम्बद्ध है समरसभाव। इसका अर्थ है विश्वसत्य में स्वयं को पूर्णतः एकाकार कर लेना। हेवज्रतन्त्र में कहा है - सहजता आ जाने पर प्रज्ञा और उपाय में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। हीन, मध्यम और उत्कृष्ट सभी समान लगने लगते हैं [१]। सम का अर्थ तुल्य और रस का अर्थ चक्र है। अर्थात् समरसं का तात्पर्य एकभावत्व है [२], संसार के अनुभव में समा लेना है। इसको 'स्वातन्त्र्यम्' भी कहा गया है। यही आत्मभाव है, यही महासुख है, संवेद्य है, स्व-परभाव विकल्प विनिर्मुक्त है [३]। यह अवस्था प्रज्ञा और उपाय से संयुक्त है, राग-विराग से मुक्त है। यही युगनद्धता है।

सरहपा आदि सिद्धों ने भी 'समरस' का प्रयोग किया है जहां कोई वर्णभेद नहीं, अन्तर नहीं, जल में जल का प्रवेश जैसा है [४]। समरस हो जाने पर 'सहजता' आ जाती है जहां न दुःख रहता है और न रोग और मृत्यु। यही शून्यता है [५], प्रज्ञोपाय है, एकत्व है। शिव और शक्ति की एकता में भी यही समरसता रहती है।

महासुख

महासुख सर्वोत्तम सुख माना गया है इसलिए उसका संबन्ध निर्वाण से रहा है। प्रारंभिक बौद्धधर्म में निर्वाण का प्रश्न उतना नहीं था जितना आर्यसत्य का। वहां निर्वाण का स्पष्टीकरण निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूपों से हुआ है। निर्वाण का तात्पर्य है जन्म-मृत्यु का पूर्णतः अभाव। यहां वासना और संस्कार समाप्त हो जाते हैं। विधेयात्मक रूप में यह अवस्था शान्त, प्रणीत, प्रज्ञासंपन्न और संस्कार विनिर्मुक्त है। परम, विशुद्ध, अक्षर, ध्रुव, राग-द्वेषमुक्त, सत्य, अनन्त, अच्युत, शाश्वत, अमृत, अज्ञात, असंस्कृत, अकृत, केवल, शिव, युगक्षेत्र आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। समूचे पालि त्रिपिटक में निर्वाण की यही व्याख्या विस्तार से मिलती है।

महायान में निर्वाण की व्याख्या ने एक नया मोड लिया। नागार्जुन ने उसे निःस्वभाव कहा। चन्द्रकीर्ति ने विशुद्धिमग्ग के समान सोपधिशेष और निरुपधिशेष रूप में उसे स्वीकार किया। प्रो. पाडसन ने उसका संबन्ध सौत्रान्तिकों के प्रतिसंख्या-

---

१. हीन-मध्यमोत्कृष्टान्येवान्यानि यानि तानि च.... हेवज्रतन्त्र, १.८.३७

२. समं तुल्यमित्युक्तं तस्य चक्रे रसः स्मृतः ।
समरसत्वेकभावत्वं एतेनार्थेन भण्यते ।। वही. १.८.४०

३. वही. १.८.४६

४. जत्त वि पैसइ जलहि जलु तत्तइ समरस होइ - दोहा, ७४.

५. दोहा १९, ३२

निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध से जोडा है। इसकी तुलना हम पातञ्जलि के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के साथ भी कर सकते हैं। लगता है, महायान में निर्वाण का विधेयात्मक रूप अधिक दिखाई देता है। अश्वघोष का तथता सिद्धान्त इसी का सूचक है जहां सब कुछ निर्वृत्त हो जाता है।

विज्ञानवाद में असंग और वसुबन्धु ने निर्वाण की व्याख्या शून्यता के रूप में की है। वह विज्ञप्तिमात्रता रूप है, ग्राह्य-ग्राहक भाव से विनिर्मुक्त है, धर्मकाय है। तदनुसार संसार और निर्वाण में कोई विषमता नहीं है, बल्कि संसार को शून्यात्मक मानने का पूर्णज्ञान रूप निर्वाण की कल्पना है।

वज्रयान में निर्वाण की यही परिकल्पना महासुख के रूप में उपलब्ध है। वही धर्मकाय है, वज्रसत्त्व है, बोधिचित्त है। वहां निर्वाणधातु को सतत् सुखमय माना गया है। वह भुक्ति-मुक्ति पद रूप है, सुखावती है। मात्र बिकल्पात्मक नहीं, बल्कि विचार-विनिर्मुक्त है। सरहपाद ने दोहाकोश में इसे और भी स्पष्ट किया है। वहां उन्होंने उसे जल में जल के मिलने के समान कहा है (दोहा क्र. ३२)। महायान में जो स्थान धर्मकाय का है, वही स्थान वज्रतन्त्र परम्परा में वज्रकाय, सहजकाय अथवा महासुखकाय ने ले लिया। महासुखकाय चतुर्थकाय बन गया। इसी काय से तथागत अपनी शक्ति या भगवती का आलिंगन करते हैं।

यह महासुख आदि-अन्त रहित है, भाव-अभाव से विरहित है, पूर्णज्ञान युक्त है, परमानन्दमय है। हेवज्रतन्त्र में उसे धर्मकाय माना है, प्रज्ञोपाय है, वज्रसत्त्व है। यह सुख बिना देह के प्राप्तव्य नहीं है। वह व्यापक-व्याप्य है, विरमानन्द है, अद्वय ज्ञानमय है। वज्रयान में अद्वयज्ञान के बाद महासुख आता है। वाराही और शून्यता देवियां भगवान महासौख्य का आलिंगन करती दिखती हैं, अद्वय प्रकृति से ही भगवान ने इस संसार की उत्पत्ति की है।

तथागत अमिताभ सुखावती में निवास करते हैं। हेवज्रतन्त्र में भगवान अपनी प्रकृति को वज्रगर्भ से स्पष्ट करते हैं कि मैं बुद्ध हूँ। सर्वज्ञ हूँ, मूर्ख मुझे नहीं जान पाते। मैं षड्वज्रयोषित की भग रूप सुखावती में निवास करता हूँ जो एकाकार है। वहां मैं शुक्र रूप में रहता हूँ [१]।

---

१. विहरे ऽ सुखावत्यां षड्वज्रयोषितो भगे।
एकारादिरूपे तु बुद्धरत्नकरण्डके।। आदि - हेवज्रतन्त्र, २.२.३८
योषितभगे सुखवत्यां शुक्रनाम्ना व्यवस्थितः हेवज्रतन्त्र, २.२.४१

वज्रयान ने महासुख रूप बोधिचित्त को प्राप्त करने के लिए मैथुनी योगसाधना को माध्यम बनाया है। सहजयान ने भी यही स्वीकार किया है। तदनुसार उस मैथुनी साधना में साधक प्राणायाम के माध्यम से शुक्र को मणिपूर (नाभि के समीप) किंवा निर्माणचक्र में रोकता है और उसे आगे धर्मचक्र (हृदय में) और संभोगचक्र (गले के समीप) से पार करते हुए उष्णीषकमल (शिरस कमल) तक पहुंचाता है जहां वह महासुख उत्पन्न करता है। यह शुक्र बोधिचित्त का समानार्थक है। बोधिचित्त से पंचभूतों की प्रकृति उत्पन्न हो जाती है। पंचभूतों के अधिष्ठाता पंचध्यानीबुद्ध हैं और उनके अपने कुल हैं जिनका वर्णन हेवज्रतन्त्र और उसकी टीका कण्हकृत योगरत्नमाला (हेवज्रतन्त्रपञ्जिका) में विस्तार से मिलता है।

मन, प्राण एवं बिन्दु (शुक्र) तीनों समान रूप से चंचल है। योगी यदि उनमें से किसी एक की भी चंचलता को वश में कर लेता है तो शेष स्वतः वश में हो जाते हैं। तान्त्रिक बौद्धधर्म में चित्त को शून्यता स्वभावी माना गया है। संवृत दशा में वही शुक्र है और पारमार्थिक दशा में बोधिचित्त। बोधिचित्त ही निम्नगामी होकर अन्नमय देह में शुक्र बन जाता है। जब वह स्खलित होता है तो देहसृष्टि होती है। साधक इसी शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाता है, उसे स्थिर और विवृत करता है। प्रज्ञोपाय के योग से बिन्दु का उद्‌भव होता है। यही बिन्दुक्षोभ है जो बोधिचित्त का उद्‌भव है। इसी को कुण्डलिनी का जागरण कहा जाता है। इसी को कमलकुलिश योग कहा जाता है। कमल और कुलिश क्रमशः स्त्रीत्व और पुंसत्व का बोध कराते हैं। उष्णीषचक्र में उस का स्थिर होना ही महासुखदशा और सहजानन्द की उपलब्धि है। कलश, प्रज्ञा और अनुत्तरसेक का प्रयोग बिन्दु के आरोह एवं अवरोह पूर्वक समाप्य आवर्तन में होता है। सन्तों का सुरत योग भी इसी प्रकार सहजानन्द को साध्य मानता है। अन्तर यह है कि तान्त्रिक बौद्ध साधना का प्रारंभ नाभिचक्र से होता है जबकि सुख साधना को संतों ने त्रिपुटी या सहस्त्रदलकमल से की है। यहां प्रज्ञा (नारी) की आवश्यकता नहीं पडती।

बौद्ध परम्परा की दृष्टि से भी अन्य परम्पराओं के समान प्रत्येक व्यक्ति में 'बुद्धत्व' प्राप्ति की क्षमता रहती है। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद सत्त्वार्थ के हित के लिए किये जाने वाले कार्य अनाभोगिक होते हैं (उत्तरतन्त्र, ५)। इसी को अप्रतिष्ठित निर्वाण कहा जाता है। माण्डूक्योपनिषद् (३.३९) का यही अस्पर्श योग है जहां चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यही ओंकारसाधना है।

महायान परम्परा में द्विविध सम्भार का उल्लेख आता है। तदनुसार बुद्धकाय दो प्रकार का है - धर्मकाय और रूपकाय। धर्मकाय को ज्ञानसम्भार कहा जाता है और

रूपकाय पुण्यसम्भार है जिसका हेतु बोधिचित्तोत्पाद और महाकरुणा आदि हैं। पारमितायान में इनसे उत्पन्न शून्यताज्ञान धर्मकाय का असाधारण हेतु है तथा वह रूपकाय का सहकारी प्रत्यय होता है। तन्त्र परम्परा में अन्तर यह है कि यहां रूपकाय का असाधारण हेतु गम्भीर उपाय है। यह गंभीर उपाय है अपने इष्टदेव से योग की भावना प्राप्त करना। इसके लिए देवमण्डलयोग का अभ्यास किया जाता है जो शमथ स्वरूप है। वही अद्वैत साधना है, तन्मयता है। पारमितायान में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अनेक जन्म लेने पडते हैं पर वज्रतन्त्र परम्परा में एक ही जन्म में या कुछेक वर्षों में बुद्धत्व प्राप्त कर लिया जा सकता है।

तान्त्रिक परम्परा ने सांसारिक प्राणियों की तीव्र विषय वासना की प्रवृत्ति देखकर भोग से योग की प्रणाली को स्वीकार किया। और बिन्दु साधना को केन्द्र बनाया। इस परम्परा में बिन्दु के अनेक अर्थ किये गये है। मन्त्र में बिन्दु को एक केन्द्र शक्ति के रूप में स्वीकारा गया है जो त्रिकोणात्मक है - इच्छा, ज्ञान और क्रियास्वरूपा है। बिन्दु शिव रूप है और त्रिकोण शक्ति स्वरूप है। हेवज्र में 'ए' योनिरूप है, शक्ति रूप है और 'वं' बिन्दु रूप है, लिंगरूप है। एक प्रज्ञा है और दूसरा उपाय है। यही सृष्टि का कारण है। इसी की सिद्धि बिन्दुसिद्धि है।

हेवज्रतन्त्र परम्परा में ललना और रसना नाडियों का विवरण मिलता है जो वाम और दक्षिण नाडियां भी कही जाती हैं। ये दोनों नाडियां प्रज्ञा और उपाय से सम्बद्ध हैं। वाम नाडी रक्त का संचार करती है और दक्षिण नाडी शुक्र का। यहीं श्वास-प्रश्वास की गति होती है। इस गति के साथ ही मानसिक विकल्प घूमते रहते हैं। मन को स्थिर करने के लिए मातृकाओं को मन के स्तर पर उच्चारण किया जाता है फिर स्वरों का ललना में और व्यञ्जनों का रसना में ध्यान करना अनिवार्य होता है। शरीर के ऊर्ध्व केन्द्र की ओर गति का बोध होने पर तीसरी नाडी अवधूती का अनुभव होता है जो नाभि, हृदय, कण्ठ और सहस्रार में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

जननेन्द्रिय में तीनों नाडियां मिलती हैं। ललना और रसना अधोवर्तिनी है और अवधूती ऊर्ध्ववर्तिनी हैं। इन तीनों के केन्द्र में बोधिचित्त है। यही शुक्र है। यही बोधिचित्त ब्रह्मरन्ध्र में महासुख और सोमरूप है। ललना और रसना के नियन्त्रित हो जाने पर श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण हो जाता है जो बोधिचित्त के उदय का कारण बनता है। अग्नि और सूर्य-चन्द्र के मिलन से प्रदीप्त होनेवाली अग्नि चाण्डाली कहलाती है, वही नैरात्म्य है। ऊर्ध्ववाहिनी होने पर उसे चाण्डाली कहा जाता है और ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर उसे 'हं' कहते हैं जो संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। तब उसी को अवधूती कहा जाता

है। अर्थात् 'अ' मूलाधार में रहता है और 'ह' सहस्रार में। दोनों की अद्वैतावस्था 'अहं' है, परमानन्द है। नाभिचक्र में 'अ' बोधिचित्त और नैरात्म्य दोनों है। यहीं प्रकृति-पुरुष रहते हैं। यहीं वह सहस्रार के बोधिचित्त का मिलन कराता है। बोधिचित्त ही शुक्र है, बिन्दु है जो संपूर्ण शरीर में व्याप्त है। मन की चंचलता बिन्दु की चंचलता है और मन की स्थिरता बिन्दु की स्थिरता है। यही बिन्दुसाधना है।इसका विस्तृत वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

इन्द्रियवासना की पूर्ति करना वज्रतन्त्राचार्यों का लक्ष्य नहीं रहा। उनका लक्ष्य था वृत्तियों का सहज उपयोग। वीरभाव से उनका उपभोग करके दिव्य भाव प्राप्त करना रहा है। पृथ्वी और जल तत्त्व की प्रधानता के कारण बिन्दु की अधोमुख प्रवृत्ति रहती है। प्राणवायु द्वारा इसमें स्थिरता आती है जो बिन्दु-स्थरीकरण कहलाता है। अग्नितत्त्व से उसकी उष्णता सूख जाती है और वह ओज रूप में परिणत हो जाती है। इस बीच सहजता पूर्वक इन्द्रिय वासनाओं की पूर्ति साधक करता रहता है। फिर उसमें करुणा जाग्रत होती है। इसी को सामरस्य योग कहा जाता है।

सामरस्य योग में चक्रों का भी उपयोग किया जाता है। वज्रतन्त्र परम्परा में चार कार्यों पर आधारित चार चक्र माने जाते हैं - निर्माणचक्र (नाभि स्थित अथवा योनि स्थित), धर्मचक्र (हृदयस्थित), संभोगचक्र (कण्ठ स्थित) तथा महासुखचक्र (मस्तक स्थित)। शैवतन्त्र परम्परा में सात चक्रों की मान्यता है - आधार चक्र (नाभि या योनि स्थित), स्वाधिष्ठानचक्र (लिंगमूल स्थित), मणिपूरचक्र (नाभि स्थित), अनाहतचक्र (हृदयस्थित), विशुद्धचक्र (कण्ठ स्थित), आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य स्थित), और सहस्रार चक्र (मस्तक स्थित)। जैनाचार्यों ने इसमें दो चक्र और जोड दिये - ललना चक्र (अवांतर जिह्वा घंटिका के पास) और सुषुम्नाचक्र (सोमचक्र के ऊर्ध्वभाग ब्रह्मबिन्दुचक्र में)। यहां सहस्रारचक्र को ब्रह्मरंध्रचक्र भी कहा गया है। इसका विस्तृत वर्णन सिंहतिलकसूरि (१४ वीं शती) के परमेष्ठी विद्यायन्त्र स्तोत्र में मिलता है।

हेवज्रतन्त्र साधना का प्रभाव तिब्बती साधना पर बडी गहराई से पडा। सी.आर. लामा ने अपने एक लेख "तिब्बती त्सोद्-साधना (आत्मोत्सर्ग पद्धति) पर छः प्रज्ञापारमिताओं का प्रभाव तथा तान्त्रिक योगसाधना" में साधिका माचिग लवडोन की तन्त्र पद्धति का विवरण दिया है जो, लगता है, हेवज्रतन्त्र पर आधारित है। इस साधना के ११ सोपान हैं जो हेवज्रतन्त्र को भी समझने में उपयोगी हैं। ये सोपान हैं -

१) अपने कुशल कर्मों के अनुसार साधना करने का मानस बनाना।

२) त्रिशरण स्वीकार करना।

३) मन में बोधिचित्त उत्पन्न करना।

४) गुरु पूजा आदि द्वारा पुण्य-साधन करना।

५) महामाता की साधना करना। यहां महामाता प्रज्ञापारमिता के रूप में अवस्थित हैं। वे हेरुक स्वरूप हैं। उनका सारा अलंकरण, गणमण्डल हेरुक समान है। उनके मूर्ध, कण्ठ, और हृदयस्थान से निसृत 'ओम् अः हूँ' की ध्वनि से ज्ञानसत्त्व का आह्वान होता है। उनके मूर्ध स्थान में सफेद रंग का 'ओम्', कण्ठ स्थान में लाल रंग का 'अः' और हृदय में नीले रंग का 'हूँ' है जो क्रमशः काय, वाक् और चित्त के प्रतीक हैं। ध्यान स्थिर हो जाने पर साधक 'फट्' कहता है जिससे हेरुक के ललाट से सफेद प्रकाश निकलकर सर्व प्राणियों के ललाट में प्रविष्ट हो जाता है और उन्हें विशुद्ध बना देता है। अहंकार विकल्प भी इससे समाप्त हो जाता है।

६) देवी मण्डल से आशीर्वाद प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना।

७) गुरु-परम्परा से प्रार्थना करना।

८) महामाता को पहचानना।

९) परा-प्रवेश।

१०) शरीर को अमृत स्वरूप मानकर उसकी पूजा करना। यहां ज्ञान डाकिनी का रूप धारणकर बायें हाथ के कपाल में शरीर के टुकडे-टुकडे करके डाल देता है। यहां 'ओम्' का उच्चारण धर्मकाय है, अः संभोगकाय है और 'हूँ' निर्माणकाय है। साधक इस मन्त्र का जप करता है, फिर 'हा हो ह्रीं' का उच्चारण करता है। यहां गणमण्डल की पूजा होती है, बुद्ध-बोधिसत्त्व की पूजा की जाती है, भूत-प्रेतों का आह्वान होता है।

११) सभी प्राणियों के दुःख मुझे मिलें और मेरा सुख सभी प्राणियों को मिले इसकी कामना की जाती है।

१२) अन्तिम साधना में कुशल-अकुशल, आशा-निराशा सभी कुछ का त्याग कर दिया जाता है।

वज्रतन्त्र की दार्शनिक परम्परा को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हेवज्रतन्त्र एक ओर जहां माध्यमिक दर्शन की शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद की भित्ति पर खडा है वहीं योगाचार के विज्ञानवाद को भी समेटे हुए है। प्रज्ञा और उपाय, शून्यता और करुणा की युगनद्धता और समरसता ने चित्ताद्वैतसाधना के समन्वयात्मक समतायोग की ओर आकृष्ट किया है। इसमें स्वसंवेदन रूपचित्त का बोध ही परमार्थ है, निर्विकल्पक है और महासुखरूप है। वज्रतन्त्र परम्परा के ये कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त हैं जिन पर उसकी समूची साधना टिकी हुई है। इसलिए अब हम साधना के भी कुछ सूत्र देख लें।

** ** **

५

वज्रतन्त्र साधना

पृष्ठभूमि

साधना एक चर्या-पद्धति है जहां आचार और विचार का समन्वय होता है। प्राचीन काल में उसे 'समय' की संज्ञा दी जाती थी जिसमें आगमीय मर्यादा का पालन एक बन्धन माना जाता था। इसलिए दीक्षित भिक्षु को "समयी" भी कहा जाता था जिसका लक्ष्य था धार्मिक साधना के माध्यम से राग-द्वेष विनिर्मुक्त रूप निर्वाण की प्राप्ति। काय, वाक्, चित्त यहां साधन हैं और प्राण, शुक्र, मन उपकरण है। तान्त्रिक परम्परा में इनका उपयोग वामाचार और दक्षिणाचार दोनों में होता है। दक्षिणाचार में आचारिक शुद्धि होती है, इन्द्रिय संयमन होता है जिसे वहां पशवाचार कहा जाता है क्योंकि वहां दया, मोह, भय, लज्जा, शील आदि का बंधन रहता है, नारी का चिन्तन नहीं होता और बिन्दु की शुद्धि रहती है। वामाचार में इसके विपरीत उद्धतता रहती है, पंचतत्त्वों-(मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) का खुलकर प्रयोग होता है, प्रकृति किंवा नारी का पूरा उपयोग किया जाता है, अद्वैत की साधना की जाती है। इस सभी के लिए साहस और वीरता की आवश्यकता होती है इसलिए इसमें वीरभाव माना जाता है। तृतीय भाव दिव्य कहा जाता है जिसमें साधक अद्वैत अवस्था पा लेता है। इसमें प्रकृति-पुरुष का कोई भेद नहीं रहता, न त्याग रहता है, न ग्रहण। मात्र समरसता रहती है। यही महासुख है।

वज्रतन्त्र परम्परा में इसी महासुख की साधना की जाती है शक्ति साधना के माध्यम से। इस माध्यम में मन्त्रों का भी प्रयोग होता है। सहजयान में उनका प्रयोग आवश्यक नहीं है। हेवज्रतन्त्र में मन्त्रों का भी प्रयोग है और सहज भाव की भी अभिव्यक्ति है। दोहाकोश में सहजयान की प्रमुखता है। ऐसा लगता है, वज्रतन्त्र का विकसित रूप ही सहजयान है। हेवज्रतन्त्र की दृष्टि से देखा जाये तो वह एक पद्धति विशेष है पर दोहाकोश की परम्परा में उसे हम स्वतन्त्र यान की भी संज्ञा दे सकते हैं। यहां हमने हेवज्रतन्त्र परम्परा को ध्यान में रखकर ही उसका विवेचन किया है। इस विवेचन में दीक्षा, अभिषेक, देवी-देवताओं की पूजन, मन्त्रप्रयोग, सन्ध्याभाषा, हठयोग आदि पर विचार किया जायेगा। मन्त्रयान में मन्त्रों का प्रयोग मुख्य था, वज्रतन्त्र परम्परा में उसके साथ ही शक्ति-संभोग का प्रयोग बढा और सहजयान में कर्मकाण्ड को दूर रखकर सभी को सहजता पूर्वक स्वीकार कर लिया। दासगुप्त के शब्दों में वीरभाव की साधना वज्रयान है और सहजयान की साधना दिव्य भाव है। एक योगतन्त्रयान है दूसरा अनुत्तर योगतन्त्र यान।

प्रारम्भिक बौद्धधर्म में साधक का लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति था जहां दुःख का आत्यन्तिक निरोध हो जाता था। महायान में लक्ष्य बना बुद्धत्व प्राप्ति का जहां बुद्ध का व्यक्तितत्व लोकोत्तर बन गया और निर्वाण सुखरूप हो गया। यहां क्लेशावरण के साथ ही ज्ञेयावरण से भी मुक्ति होती है और धर्मकाय तथा सर्वज्ञत्व की उपलब्धि होती है। इस उपलब्धि के लिए महायान में महाकरुणा का होना आवश्यक है जो बुद्ध को अप्रतिष्ठित निर्वाण में ठहराती है, और बुद्ध सांसारिक प्राणियों की निवृत्ति तक संसार में रहना चाहते हैं। यह अवस्था अर्हदावस्था से ऊंची है। वज्रतन्त्र परम्परा में यह स्थान महासुख ने ले लिया। स्थविरवादी साधना में शील, समाधि और प्रज्ञा के आधार पर आनापान सति (प्राणायाम) की साधना की जाती थी उपचार और अर्पणा समाधि में। महायान में धर्मकाय और निर्वाण में अभिन्नता स्थापित कर बोधिचित्त की साधना की जाती है। बोधिसत्त्व की बोधियुक्त करुणा ही बोधिचित्त है जो भूमियों से होकर बोधिचित्तोत्पाद के माध्यम से प्राप्त हो पाता है। सुवर्णप्रभाससूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक, महावस्तु आदि ग्रन्थों में मूर्तिपूजा, मन्त्र, धारणी, मांसभक्षण, चमत्कार प्रदर्शन, मण्डल आदि तान्त्रिक प्रवृत्तियों के संकेत मिलते हैं।

गुरु, दीक्षा और अभिषेक

वज्रतन्त्र में गुरु का सर्वोपरि महत्त्व है। उसके बिना दीक्षा नहीं दी जाती और दीक्षा के बिना मन्त्र सिद्ध नहीं हो पाता। सद्गुरु वस्तुतः सूर्य सदृश है जिसकी ज्ञान की किरणों से शिष्य प्रकाशित हो जाता है। ऐसे गुरु को वज्राचार्य कहा जाता है। वही सुगत है, धर्मकाय है, मुक्तिप्रदाता है। दीक्षा के पूर्व शिष्य को शाकाहारी और ब्रह्मचारी होना आवश्यक बताया है। कहीं-कहीं इसके विपरीत भी कहा गया है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि यहां साधकों की अनेक श्रेणियां बनाई गई हैं। अद्वयवज्र में दो प्रकार के शिष्यों का उल्लेख है - शैक्ष और अशैक्ष । अशैक्ष आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नत होते हैं, उनके विनय नियम भी कठोर होते हैं। शैक्ष संसार चक्र में फंसा राग-द्वेषी होता है। काजी दवासंदुप ने वज्रयानी शिष्य की छः श्रेणियां निर्दिष्ट की हैं - क्रियातन्त्रयानी, चर्यातन्त्रयानी,. योगतन्त्रयानी, महायोगतन्त्रयानी, अनुत्तरयोग तन्त्रयानी और अतियोग तन्त्रयानी (चक्रसंभार तन्त्र, भूमिका, पृ. ३२)। यह विभाजन किस तत्त्व पर आधारित है, नहीं जानता, पर इतना अवश्य है कि वज्रतन्त्र परम्परा में शिष्य की श्रेणियां साधारणतः चार मानी जाती हैं महायोग तथा अतियोग को छोडकर। क्रियातंत्र प्रारंभिक अवस्था है जहां कठोर नियमों का पालन करना पडता है, मूर्तिपूजा और धार्मिक विधियां की जाती

हैं। चर्यातन्त्रयानी व्यावहारिक आचार संहिता का पालन करता है, योगतंत्रयान में योगाभ्यास किया जाता है और अनुत्तरयोगतंत्र उच्चतम श्रेणी है जहां इन नियमों का बन्धन नहीं रहता [१]। इस संदर्भ में अवधूती भी स्मरणीय है [२]।

बोधिचित्त प्राप्ति के लिए योग अत्यावश्यक है। पंचकर्म में कहा गया है कि तत्त्व के बिना व्रतचर्यादिक व्यर्थ हैं, पर बिना तपस्या के पूर्णज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए सही दीक्षा गुरु की खोज आवश्यक हो जाती है। बिना गुरु के ईश्वर की प्राप्ति भी नहीं हो पाती। इसलिए गुरु का महत्त्व और बढ जाता है। तान्त्रिक साधना एक गुह्य साधना है। उससे शारीरिक अथवा मानसिक ताप होने का भी अंदेशा बना रहता है। सत्यानुभूति होने पर एक ओर साधक का आध्यात्मिक विकास होता है पर दूसरी ओर गुरु के योग्य दिशा-निर्देशन के अभाव में वह पदच्युत भी हो सकता हैं। इसलिए अन्य तान्त्रिक साधना के समान बौद्ध तान्त्रिक साधना भी योग्य गुरु के चुनाव पर बल देती है।

योग्य गुरु और प्रज्ञा (स्त्री) का चुनाव कर लेने के बाद योगी गुरु को प्रणाम करता है और फिर गुरु उसे अभिषिक्त करता है। इसे वज्राभिषेक कहा जाता है[३]। कहीं-कहीं चार अभिषेकों और उनके मन्त्रों का वर्णन आता है - कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाभिषेक और वज्राभिषेक [४]। कलशाभिषेक में उदक, मुकुट, वज्र, घाट, नाम और आचार्य अभिषेक होते हैं और ये क्रमशः अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि, वैरोचन को प्रतिनिधित्व करते हैं। गुह्याभिषेक में प्रज्ञा और उपाय के संयोग होने की प्रक्रिया है। साधना को उष्णीषकमल की ओर ले जाकर महासुख कैसे प्राप्त करना चाहिए, इसे गुरु स्पष्ट करता है। इसके बाद वह पुद्गलशून्यता का उपदेश देता है जिसे प्रज्ञाभिषेक कहा जाता है। वज्रज्ञान से वज्राभिषेक का सम्बन्ध है।

दीक्षाग्रहण के बाद योगी मुद्रा के साथ मण्डल में प्रवेश करता है और चारों दिशाओं को मन्त्रजल से शुद्धकर उन्हें निर्विघ्न बनाता है। योग साधना में योगी स्वयं को ईश्वरमय मानता है और योगिनी प्रज्ञा को शून्यतामय। एतदर्थ योगी पंचतथागतों तथा उनकी योगिनियों को बीजमन्त्रों के साथ शरीर के विविध भागों में संस्थापित करता है और तदनुरूप ध्यान करता है।

---

१. सेकोद्देशटीका, पृ. ५१

२. अवां पापं ध्रुवं ध्वस्तं प्रभास्वर रूपतवात् तन्यतेत्यवधूती। दोहोकोश टीका,, दोहा नं. ४

३. प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि, अध्याय ५, ज्ञानसिद्धि

४. क्रियासंग्रहपंजिका, पृ. ४, हेवज्रतन्त्र, १.१.१०; १.८.४; २.३.२८-३०; १.४

गुरु शिष्य की योग्यता देखकर तदनुसार किसी कुल (द्वेष, मोह, राग, चिन्तामणि ओर समय) मे उसे दीक्षित करता है, पंच ध्यानी बुद्धों में से किसी एक बुद्ध को मण्डल में प्रतिष्ठित करता है। हेवज्रतन्त्र में आचार्य को शास्ता कहा गया है (२.२.१५) वहां शिष्य भी चार वर्गों में विभाजित हैं - मृदू, मध्य, अधिमात्रक और अधिमात्रम्। गुरु द्वारा मन्त्र दिया जाना ही दीक्षा है। दीक्षा प्रणालियां भी पृथक् पृथक् हैं। दीक्षा, चर्या, ज्ञान तथा योग ये चारों भोग और मोक्ष के साधन हैं।

कहीं कहीं दीक्षा के तीन भेदों का भी वर्णन मिलता है - समय,विशेष और निर्वाण। ये क्रमशः गुणों की दृष्टि से उच्चतर होती जाती हैं।

दीक्षा का सम्बन्ध अभिषेक से भी है। अभिषेक का अर्थ है भावनाओं की निष्पत्ति; ज्ञानरूप जल से सर्वावरण का परिक्षालन (हेवज्र. १.४)। अभिषेक तीन प्रकार के होते हैं - पूर्वसेक में देह, वाक्, चित्त, इन्द्रिय रूप, राग-द्वेष और ज्ञान की शुद्धि की जाती है, उत्तरसेक में लोकोत्तर सिद्धियां प्राप्त होती हैं। और अनुत्तरसेक के लिए बाह्य मुद्रा की आवश्यकता नहीं रहती। वज्रयान की इस अभिषेक परम्परा में साधक के साथ उसकी मुद्रा-शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। वह सुन्दरी और सर्वगुणसंपन्न षोडशवर्षीया होना चाहिए। गुरु तथागत की साक्षी पूर्वक उसका प्रज्ञाभिषेक करता है। अद्वययोग में वर-वधू के रूप में उसकी कल्पना की गई है। दोनों गुरु के पास जाकर प्रार्थना करते हैं, वज्राचार्य उनका अभिषेककर बुद्धकुल में उन्हें संमिलित करते हैं। यह वज्राभिषेक है जो शिष्य के हाथ में वज्र और घण्टा देकर पूर्ण होता है। वज्राभिषेक के बाद ही वह अपनी मुद्रा के साथ मण्डल में प्रवेश करता है। अभिषिक्त होने पर हेरुक प्रविष्ट हो जाता है। तब ध्यान किया जाता है (हेवज्र. १.४)।

गुह्य समाज में जल, दर्पण, वज्र, नाम आदि छः अभिषेकों का वर्णन मिलता है। दृष्टि खोलने के लिए अंजन का प्रयोग होता है। गुरु स्वर्ण-रजत भाण्ड में अंजन रखता है घी और मक्खन के साथ। शिष्य 'प्र' अक्षर का उच्चारण कर शलाका से उसे अपनी आंखों पर लगाता है इस मंत्र के साथ "ओं वज्रनेत्र अपहर पटलं ह्रीः"। आचार्य अभिषेक में साधक घण्टा और वज्र के समायोग से अपनी मुद्रा को आलिंगन बद्ध करता है। गुह्याभिषेक में शिष्य के मुख में आचार्य प्रज्ञा का बिन्दुपात करता है। प्रज्ञाभिषेक तक आते-आते शिष्य ईर्ष्या, क्रोधादि से विरहित हो जाता है। और चतुर्थ अभिषेक में महामुद्रा सिद्ध होती है (हेवज्रतन्त्र, अभिषेक पटल)।

अभिषेक के माध्यम से वस्तुतः शिष्य को विशुद्ध बनाकर तन्त्रशिक्षा का अधिकारी बना दिया जाता है। उसमें शिष्य श्रद्धासे भरा हो और श्रुतमयी, चिन्तामयी

और भावनामयी प्रज्ञा से समाविष्ट हो। तभी शिष्य गुरु से वज्रसाधना देने की अभ्यर्थना करता है।

पूजा प्रक्रिया

वज्रसाधना में देवताओं की पूजन की जाती है। प्रातः कालीन दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर पहले ध्यान किया जाता है, उसके बाद 'ओं' के उच्चारण पूर्वक स्वकीय पापों की स्वीकारोक्ति, दूसरों द्वारा किये गये पुण्य कार्यों का अनुमोदन, त्रिशरण, तथागत मार्ग का ग्रहण, तथागत स्तुतिपाठ और मन्त्रोच्चारण किया जाता है - "ओं आः मुः"। बाद में चार ब्रह्मविहारों की साधना की जाती है। इसके बाद स्नानादिकर देवता की पूजा की जाती है। हेवज्रतन्त्र के देवतापटल में हेवज्र और उनकी योगिनियों की पूजा करने का उपदेश है। कहीं-कहीं पूजा परा, परापरा और अपरा के भेद से तीन प्रकार की भी निर्दिष्ट है। पूजा में चक्र बनाया जाता है। चक्रों का प्रारंभ चतुष्कोण से होता है और बिन्दु में उसकी समाप्ति होती है। सभी देवताओं के चक्र मूलाधार से सहस्रार तक वासनात्मक आधार पर विकसित होते हैं।

तान्त्रिक पद्धति में पूजा, बलि और होम किया जाता है। 'महामाया साधन मण्डलविधि' में आन्तरिक, बाह्य और गुप्त पूजा की बात आई है। बाह्य तौर पर पाद प्रक्षालन पूर्वक पुष्प, मण्डल, दीप आदि चढाते हैं संगीत के श्लोक के साथ अन्तर पूजा में देवों का आह्वान किया जाता है। गुप्त पूजा में महासुख का अनुभव किया जाता है, अद्वैतावस्था का भी। गुरु के लिए दक्षिणा दी जाती है, निरासक्ति को प्रदर्शित करने के लिए अपने स्कन्धों का भी दान किया जाता है (दान पारमिता)। गुरु का महत्त्व तिब्बती बुद्ध धर्म में अधिक है। गुरु की शरण में जाकर निर्विकल्पक समाधि में पहुंचकर बोधिचित्त को प्राप्त किया जाता है प्राणायाम के माध्यम से ।

क्रिया, चर्या और योगतंत्र की दृष्टि से 'सर्व दुर्गति परिशोधन' तन्त्र में पूजा सामग्री ओर उसका प्रतीकार्थ इस प्रकार दिया गया है।

सुगन्धित पदार्थ	रंग - सफेद	अर्थ - शील
पुष्प	" पीत	" समाधि
दीप	" लाल	" प्रज्ञा
सुगन्धि	" हरा	" बोधिचित्त

प्रथम तीन हीनयान में है और चौथा बोधिचित्त महायान में। यहां देवों के लिए आसन दिया जाता है उनका अभिषेक कर अर्घ और पुष्प चढाया जाता है, सामने दीप प्रज्ज्वलित करते हैं। अर्घ दान स्वर्णादि पात्र से होता है, शान्ति की सिद्धि के लिए दुग्ध, पौष्टिक और मध्यमवर्ग की सिद्धि के लिए दही, अभिचारुक और जघन्य सिद्धि के लिए मूत्र, रक्त, कुश आदि का दान किया जाता है। धारिणियों का पाठ होता है, सात पदार्थ होते हैं - दुग्ध, सफेद पुष्प, कुश, तिल, भुना चावल, लाई, उनके साथ पराग-मकरन्द भी चढाया जाता है। बलि में शहद, शक्कर, गुड अथवा दुग्ध, मक्खन, दही चढाते हैं। और यह मन्त्र भी पढते हैं -

ओं आः ह्रीं हूँ ओं मणि पद्मे हूँ ओं जलं इदं सर्वप्रेतेभ्यः स्वाहः।

बौद्धतन्त्र में प्रायः पांच तत्त्वों का उल्लेख आता है - ५ जडी बूटियां, ५ सार, ५ अनाज, ५ रत्न, ५ पराग। इन्हें घडों में रखा जाता है। घडे दो प्रकार के होते हैं - विजयकलश (अभिषेक के समय उपयोगी) और कर्मकलश (अन्य समय में उपयोगी)। घडे में प्रतीकात्मक रूप में इन पंच पदार्थों को रखा जाता है (वज्र विदारण धारिणी) -

काय	जडीबुटियां ५	वृहती, कण्डकारी, अपराजित, सफेद-लाल दण्ड पुष्प
वाक्	पराग ५	चन्दन, कस्तूरी, केशर, अगरबत्ती-केतकी, धूप
मन-चित्त	सार ५	नमक, मक्खन, शहद, इक्षुरस, पृथ्वीरस
कुशलकर्म	धान्य ५	सरसों बीज, यव, भुना चावल, तिल, मटर
पुण्य	रत्न ५	माणिक्य, प्रवाल-मूंगा, स्वर्ण, मोती, स्फटिक

इस परम्परा में कुछ अन्तर भी है। ज्ञानवज्र व्याख्याऔर हेवज्रतन्त्र में कुछ भिन्नता है। हेवज्रतन्त्र में जडी बुटियां, धान्य और रत्न मण्डल देवताओं के क्रमशः ज्ञानमयी चेतना, हृदय और शारीरिक रंग के प्रतीक हैं।

देवकुल

वज्रतन्त्र परम्परा में देवकुल का विकास शून्यता के आधार पर हुआ है। डॉ. भट्टाचार्य ने अद्वयवज्रसंग्रह की पृष्ठभूमि पर खडे होकर यह मत व्यक्त किया कि ये देवता शून्यता की अभिव्यक्तियां हैं। प्रथमतः शून्यता का साक्षात्कार होता है फिर बीज से सम्बन्ध स्थापित होता है, तीसरी अवस्था में मूर्ति की स्वरूप - धारणा होती है और चौथी में देवता का बाह्य प्रकाशन होता है। हेवज्रतन्त्र पाषाण मूर्ति के पक्ष में नहीं है। वह

तो चित्रपट पर बुद्धों और योगिनियों के चित्र बनाने की ओर अधिक प्रेरित करता है। उसमें स्थान-स्थान पर उनका विवेचन किया गया है। उनकी मुद्रा, बीज-बीजक आदि का अच्छा वर्णन वहां हुआ है (२.४.१४-२५, २.७)। तान्त्रिक पुस्तक कैसे लिखी जाये? इसका उत्तर दिया गया है कि बारह अंगुल लम्बे भूर्जपत्र पर मधु की स्याही बनाकर अस्थियों से तान्त्रिक पुस्तक लिखी जाती है। उसे किसी को दिखाना नहीं चाहिए (हे. २.७.१-१०)। हेवज्रतन्त्र (२.९) में हेरुक की उत्पत्ति का भी वर्णन है जहां उसे जगत का उद्धारक कहा गया है। इसी तरह सहजार्थ पटल में भी संभोग, मद्यपान, मांस भक्षण आदि के साथ विपुलसिद्धि की बात कही गयी है (२.११.१०-१५; १.३८)।

Wayman ने बौद्ध देवता कुल के संदर्भ में अच्छी जानकारी दी है। तदनुसार नारोपाद ने वज्रपदसार संग्रहपंजिका में कहा है - शरीर में पंचभूतों के होनेपर देवता को समझना आवश्यक है। श्रीवज्रामृततन्त्र में लिखा है कि स्वयं को समझने के लिए देवता को समझना आवश्यक है। यहां तथागत शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। हेवज्रतन्त्र की व्याख्या में तथागत पर प्रकाश डाला गया है। तदनुसार तथागत में ज्ञान और पुण्य दोनों का समागम है। वे प्रज्ञा के द्वारा तथता को प्राप्त हुए और पुण्य से, तथता से इस संसार में रूपकाय से वापिस आये- **तथा + गत; तथा + आगत (१.१.५.८)।**

तथागत का परिवार - ६ प्रकार का है - वज्र, तथागत, रत्न, पद्म, कर्म और वज्रसत्त्व। MKhas ने वज्रसत्त्व को वज्र में गर्भितकर कुल पांच परिवार माने हैं। रत्न को तथागत में सम्मिलित कर दिया जाये तो कायवज्र हो जायेगा। यदि कर्म परिवार को पद्म परिवार में गर्भित कर दें तो वाग्वज्र हो जायेगा। वज्र परिवार को पृथक् रखा गया है चित्त-वज्र के रूप में। पंचतत्त्वों के कारण पंचदेवता हैं पंचस्कन्धों की शुद्धि के लिए। उनको तीन में समाहित किया जा सकता है तथागत बुद्ध के काय वाक् और चित्त के रूप में।

बुद्ध परिवार के पूर्वज या जनक हैं - वैरोचन, अक्षोभ्य, अमोघसिद्धि, रत्न संभव अमिताभ और वज्रसत्त्व। हेवज्रतन्त्र (१.५.१२) में उन्हें ब्रह्मा आदि के समकक्ष रखा गया है। Mkhas ने इन नामों की व्याख्या इस प्रकार की है।

वैरोचन को ब्रह्मा कहा है। तिब्बतन के अनुसार यह ब्रह्मा निर्वाण पा सकता है - 'अप्रतिष्ठित निर्वाण। **अक्षोम्य** को विष्णु माना है। वह धर्मधातु ज्ञान प्राप्त करता है और पदार्थ के स्वभाव को जान लेता है। अमोघसिद्धि को शिव कहा है जो कृत्यानुष्ठानज्ञान कर संसारियों को तरह तरह की भेंट देता है। रत्नसंभव को समताज्ञानी माना है। **अमिताभ** को प्रत्यवेक्षण ज्ञानी और वज्रसत्त्व को विबुद्ध तथा सहजानन्दी

स्वीकार किया है। हेवज्रतन्त्र (१.५.१३-१४) में भी इसी प्रकार की व्याख्या की गई है।

ब्रह्मा जैसे देव के साथ ही बुद्ध को कहीं कहीं भयानक नारी देवियों के साथ भी सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ - डाकिनी। अनुत्तरयोगतन्त्र में श्री चक्रसंवरमण्डल के द्वार रक्षणार्थ योग के संपन्नक्रम में छः डाकिनियों का वर्णन है -

१.	काकाकृति	प्रत्याहार	दश इन्द्रियों का अन्तरावलोकन
२.	उलूकाकृति	ध्यान	पंच तथागतों पर ध्यान
३.	कुक्कुराकृति	प्राणायाम	वज्र जाप,
४.	शूकराकृति	धारणा	चित्तविशुद्धि
५.	यमदूत	अनुस्मृति	अधिसमाधि
६.	यम की श्मशानभूमि	समाधि	ज्ञानाधिष्ठित युगनद्धता

श्री महाखतन्त्रराज में कहा गया है कि गुरु दो होते हैं - बाह्यगुरु जो स्वयं है और अन्तरगुरु कोई अधिष्ठित इष्ट देव होता है। वीतवाद की मुक्तितिलक नामक व्याख्यान में अन्तरगुरु तीन बताये हैं - साधारण, अवस्थाजन्य और स्वचित्त। छोटे देवों के रूप में मुद्राओं का वर्णन है। विकास के रूप में अक्षर, चिन्ह और फिर मुद्रात्मक काय का अंकन माना जा सकता है। मुद्रात्मक रूपकाय में अक्षर ध्वनि + पाठ ओष्ठसंचालन से मन्त्रपाठ से होता है। पारमार्थिक रूप में यह धर्म धातु है। कभी-कभी मन्त्रपाठ मन में ही होता रहता है जिसे वज्रपद कहते हैं।

मूलरूप से धर्मकाय और रूपकाय हैं। रूपकाय के संभोगकाय और निर्माणकाय भेद हुए। चौथा काय महायान में महासुखकाय भी है। निर्माणकाय देवरूप हैं। धर्मकाय नक्षत्र आदि हैं। संभोगकाय समापत्ति और समाधि के साथ है। धर्मकाय परमानन्दमय अवस्था है जो ध्वनिमय है, दृश्य है और स्पश्र्य है। क्रियातन्त्र में देव हास्यमय हैं, चर्यातन्त्र में निष्पलक प्रेक्षण है, योगतन्त्र में उनकी करबद्ध अवस्था है और अनुत्तरयोगतन्त्र में वे संश्लिष्टरूप में हैं। हेवज्रतन्त्र (२.४.५१-५३) में भी इसका अच्छा वर्णन मिलता है।

बुद्धों के सामूहिक रूप को वज्रधर, वज्रसत्त्व, समन्तभद्र और कालचक्र कहा जाता है। वज्रधर को कहीं-कहीं देवियों से आबद्ध भी माना गया है। गुह्यसमाजतन्त्र

(१७-३९) और प्रदीपोद्योतन (PTT. Vol: 158, P. 154-3) में इसकी व्याख्या प्राप्त है। वह त्रिरत्नमय है - काय, वाक्-चित्त रूप है। वज्रमाला में वज्रधर को मानवीय रूप में वज्रसत्त्व रूप में वर्णित हैं - द्विपदवान्।

यह सारा संसार अद्वय की अभिव्यक्ति है। शून्यता की प्रस्थापना इस मन्त्र से हो - 'ओं शून्यता ज्ञानवज्रस्वभावावात्मोऽहम् ।' फिर आर्यतारा का ध्यान करे जिसकी पीतवर्ण 'तां' से उत्पत्ति हुई है। तारा ललितासना है, दो हाथ हैं। दायें में वरद मुद्रा और बायें में नीलकमल, भूषणों से विभूषित। फिर उच्चारण करे - "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा" । ध्यान के बाद संस्कार को तारामय समझे और भगवती की आराधना करे।

वज्रयान में विविध देवी देवताओं को स्थान दिया गया है उनकी भिन्न २ आकृतियां और रंग हैं। पाषाण और धातु में उन्हें उकेरा गया है। ये सभी 'शून्यता' के प्रकाशक हैं । अद्वयवज्र (महीपाल का समकालीन 978 A.D.) ने कहा है अद्वयवज्रसंग्रह में –

स्फूर्तिश्च देवताकाराः निःस्वभावाः स्वभावतः।

यथा यथा भवेत् स्फूर्तिः सा तथा शून्यतात्मिका।। पृ. ५

'शून्य' से देवताओं का विकास हुआ है चार क्रमों में - १) शून्यता का सही ज्ञान, २) बीज से उसका सम्बन्ध, ३) मूर्ति विचार, ४) देवताओं का बाह्य प्रतिनिधित्व (शून्यताबोधितो बीजं बीजाद्बिम्बं प्रजायते। बिम्बे च न्यासविन्यासौ- वही, पृ. ५०) दार्शनिक दृष्टि से यह विचार अधिक संगत लगता है।

वज्रयानी देवताओं का आवास अकनिष्ठ स्वर्ग में है जो रूपी स्वर्ग से ऊपर है। शून्य, विज्ञान और महासुख तत्त्वों के साथ वे शून्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदा-कदा तथागतों के समानान्तर श्रेणी में देवताओं को रख दिया गया है। तथागतों का अर्थ है - पंचध्यानी बुद्ध जो पंचस्कन्धों के प्रतीक हैं - अक्षोभ्य विज्ञान के, वैरोचन रूप के, रत्नसंभव वेदना के, अभिताभ संज्ञा के और अमोघसिद्धि संस्कार के इन पंचस्कन्धों में से जब जो स्कन्ध मुख्य होगा उससे वह ध्यानी बुद्ध उत्पन्न माना जायेगा और वही प्रधान माना जायेगा कलाकृति में।

बौद्धतन्त्र में प्रत्येक बुद्ध का रंग निश्चित है - उदाहरणतः अक्षोभ्य का नीला। कभी-कभी उसका भयानक रूप भी दिखता है - मारण उच्चाटन रूपात्मक। इसी तरह यमारि और उच्छूष्मजंभल के भयानक रूप देखें -

श्रीमन्तः करुणामयं तं सत्वार्थहेतोर्बहिरुग्ररूपम्।
नाथं यमारिं प्रणिपत्य मूर्ध्ना लिखामि तत्साधनमिष्टहेतोः।।
— साधनमाला, पृ - ५५०

दारिद्र्य दुःखाहतमानसानां का चित्तवृत्तिः सुगतस्य कृत्ये।
अतश्च कोपादिव जम्भलोऽसौ उच्छुष्मरूपं भयदं चकार।।
वही. पृ. ५७०

ये देव यद्यपि भयानक रूप लिये हुए हैं पर अन्तरंग में करुणाशील हैं। कभी-कभी वे सुगतमार्ग में लाने के लिए श्रावकों को अपना भयानक रूप दिखाते हैं।

महाकाल भी एक भयंकर देवता है। उसका स्वरूप है -

आचार्ये यः सदा द्वेषी कुपितो रत्नत्रये ऽपि यः।
अनेकसत्त्वविध्वंसी महाकालेन खाद्यते।। साधनमाला, पृ. ५८६

यहां भी वस्तुतः करुणा है बहुजनहिताय की दृष्टि से, भले ही बाह्य रूप में भयंकरता हो। कहा जाता है, उत्तर बौद्धमूर्तिकला की यह विशेषता है।

बौद्धधर्म के अनुसार बाह्यजगत शून्य है। करुणा से मिलकर शून्य बोधिचित्त को उत्पन्न करता है। बोधिचित्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । बाह्यजगत और शरीर भी बाह्य है अतः उसका भी वस्तुतः अस्तित्व नहीं है, मूर्तियां भी इसी तरह यथार्थता से दूर हैं।

बुद्धपूजा करने वाला साधारणतः बोधिसत्त्व होता है जो करुणाशील होता है, शून्य के लिए प्रार्थना करता है। यह तब संभव है जब उसका बोधिचित्त शून्य युक्त हो। इस दृष्टि से बौद्धों को मूर्तिपूजक कहा जाना चाहिए। पर कुछ लोग इसे मानने तैयार नहीं, पर यह सही नहीं है। वज्राचार्यों के पास अनेक तरह के चित्र रहे हैं। उनसे मूर्तियों की पूजन होती ही रही है।

बौद्धों ने हिन्दू देवों के प्रति घृणात्मकता व्यक्त की है। यथा ब्रह्मा को बुद्ध के चरणों में झुकाया। हरि हरि हरि वाहनोद्भव (अवलोकतेश्वर का एक रूप) का बाहन विष्णु को बनाया। चण्डरोषण के हाथ में एक रस्सी है जो विष्णु, शिव और ब्रह्मा जैसे कष्टकारी देवों को बांधने के लिए उपयोगी होती है। इसी तरह यह कहा गया कि ब्रह्मा,

रुद्र, इन्द्र, नारायण आदि हिन्दू देव कुरुकुल्ला को प्रसन्न करने आते हैं, और कुरुकुल्ला उन्हें किंकरवत् माना करती है। वज्रज्वालानलार्क विष्णु और लक्ष्मी को पैरों से रोंधते दिखाई देता है। भूडाम, इन्द्र, ब्रह्मा, कुबेर के घमण्ड को नष्ट करता है। उच्छूष्म जम्भल कुबेर को पैर तले दबाता है, त्रैलोक्यविजय शिव और गौरी के मस्तक पर पैर रखता है, प्रसन्नतारा इन्द्र और उपेन्द्र तथा रुद्र और ब्रह्मा को पैरों से कुचलती है। चतुष्पदी परमाश्व अपने एक पैर से इन्द्राणी और लक्ष्मी को दूसरे पैर से रति और प्रीति को, तीसरे से इन्द्र और मधुकर को चौथे से जयकर और वसन्त को दबाये रखती है। कोई भी पूजक जब पूर्णताको पा लेता है तो वह विद्याधर भूमि में जाता है जहां हिन्दू देव उसकी सेवा करते हैं, अपराजिता की छतरी को ब्रह्मा जैसे दुष्टदेव उठाये रखते हैं। साधनमाला भूमिका, पृ. (xxxi, F जहां ऐसे उद्धरण एकत्रित हैं, P. 77, 144, 175, 214, 214, 241, 300, 350, 403. 510, 511, 512, 571).

इसी तरह कला और चित्रकला में भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। वज्रयानी देवों को हिन्दू देवों का तिरस्कार करते दिखाया गया है। प्राणेश्वरी और अपराजिता, विघ्नांतक देव-देवी गणेश को अपने पैरों तले दबाये हैं, महाप्रतिसरा भी। यहां तक की गणेश को विघ्नकारी देव के रूप में प्रतिष्ठित किया है। त्रैलोक्यविजय (गया) शिव और गौरी को पैरों से दबाये हैं, हरिहरिहरि वाहन (नेपाल) विष्णु पर सवार हैं, प्राणेश्वरी को देखकर भय से हयग्रीव, शीतला, भागती दिखाई देती हैं (Indian Buddhist Iconography, P. 162)। गंगा स्नान आदि की भी आलोचना बहुत हुंई है बौद्ध कला और साहित्य में।

ध्यानी बुद्ध

उत्तरीय बौद्ध धर्म-के सर्वेश्वरवाद से तान्त्रिक बौद्धधर्म में ३३ हिन्दू देव स्वीकृत थे जो त्रायस्त्रिस स्वर्गवासी थे। बुद्ध को इन देवों पर वैसे कोई विश्वास नहीं था। सौन्दरानन्द में कहा गया है कि बुद्ध ने नंद राजा को उनकी पादभस्म लेने की भर्त्सना की और सद्धर्म को समझने की प्रेरणा दी। महायान में बुद्ध का मूल रूप लुप्त होने लगा और लोकोत्तरवाद प्रारंभ हो गया। कला में विविध भावमुद्राओं में बुद्धमूर्तियां बनीं। साधनमाला और मंजुश्रीमूलकल्प में भी इनका वर्णन आया है। गुह्यसमाजतन्त्र में अधिक व्यवस्थित ढंग से वह सब मिलता है। वहां पचध्यानी बुद्धों के मन्त्रों, मण्डलों, शक्तियों का उल्लेख है उनके कुल हैं -

द्वेष मोहस्तथा रागश्चिन्तामणिसमस्तथा।

कुलाहारे तु वै पञ्च काममोक्षप्रसाधकाः, (PP. 6, 11, 16 17)

इन ध्यानी बुद्धों के देवकुल हैं जिनके विविध रंग, अनेक हाथ और सिर हैं, भयानक हैं। वे रोगमुक्ति से लेकर शत्रुनाश तक करते हैं। कहा जाता है, गुह्यसमाज ३०० वर्षों तक। सिद्धाचार्यों और वज्राचार्यों के माध्यम से जनता में घूमता रहा ७ वीं शती तक। इसलिए उसके पूर्व किसी बौद्ध साहित्य में उसका उल्लेख नहीं। फिर भी इस संदर्भ में कुछ उल्लेख मिलते हैं। सुखावती व्यूह (A.D. 148) में अमिताभ को अकनिष्ठ स्वर्गवासी बताया। उसी के एक अन्य पाठ में अक्षोभ्य तथागत और मंजुश्री बोधिसत्व का उल्लेख है। नागार्जुन, असंग, शान्तिदेव ने भी उनका उल्लेख किया है। बाद में साधन साहित्य में कुछ अधिक विस्तार आया। तन्त्र साहित्य के पूर्व तथागतों का रीतिबद्ध विकास नहीं दिखता। गांधारकला में बुद्ध मूर्ति के अतिरिक्त जंभल, मैत्रेय, हारीतिकी को महत्त्व नहीं दिया गया। मथुरा कला में उत्तरकालीन अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि को भी स्थान नहीं मिला। मगध कला में पालकाल में उनका अंकन ढंग से मिलने लगता है। पंचध्यानी बुद्धों के कुल आदि का उत्कीर्णन नालंदा, पटना और सारनाथ में दृष्टव्य है। बंगाली कला (१० वीं शती से) में इन बुद्धों की प्रतिमायें और भी अच्छी मिलती हैं। कलकत्ता, ढाका, राजशाही, परगना, विक्रमपुर आदि नगर इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। हेरुक, वसुधारा, जंभल, अर्पचन, खसर्पण आदि तान्त्रिक बौद्धदेव वहां अधिक उत्कीर्ण हैं। बाद में नेपाल में बंगाल कला का विकास हुआ।

पंचध्यानी बुद्धों के पीछे कल्पना है कि पंचस्कन्धों से यह संसार बना है। वज्रयान वस्तुतः बहुदेववादी हो गया, जबकि वैदिक एकेश्वरवादी थे। उस दोष को दूर करने के लिए वज्रयानियों ने वज्रधर को १० वीं शती में आदि बुद्ध माना और उससे ध्यानी बुद्धों को उद्भूत बताया। नालंदा से यह विचार प्रारंभ हुआ और बाद में सर्वत्र फैल गया। स्वयंभूपुराण में उसका वर्णन है। वज्रधर आदिबुद्ध हैं। वज्रसत्त्व, वज्रपाणि उसी के रूप हैं। मानवीय आकृति में उसका वर्णन है - आभूषण, वज्रपर्यंकासन, हाथ में वज्र और घंटास, वज्रहुंकार मुद्रा। कहीं-कहीं उसके साथ शक्ति-प्रज्ञापारमिता भी है। कहीं-कहीं आदिबुद्ध के रूप में वज्रसत्त्व, समन्तभद्र, वज्रपाणि का भी नाम आता है। ऐसी आदिबुद्ध परम्परायें अनेक हैं।

ध्यानी बुद्ध मण्डल

वज्रसत्त्व को छठा बुद्ध स्वीकार कर लेने पर उसे आदिबुद्ध कहा गया। वह आदिबुद्ध पांच प्रकार के ज्ञान-ध्यान से युक्त हैं। ये पंच-ध्यानीबुद्ध (वैरोचन, रत्नसंभव या रत्नकेतु, अमिताभ या अमितायु, अमोघसिद्धि या कर्मनाथ और अक्षोभ्य) क्रमशः रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कन्धों के स्वामी हैं। इन पंचध्यानी बुद्ध और पंचस्कन्धों पर सांख्यों के पंच तत्त्वों (क्षिति,अप, तेज, मरुत, व्योम) का प्रभाव दिखाई देता है। वज्रसत्त्व के दो चिन्ह हैं – वज्र और घण्टा । पंचध्यानी बुद्धों के संदर्भ में संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

ध्यानी बुद्ध	कुल	वर्ण	मुद्रा	वाहन	चिन्ह अस्त्र	परिकर	बोधिसत्त्व की शक्ति	कुल के गानव बुद्ध	स्कन्ध	बीज	स्तूप-दिशा	भूतगण, ज्ञानेन्द्रिय	शरीर में स्थिति
१. अक्षोभ्य	द्वेष	: नील	भूस्पर्श	गज	वज्र	वज्रपाणि हेरुक, यमारि, एकजटा, नैरात्म्या, तारा	लोचना	कनक-मुनि	विज्ञान	य / हूं	पूर्व	वायु, स्पर्श, त्वचा	हृदय
२. वैरोचन	मोह	शुक्ल	धर्मचक्र	नक्र	चक्र	समन्तभद्र मारीचि, वज्रवाराही	वज्रधात्वी-श्वरी	क्रकुच्छंद	रूप	अ/ ओं	मध्य	व्योम, शब्द श्रवणेन्द्रिय	शीर्ष
३. अमिताभ,	राग	लोहित	समाधि	मयूर	पद्म	पद्मपाणि पाण्डरा, लोकेश्वर कुरुकुल्ला	पाण्डरा	गौतम	संज्ञा	व / अः/ ह्रीं	पश्चिम	अप, रस, जिह्वा	मुख
४. रत्नसंभव	चिंतामणि	पीत	वरद	अश्व	मणियां	रत्नपाणि, जम्भल, वसुधारा	मामकी	काश्यप	वेदना	र / स्वा / त्रा	दक्षिण	तेजस, रूप, नेत्र	नाभि
५.अमोघसिद्धि	समय	हरित	अभय	गरुड	विश्व-वज्र	विश्वपाणि खट्वांगी, प्राणेश्वरी	आर्यतारा	मैत्रेय	संस्कार	इ / हा / खं	उत्तर	क्षिति, गंध, घ्राण	पाद

द्वेष परिवार

द्वेष परिवार के देवता शवारूढ, मुण्डमालालंकृत और भयानक रहते हैं। प्रथमतः इसका देवता है अक्षोभ्य, शक्ति है लोचना और बोधिसत्त्व है वज्रपाणि। अक्षोभ्य से अनेक देवों का सम्बन्ध है, निस्सरण है। जिनमें हेरुक, हयग्रीव और यमारि प्रमुख हैं। अक्षोभ्य का नीला रंग देवों की भयानकता और उनके तान्त्रिक भयानक कृत्यों से संबद्ध है। ये प्रायः नीले रंग के हैं, आकृति भयानक, सर्प शरीरपर, त्रिनेत्र, जीभ बाहर निकली, मुण्डमाल लटकाये और सिंहचर्म तथा सर्प को आभूषण के रूप में धारण किये हैं।

द्वेष परिवार का प्रधान देव शक्तिशाली और लोकप्रिय **हेरुक** विविध शक्ति संपन्न है। अनेक रूपों में ज्ञातव्य वह बुद्धकपाल, संवर, वज्र डाक, सप्ताक्षर और महामाया से आवृत है। कहा जाता है कि बुद्ध ने इन्हें स्वतन्त्र तन्त्र शास्त्र दिये। जब उसके दो हाथ हैं तो एक में वज्र और दूसरे में मानव रक्त से भरा प्याला लिये अर्धपर्यंक आसन से शव पर बैठे नृत्य करते हुए दिखता है, नरमुण्डों से युक्त खट्वांग जनेऊ से लटका हुआ है। खर्त्री और कपाल को हाथ में लिये शक्ति से आलिंगित है। चतुर्भुजी होने पर वज्र, कृपाण, खट्वांग और रत्न धारण किये है। चित्रसेना से आलिंगित होने पर वह बुद्धकपाल कहलाता है और हाथ में कपाल खर्ची और डमरू लिये रहता है। २४ देवियों से आबद्ध रहता है। इन देवियों के साथ ही चार द्वारपालिनी मण्डल के चारों द्वारों पर प्रतिष्ठित की गई हैं।

हेवज्रमें हेरुक का वर्ण नीलारुण है, नेत्र रक्तबन्धुक हैं, केश पिंगवर्ण और ऊपर उठे हुए हैं, शरीर इन पंचमुद्राओं से अलंकृत है - चक्री, कुण्डल, कण्ठी, हस्त, कंकण, मेखला। वे श्मशान में योगिनियों के साथ खेलते हैं, शवारूढ रहते हैं। उनकी चार या छह भुजायें हैं जिनमें वे कपाल, वज्र, कैंची, चाकू, घण्टा आदि लिये हुए हैं। हेवज्र अक्षोभ्य का ही रूप है जिससे हमारा तन्त्र उद्भूत हुआ है (हे. १.५.९) हेवज्राभ्युदयपटल (२.५) में हेवज्र का विस्तृत स्वरूप दिया हुआ है। वहां मण्डल के साथ नैरात्म्या का भी वर्णन है। हेवज्र नैरात्म्या के साथ सुरति-संभोग करते हैं और मण्डल के संदर्भ में कहते हैं कि मण्डल में पत्नी, बहिन, पुत्री, भतीजी भाभी, मौसी, सासु और बुआ इन आठ विद्याओं का प्रवेश कराये और उनको निर्वस्त्रकर उनकी योनि का बार-बार चुम्बन करे और संभोग करें, गाये और नृत्य करे। इसी से महासुख की प्राप्ति होती है। यहां महासुख के आनन्द की तुलना कुमारी के साथ किये संभोगजन्यं सुख से की है (२.५.५७-६३)।

एक अन्यत्र स्थान पर कहा गया है कि गणमण्डल में बैठकर मांसभक्षण करे और माता भगिनी आदि के साथ वहीं संभोग करे हेवज्र की उपस्थिति में (२.७.५-१५)।

यमारि प्रत्यालीढ मुद्रा में मानव रक्त पूरित कपाल, नरमुंड मण्डित दण्ड, सर्पाभरण और व्याघ्रचर्म धारण किये रहते हैं। इनकी शक्ति भी इसी तरह मदिरामत्त रहती है। मोहकुल में मारीची और वज्रवाराही रागकुल में कुरुकुल्ला और चिन्तामणि कुल में उच्छुष्म जम्भल देवी-देवता भी कापालिक तत्त्व लिये रहते हैं। सभी देव पंच मकारों से सन्नद्ध रहते हैं (हे. २.४)।

ध्यान-साधना

नैरात्म्यसाधना में त्रिकोणात्मक भग योनि का ध्यान किया जाता है। उसे मण्डल में प्रस्थापितकर मण्डलवर्ती चक्र पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। वह चक्र चार देवियों और महाभूतों से संबद्ध रहता है। मण्डल के दो भाग होते हैं - प्रथम भाग अष्टपत्रीय कमल से निर्मित होता है और दूसरा त्रिकोणात्मक। उस पर चन्द्र-सूर्य मण्डल का योग रहता है जो ज्ञानात्मक है। उसमें पांच योगिनियों के आसन रहते हैं। इन योगिनियों के हाथों में चाकू, खट्वांग आदि रहते हैं, आकृति भयानक होती है, रक्तपान के लिए कपाल रहता है। साधक सहज ही छः वर्णों का ध्यान करता है। यही ध्यान महासुख है, स्वसंवेद्य है, सहज है, प्रज्ञोपायात्मक है, धर्मधातु है। हेवज्रतन्त्र के योगिनिचक्र पटल में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। यहीं हेवज्र. के नवम् पटल में मण्डल के अध्यात्म और बाह्य रूप का अच्छा विवेचन है। सर्वधर्म शून्यता का ज्ञान हो जाने पर और स्वसंवेद्य सुख का अनुभव हो जानेपर पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन निर्विषयी होकर शुद्धि पूर्वक योगी जब करता है तो अध्यात्ममण्डल है। बाह्य मण्डल में विविध दिशाओं में पुक्कसी, वेताली आदि देवियां संसार का प्रतिनिधित्व करती हैं। हेवज्रतन्त्र के अभिषेक मण्डल में भी मण्डल की कुछ और जानकारी मिलती है। इससे महामुद्रासिद्धि होती है। यहीं मन्त्र सिद्धि के लिए चार दृष्टियां होती हैं - पातना, वश्या, आकृष्टि और स्तम्भन। इस संदर्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि यथार्थ में किसी का मारण नहीं किया जाना चाहिए। अन्यथा यह सिद्धि का अतिक्रमण होगा। किसी भी प्राणी का अपकार करने के लिए मुद्रासिद्धि नहीं की जाती (१.११; २.२; २.७; १.६)।

हेवज्र के द्वितीय कल्प के सन्ध्याभास पटल में साधक की **चर्या** का वर्णन करते हुए कहा है कि साधक को प्राणिवध करना चाहिए, असत्य बोलना चाहिए, चोरी करना चाहिए, परस्त्री सेवन करना चाहिए। नारी का शुक्र अदत्त होता है। वह नैरात्म्या है जो दूसरों की पत्नी है। अतः परदारा उपभोग्य है (२.३.२९-३०)। इन्द्रियों पर संयमन

करने की आवश्यकता उसे नहीं रहती, न ग्राम्यधर्म त्याज्य रहता है। उसके लिए सभी प्रकार का मांस भक्षणीय है। उसे सभी प्रकार की स्त्रियों के साथ निष्कंप चित्त पूर्वक रमण करना चाहिए। सवर्ण और अवर्ण सभी क लिए वह स्पृश्य है। अद्वय ज्ञानचित्त के कारण सभी कुछ उसके लिए भक्ष्य और सेव्य है (२.३.४५-४९)। आगे के पटल में निर्वाण प्राप्ति के लिए नग्न होकर योगनियों और वज्र कन्यायों को मद्य पिलाने और उनकेसाथ संभोग करने की बात कही है और उनके साथ जोर-तोर से गीत गाना और नृत्य करना आवश्यक बताया है (२.४.८-१४; ३६-४०; १.१.६.१-४; १.१.७)।

मन्त्र का अर्थ है मनन और त्राणन। मन्त्र से परमार्थ का चिन्तन और जगत का त्राण किया जाता है। मन्त्र से इन्द्रादि देवों को भेंट भी दी जाती है जिसे बोधिचित्त कहा जाता है। ओंकार मन्त्र को आदि और अनुत्पन्न माना जाता है। इस प्रसंग में हेवज्रतन्त्र के मन्त्रपटल में स्तंभन, आकर्षण, उच्चाटन आदि से संबद्ध १९-२० मन्त्रों का उल्लेख हुआ है और साथ ही वर्षायन, मेघास्फाटन, वज्रकर्तरि, मद्यउदगीरण, स्त्रीवशीकरण आदि की विधियां भी निर्दिष्ट हैं। मन्त्र स्वर और व्यंजन का सामुदायिक रूप है। उसे जप कहा जाता है। महामुद्रासिद्धि के लिए यह मन्त्र जप किया जाता है जिसे वज्रयोग कहा गया है।

हेवज्रतन्त्र (१.६) के अनुसार वज्रयोगी कानों में अस्थिनिर्मित कुण्डल, शिर पर चक्री, हाथों में वलय, कटि में मेखला, बाहुओं में केयूर, ग्रीवा में अस्थिमालिका, भेष में व्याघ्रचर्म आदि धारण कर वज्रयोग करता है। वज्रयोग के लिए श्मशान, मातृगृह यां रमणीय स्थान है, महामुद्रा सिद्धि के लिए सुन्दर वज्रकन्या साथ हो, पंचामृत भोजन करे, गीत-नृत्य करे, कपाल धारण करे मुकुट में, भस्म और उद्बद्ध केश हों, शरीर का दान करे, भक्ष्याभक्ष्य और गम्यागम्य का ध्यान किये बिना ही भोजन ग्रहण करे, महाकरुणावान् रहे। मोही योगी ही मद्यपान करता है, यथार्थ योगी मद्यपान नहीं करता। फांसी पर लटकाये गये का मांसभक्षण करे (१.७.१९)। यहां करुणा का विस्तार इतना हुआ कि मारण भी कृपापूर्वक हो गया और संभोग भी (१.७.१९)। फिर यह कहा गया कि वज्रचर्या भयंकर है अवश्य पर वह भोग के लिए नहीं, अपने चित्त की परीक्षा के लिए है कि वह कितना स्थिर है और कितना चंचल है (हे. २.२. ११-२२)।

हेवज्रतन्त्र में हेरुक योग की साधना को स्पष्ट किया गया है। मन्त्र-तन्त्र परम्परा उसी से सम्बद्ध है। मण्डल और प्रतिष्ठा की विविध विधियों का भी उसमें आकलन है।

पटादिकों में देवता का अवस्थापन करना प्रतिष्ठा है। इसके लिए मण्डल की यथाविधि रचनाकर रात्रि के अन्तिम प्रहर में मन्त्र से मूर्ति को संस्कारित किया जाता है और अग्नि के समक्ष मन्त्र पढे जाते हैं। मन्त्र-सिद्धि के लिए वज्रतन्त्र परम्परा में श्मशान आदि स्थानों को ध्यान करने और चित्त की चंचलता को दूर करने के लिए उत्तम साधन माना गया है। साधक के लिए तदर्थ यह आवश्यक है कि रात्रि में वह अपनी अन्तरात्मा को नैरात्म्य अथवा हेरुक से संबद्ध करे। यह समाहित योग है। अन्यकाल में यह ध्यान निरन्तरयोग कहा जाता है। मुद्रासिद्धि होने पर वज्रकन्या को अभिषिक्त करे। निष्प्रपंच हो जाने पर उसे महासुख की प्राप्ति होती है। यही सर्वधर्म शून्यता है जो मन्त्रयान का आधार है (हे. २.२.१२-२३)। इसी को तन्त्र परम्परा ने स्वीकारा है।

वेद, आगम और पिटक के साथ तन्त्र वादियों ने तन्त्र शब्द को जोड दिया और उसे शब्द ब्रह्म कह दिया। ब्रह्मयामल ने तन्त्र का अर्थ कर दिया - भावी विश्व की जहां सूक्ष्म रेखा तानी जाती है वह अभेद रूप वस्तुतत्त्व ही तन्त्र है - तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्र सम्मता। इसमें तन्त्र को भेद, अभेद और भेदाभेद रूप बताकर उसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव को पदस्थ कर दिया। आगे चौसठ तन्त्र बन गये जिनमें कपाली, कौमारी, वाराही, चामुण्डा, गुह्यतन्त्र, पंचामृत, ज्ञानार्णव, आदि को सम्मिलित कर लिया गया। ऐहिक कामनाओं की पूर्ति और निर्वाण प्राप्ति के उपाय के रूप में उसे स्वीकार कर लिया गया। इस की प्राप्ति में मन्त्रों को अनिवार्य साधन भी माना गया। हेवज्रतन्त्र परम्परा में भी यह सब समाहित हो गया।

तान्त्रिकों ने चेतन तत्त्व को पांच स्तरों में विभाजित किया है - जागर, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और अतितुर्य। तुरीय शब्द ही शब्दब्रह्म है जिसका अतिक्रमण कर अतितुर्य-परमशिव - परब्रह्म परमानन्द की प्राप्ति होती है। जाग्रत दशा में सघोष और अघोष शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इन्हें वैखरी कहा जाता है - विखर अर्थात् शरीर से उत्पत्र होनेवाला। इसमें रौद्री और क्रिया शक्ति का मेल है। इसी को 'श्रृंगार-वपु' कहकर त्रिकोणात्मक माना गया है। इसमें बिन्दु, नाद और बीज समाहित हैं। इसे पञ्चदशाक्षरमय माना जाता है जिसमें सोलह चन्द्रकलायें, चौबीस सूर्यकलायें, दश अग्नि कलायें संमिलित हो जाती हैं। ये ही पचास कलायें मातृका वर्ण हैं। वैखरी वर्णो का वासनात्मक सूक्ष्म रूप ही मध्यमा वाणी है, जिसकी अभिव्यक्ति नाभि से हृदय पर्यन्त होती है। इसी से विमर्श शक्ति जाग्रत होती है। पश्यन्ती वाक् ईश्वर तत्त्व है जो ज्ञानशक्ति रूप है।

तन्त्र परम्परा में 'अहं' अद्वैत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। इसमें अग्रगामी अकार प्रकाशात्मक परम शिव है और हकार चरम वर्ण रूप विमर्श तत्त्व है, विन्दु अग्निसोभात्मक है जो काम का प्रतीक है। इन तीनों को आद्या शक्ति के रूप में माना जाता है। इसके मध्य में रवि-बिन्दु देवी के मुख रूप में, अग्नि और सोम-बिन्दु स्तनद्वय रूप में तथा हकार की अर्धकला अथवा हार्धकला योनि रूप में कल्पित होती है। यह रूप तीन बिन्दु अकार, उकार और मकार (ओम्)के नाम से संकेतित हैं। ये दोनों कुण्डलिनी के प्रतिबिम्ब हैं और कामकला के भी प्रतिरूपात्मक हैं।

इसी को प्रणव अथवा ओकार भी कहा जाता है। यह उमा शक्ति के रूप में गर्भित है और बिन्दु कामकलात्मक है। ओंकार अ, उ, म, बिन्दु, और नाद का संवायात्मक तत्त्व है।

संपूर्ण वर्णमाला मातृका है। इसी से मन्त्रों की निष्पत्ति होती है। अनुत्तर का अकार, आनन्द का आकार तथा इच्छा शक्ति का इकार जुडकर त्रिकोणात्मक एकार (योनि) बनता है जो परमानन्द का प्रतीक है। स्वरों को बीज और व्यंजनों को योनि माना जाता है। ये दोनों क्रमशः शिव और शक्ति के प्रतीक हैं। हेवज्रतन्त्र और पञ्जिका में एवं की विस्तृत व्याख्या दी हुई है। "क' वर्ग से लेकर 'श' वर्ग तक सप्त मातृकायें हैं और 'अ' वर्ग को मिलाकर आठ हो जाती हैं जो आठ देवियों को अभिव्यक्त करती हैं - १. 'अ' वर्ण (महालक्ष्मी), २. 'क' वर्ग (ब्राह्मी), ३. 'च' वर्ग (माहेश्वरी), ४. 'ट' वर्ग (कौमारी), ५. 'त' वर्ग (वैष्णवी), ६. 'प' वर्ग (वाराही), ७. 'स' वर्ग (ऐन्द्री), और ८. 'श' वर्ग (चामुण्डा)। इन वर्गों का वर्णन रंग, भूत, अंग आदि की दृष्टि से भी तन्त्र परम्परा में मिलता है जिसे हम यहां विस्तारभय से नहीं दे रहे हैं। वज्र तन्त्र परम्परा में उनका यथास्थान प्रयोग हुआ है।

हेवज्रतन्त्र योगिनितन्त्र और अनुत्तर योगतन्त्र है। उसमें वज्रतन्त्र, स्कन्ध, चक्र, नाडी, पंचमकार आदि का विधान किया गया है। तान्त्रिक दृष्टि से बिन्दु-साधना ही बोधिचित्त साधना है जो प्रज्ञोपाय से प्राप्य है। बिन्दु का सम्बन्ध शुक्र से है जिसे योग से ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। वज्रयान में इसका स्खलन रोकने के लिए इसे निर्माणचक्र में धारण करने का निर्देश है। निर्माणचक्र से वह उष्णीषकमल में स्थिर किया जाता है। कुण्डलिनी का जागरण या स्वशक्ति रूप चण्डाली का जागरण इसी से होता है। तभी योगी वीरभाव से प्रकृतिसंभोग करने का अधिकारी बन पाता है। यही वज्रयोग साधना है। देह इसका माध्यम है। इसी की साधना के लिए वज्रतन्त्र में कमलों, चक्रों और नाडियों की कल्पना की है।

बौद्धतन्त्र में चार चक्र हैं चार काय के आधार पर - निर्माणचक्र (निर्माणकाय), संभोगचक्र(संभोगकाय), धर्मचक्र(धर्मकाय) और उष्णीषकमल(सहजकाय या वज्रकाय)। मेरुदण्ड के मूल में निर्माणचक्र या निर्माणकाय है, हृदय में धर्मकाय है और ग्रीवा के नीचे संभोगकाय है। महासुखकमल में चार आर्यसत्य रूप चार दल हैं, संभोगचक्र में सोलह दल हैं, धर्मचक्र में आठ और निर्माणचक्र में चौसठ दल हैं। इन चार चक्रों का सम्बन्ध चार मुद्राओं से है - कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा। इन मुद्राओं की चार देवियां हैं - लोचना (पृथ्वी), मामकी (अप, जल) पाण्डरा (अग्नि), और तारा (वायु)। इनके प्रतीकात्मक मांत्रिक वर्ण हैं - ए, वं, म, और या अर्थात् एवं मया। ये चारों देवियां करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा की प्रतीकरूप हैं। इसके साथ चार क्षण - विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण - तथा चार आनन्द - आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद हैं। मुद्राओं में धर्ममुद्रा उत्कृष्टतम है, निःस्वभावा है, करुणाद्रभावा है, अकृत्रिमा है। यही अवधूत है। यही मध्यमाप्रतिपद है। समयमुद्रा में वज्रधर - हेरुक का स्फुरण होता है। यहां चार योग, चार विमोक्ष, चार विशुद्धि, चार उपाय आदि का भी उल्लेख आया है। हेवज्रतन्त्र के अनुसार इसे हम एक सारिणी के माध्यम से देख सकते है। और इसकी तुलना वज्रयान की अन्य परम्पराओं से भी की जा सकती है। डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने इसे अच्छी तरह से व्यवस्थित किया है।

वज्रयोग में भी प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। उसमें नाडीयोग का विस्तृत विवरण मिलता है जिसका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। हेवज्रतन्त्र में समाहितयोग और निरन्तरयोग के माध्यम से अनुत्तरयोग तक पहुंचने की विधि उपदिष्ट है। इसे हम प्रज्ञोपायात्मक तन्त्र कह सकते हैं। यह तन्त्र भावप्रधान है। भाव परिज्ञान के बिना निर्वाण अप्राप्य है - प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं। बध्यन्ते भाव बन्धेन मुच्यते तत्परिज्ञया, २.१.१-७-१२। इसके लिए नैरात्म्ययोग और हेरुकयोग को साधन माना जाता है जहां क्रमशः योगिनी और हेरुकाकृति की भावना की जाती है। वहां वज्रकपाल शब्द का प्रयोग भी प्रज्ञोपाययोग की ओर ही संकेत करता है। इस योगपद्धति को विस्तार से हेवज्रतन्त्र के प्रथम भाग के कायवाक्चित्त हेवज्र देवता आदि पटलों में देखा जा सकता है।

हेवज्रतन्त्र योग पद्धति में नाडी, चक्र, बीज, आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसे पिण्डब्रह्माण्डवाद भी कह सकते हैं। यहां योगी के शरीर अथवा पिण्ड को कुल कहते हैं। वज्रकुल, वज्रकाय जैसे शब्दों का भी प्रयोग यहां हुआ है। इनका विवेचन हम दार्शनिक परम्परा में कर चुके हैं।

कापालिक साधना

डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने हेवज्रतन्त्र के आधार पर वज्रतन्त्र परम्परा में कापालिक साधना को खोजने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः बौद्धतन्त्र में यह कापालिक साधना गुह्यसमाजतन्त्र से ही प्रारम्भ हो चुकी थी जिसका चरमोत्कर्ष हेवज्रतन्त्र और योगरत्नमाला में हुआ है। वैदिक कापालिक साधना का प्रभाव स्पष्ट रूप से यहां दृष्टव्य है। अन्तर यह है कि वैदिक कापालिक साधना में जगत् ईश्वर से अभिन्न है, जीव मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है, पार्वतीरूप शक्ति के साथ स्वच्छन्द विहार करता है पर बौद्ध कापालिक साधना में अद्वैतवाद होते हुए भी जगत् को ईश्वर से अभिन्न नहीं माना जाता है।

वैदिक परम्परा के अनुसरण पर ही वज्रतन्त्र परम्परा में भी कापालिक आभूषणों को धारण करता है और पंचामृतों का सेवन करता है। षोडशी वज्रकन्या के साथ वह श्मशान अथवा मातृमंदिर में जाकर रात में नृत्य करता है, गीत गाता है। यह वामाचार साधना है। इसमें वीरभाव से अद्वैतावस्था की प्राप्ति की जाती है। यह बिन्दु अथवा शुक्र की योगसाधना है, दिव्यभावात्मक प्रज्ञोपाय बोधिचित्त की प्राप्ति का महापथ है, अनुत्तरयोगतन्त्र है। दीक्षित शिष्य 'मैं देवी हूँ, हेवज्र हूँ और वे मुझ में हैं' इस प्रकार का अहंकार करता हुआ किसी बाह्य वस्तु की पूजा करने की अपेक्षा स्वयं की पूजा करना अधिक उपयुक्त समझता है क्योंकि देवता को वह स्वयं में स्थापित कर लेता है (साधनमाला, पृ. ३१९)। यही स्थापना साधक को जगदुद्धरण की ओर प्रेरित करती है और महासुख का अनुभव कराती है। यही इसका भावनायोग है।

हेवज्रतन्त्र के प्रथम कल्प में कापालिक साधना का वर्णन अधिक मिलता है। वज्रकन्या के साथ वह वज्रसाधक सारी वज्रसाधना करता है, नैरात्म्या के साथ महामुद्रा धारण करता है। यह मुद्रा कर्पूर के समान है, सुखमयी है और नाभिमण्डल में स्थित है। इसकी साधना श्मशान के साथ ही प्रेतालय, समुद्रतट, उद्यान और वापिकातीर पर भी की जाती है। शव पर वह आरूढ होता है, श्मशान में उपलब्ध पुष्प को अपने केशों में गूंथता है, श्मशान की ईंटों और अंगारों आदि का प्रयोग अपने मण्डल निर्माण में करता है, वहीं के कपडे पहनता है, और वहीं का मांस, रक्त, आदि भोजन करता है।

वज्रसाधक के भोजन में मांसभक्षण की बहुलता होती है। जिसका भी वह मांस खाता है वह उसके वश में हो जाता है। मद्यपान भी करता है (२.९.१२)। मैथुन की विभिन्न क्रियाओं - बोल, कक्कोल, चुम्बनादि - में प्रवृत्त रहता है (२.७.५, १.११.१०-१२)। मत्स्य और मुद्रा का भी प्रयोग होता है। इनमें मैथुन सर्वाधिक आपत्तिजनक रहा है। हेवज्रतन्त्र में स्पष्ट रूप से यह निर्देश है कि इस प्रकार की चर्या का उपयोग - आचरण भोग के लिए नहीं किया जाना चाहिए। अपने चित्त अथवा शुक्र की स्थिरता अथवा चंचलता के पर्यवेक्षण के लिए ही मुद्रा-ग्रहण कर चर्या की जानी चाहिए (२.२.२२)। चित्त की स्थिरता का निश्चय हो जाने के बाद ही उपर्युक्त चर्या में प्रवृत्त होना चाहिए। पर ऐसा न होकर उसका भोगवादियों ने भरपूर दुरुपयोग किया। डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्री का यह कथन बिलकुल सही लगता है कि आरम्भ में भले ही भोगों को स्वीकार बहुत साफ दिल से किया गया हो, प्र बाद में भोगों के प्रलोभन से बहुत लोग इसमें घुसे होंगे और उन्हीं के कारण इस साधना के मार्ग में ऊपरी ढोंग बहुत बढ गये होंगे तथा साधना के बहाने लोग विलासी जीवन भी बिताने लगे होंगे (बोधिचर्यावतार, भूमिका, पृ. २०)।

हेवज्रतन्त्र वामाचार साधना का पोषक ग्रन्थ है जहां पंचमकारों - मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को उपचार के रूप में स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार भोजन शरीर को एक विशेष प्रकार का सन्तोष देता है उसी प्रकार पंच मकारों का प्रयोग भी देह की तृप्ति करता है। दक्षिणाचार इस प्रयोग के विरोध में खडा है। पंच मकारों का यह प्रयोग राजसिक और वीरभाव से होता है। यह प्रयोग उस पूजा के सम्पादन में होता है जो एकान्त में व्यक्तिगत रूप से या चक्र में समष्टिगत रूप से गुरु के नेतृत्व में की जाती है। इस अनुष्ठान के पूर्व पूजा-पद्धत्रि और शक्ति उपासना की एक लम्बी पद्धति है। उसमें वह इनका उपयोग करते समय "शिवो S हं", "बुद्धो S हं" का अद्वैत भाव लिये रहता है। उसकी अनुभूति वासनाओं के मार्ग से ही प्राप्त की जा सकती है। हेवज्रतन्त्र के द्वितीय कल्प के उल्लेख महानिर्वाण तन्त्र के उल्लेख का स्मरण करा देते हैं -

मातृ-योनौ क्षिपेत् लिङ्गं भगिन्या स्तनमर्दनम्।
गुरो मूर्ध्नि पदं दत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।

पशु और दिव्य श्रेणी वाले साधकों के लिए पंच मकार एक अलग अर्थ रखते हैं। उन्हें अनुकूलतत्त्व, प्रत्यक्ष तत्त्व और दिव्यतत्त्व के रूप में समझा जा सकता है। माधव

पण्डित ने पंच मकारों को निम्न रूप सें व्याख्यायित किया है अपनी पुस्तक 'तान्त्रिक साधना' (पृ. ४९) में।

१. मद्य — १. मदिरा (प्रत्यक्ष)
२. नारियल का पानी (अनुकल्प)
३. योग के द्वारा भगवान का उन्मादन ज्ञान जिसके द्वारा व्यक्ति बाह्य जगत् के विषय में ज्ञानशून्य हो जाता है (दिव्य)।

२. मांस — १. मांस (प्रत्यक्ष)
२. लहसुन, आद्रक, लवण, तिल, गेंहू की बालें (अनुकल्प)
३. सभी वस्तुओं को माम् अन्तर्यामी ईश्वर को अर्पण करना।(दिव्य)

३. मत्स्य — १. मछली (प्रत्यक्ष)
२. लाल मूली, बैंगन आदि (अनुकल्प)
३. ममत्व की भावना, मत्स्य में सुख-दुःख का तादात्म्य होना (प्रतीकात्मक)

४. मुद्रा — १. भुना हुआ अन्न, धान्य (प्रत्यक्ष)
२. चावल धान्य (अनुकल्प)
३. बुराइयों से सम्बन्ध त्याग (दिव्य)

५. मैथुन — १. मैथुन (प्रत्यक्ष)
२. मिलन के उपर्युक्त नयन भंगिमा से पुष्प समर्पण (अनुकल्प)
३. कुण्डलिनी के साथ शिव-शक्ति का सहस्त्रार में मिलन (दिव्य)

हेवज्रतन्त्र और योगरत्नमाला की यह कापालिक साधना योगाचार की साधना पर आधारित है जहां चित्त को ही सत्य माना गया है। वही प्रज्ञात्मक है, तथता है, धर्मकाय है और बोधिचित्त है। उसकी प्राप्ति के लिए हेवज्रतन्त्र का मन्त्रयोग समन्वित भावनायोग उपयोगी होता है। उसका पिण्डब्रह्माण्डवाद ही नैरात्म्य साधना है। इस साधना में वामांगुष्ठनिपीडन, सुरतयोग, कमल-कुलिशयोग अत्यन्त उपयोगी माने जाते हैं। तत्त्वतः वज्रतन्त्र परम्परा की समूची दार्शनिकता और साधनात्मकता का परिपाक हेवज्रतन्त्र और उसकी पञ्जिका में हुआ है जिसे हम आगामी पृष्ठों में देख सकते हैं।

प्रतीक सिद्धान्त

वस्तु प्रस्थापन में प्रतीक पद्धति का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है। प्रारम्भिक तौर पर इसे वेदों और उपनिषदों में देखा जा सकता है। वहां कहा गया है कि सारे देव त्रिलोक में व्याप्त हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि चार प्रकार के देव हैं - उनमें ब्राह्मण सर्वप्रमुख हैं जो चारों वेदों के ज्ञाता हैं और शेष तीन देव अपने विरोधियों से महोत्सवों की रक्षा करते हैं। जाग्रत, स्वप्न, निद्रा और आत्मन्,ये चार प्रकार के प्रतीक प्रसिद्ध रहे हैं। पञ्च प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है।

वेदों और उपनिषदों के समान बौद्ध साहित्य में भी तथागत बुद्ध के तीन रहस्यों को सांकेतिक पद्धति से व्यक्त किया गया है - उनके शरीर, वचन और मन को क्रमशः मुद्रा, मन्त्र और समाधि का रूप दिया गया है। पञ्च प्रतीकों का प्रयोग हेवज्रतन्त्र में हुआ है - पंच बुद्धों के साथ वहां पंच चक्रों को जोडा गया है - वैरोचन (मोह), अक्षोभ्य (घृणा), अमिताभ (कामवासना), रत्नसंभव (पैशून्य), अमोघसिद्धि (ईर्ष्या)। अनुत्तरयोग तन्त्र में उत्पत्तिक्रम और सम्पन्नक्रम के समय चार मुद्राओं की व्याख्या की गई है - कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और महामुद्रा। प्रतीक को न्याय सिद्धान्त में उपमान प्रमाण का भेद माना है। चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा में प्रमाण के चार प्रकार माने हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान। इसी आधार पर तन्त्र भी चार भागों में विभाजित है - क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग।

समान गुणधर्म वाली अनेक वस्तुओं के बोध के लिए एक वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है। 'अमूर्त' के मूर्त वर्णन में भी इसका प्रयोग हुआ है। हर धर्म और संस्कृति ने विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग विभिन्न भावों और सिद्धान्तों को अभिव्यञ्जित करने की दृष्टि से किया है। वज्रतन्त्र परम्परा में भी प्रतीकों की एक लम्बी परम्परा दिखाई पडती है जिसमें सिद्धान्त और साधना का सुन्दर समन्वय हुआ है। मण्डल, मुद्रा आदि प्रतीकों का प्रयोग एक नयी अभिव्यक्ति की मांग करता है। इन प्रतीकों को हम यहां संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। ये प्रतीक रहस्यात्मता की ओर भी संकेत करते हैं। Wayman ने इसका अच्छा वर्णन किया है जिसे हम यों प्रस्तुत कर सकते हैं।

बौद्धतन्त्र की रहस्यात्मकता का सम्बन्ध बुद्ध के शरीर, वचन और मन से संबद्ध है। इनमें अन्यों को प्रशिक्षण देने की भी एक सीमा है। Snellgrove (हेवज्रतन्त्र, Vol. I, PP. 4 2-3) ने तन्त्र का संबंध मैथुन से जोडा है, आनन्दगर्भ की श्रीपरमाद्य-मन्त्रकल्पखण्डनामा टीका से पता चलता है कि मैथुनिक शब्दों का आधार लेकर तान्त्रिक रहस्य को प्रगट किया गया है पर शारीरिक मैथुन से यह शब्द-व्याख्या अलग है। स्त्री

की पांच चीजें जैसे गुप्त होती हें वैसे ही हमारे अन्तर में पांच तत्त्व गुप्त होते हैं। इन्हें किन्हीं पांच देवियों से सम्बद्ध किया गया है -

आनन्दगर्भ के अनुसार —

१)	बोधिचित्त	वज्रसत्त्वा	वैरोचन
२)	बोधिज्ञान	रागवज्रा	अक्षोभ्य
३)	अनुभव	वज्रकिलिकिला	रत्नसंभव
४)	अविस्मरण	वज्रस्मृति	अमिताभ
५)	ज्ञानप्राप्ति	वज्रकामेश्वरी	अमोघसिद्धि

मण्डल

मण्डल भी एक रहस्यात्मकता का प्रतीक है जिसमें बुद्ध का गुरू रूप में उपस्थित होना, समाधिस्थ होना, चमत्कार प्रदर्शन करना, देवि-देवताओं से आवृत रहना सम्मिलित है। संगीति इस मण्डल का पूर्वरूप हो सकता है। विभिन्न देवताओं का आवाहन और प्रतिष्ठापना का विधान इससे जुडा हुआ है। बाद में उनका एक मण्डल ही बन गया। आवाहन का कारण और साधन ही मुद्रा है। देवता के मण्डल के केन्द्र में अधिष्ठात्री देवी रहती है। 'भग' भी बाद में मण्डल का रूप ले लेता है। और उसकी विविध रूप में आराधना की जाती है (हे. १.९; १.१०; २.४; २.५)।

रत्नाकरशान्ति के महामाया साधन (साधनमाला क्र. २३९) में लिखा है - मण्डल का इस प्रकार ध्यान करना चाहिए - अधो वज्रमयीं भूमिं तिर्यग् वज्र प्राकारं उपरि वज्रपंजरं मध्ये घोरश्मशानं विभाव्य तन्मध्ये कूटागारं एकपुटं सर्वरत्नमयं पश्येत् चतुरश्रमं चतुर्द्वारं, चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितं द्वारद्वयैः अप्सरोभिश्च भास्वद् वेदी चतुष्टयं। इसके अतिरिक्त, शरीर मण्डल बन जाता है जो बुद्धों का स्थान कहा जाता है। तब उसे वज्रसत्त्व कहते हैं (परमाद्यतंत्र, भाग ५, पृ. ७२२)।

चार द्वार बौद्धधर्म के मार्ग हैं। वज्रसत्त्व उसके लिए आदर्श मूर्तिवत् हैं। सर्वरहस्यनामतन्त्रराज (भाग ५, पृ. ५८५ श्लोक ११७-१२३) में कहा गया है - मण्डल भव्यता का प्रतीक है, ज्ञान का प्रतीक है, उसके चार कोने समता के सूचक हैं, चार रेखाएँ मैत्री आदि की प्रतीक हैं। रेखा धर्म का प्रतीक है जो सभी विचारों से मुक्त होने का संदेश देती है। अलंकार नैतिकता का , फाटक चार विमोक्ष का प्रतीक है। आरे सम्यक् प्रहाण हैं, चार द्वार ऋद्धिपाद हैं, मालायें सात बोध्यंग हैं और आठ स्तंभ आष्टांगिक मार्ग के

प्रतीक हैं। रत्नाकरशान्ति की श्री सर्वरहस्यनिबन्ध रहस्यप्रदीप नामा (भाग ७६, पृ. १२) व्याख्या में भी लिखा है - मण्डल भव्य इसलिए है कि वह संभोगकाय से युक्त है। उसके चार कोने चार ब्रह्मविहार के प्रतीक हैं।

साधक "ओं शून्यताज्ञान वज्रस्वभावात्मको ऽ हं" का पाठ करता है। भ्रूँ के उच्चारण से वैरोचन का उद्‌गम हो जाता है। चार द्वार चार स्मृतियां हैं, पूर्वद्वार श्रद्धा का, दक्षिण द्वार वीर्य का, पश्चिम द्वार धर्म प्रविचय और समाधि का तथा चार आरे चार ध्यान के प्रतीक हैं (चतुरंग साधनटीका सारमंजरी नाम भाग ६५, पृ. ११६)। नागार्जुन के पिण्डरीक साधन (पंचकर्म, गाथा २३) में कहा है - 'भ्रूँ' अक्षर से उद्‌भूत मण्डल में चार कोने, चार द्वार, चार आरे, चार रेखायें, आठ स्तम्भ, मणिवज्र, मणिरत्न, कलश आदि होते हैं।

रत्नाकर शान्ति के पिण्डीकृत साधनोपायिका वृत्ति रत्नावली (भाग ६२, पृ. ७४) में नेयार्थ (अभिव्यंजित अर्थ) और नीतार्थ (अभिधेयार्थ) के आधार पर मण्डल का अर्थ निम्न प्रकार से किया गया है।

नेयार्थ - (आभिप्रायिकवचन) के अनुसार मण्डल के प्रतीकार्थ ये हैं –

चार कोने	-	४ अंगुली - समता ज्ञान
चार द्वार	-	४ संवृति
चार आरे	-	४ ध्यान
चार रेखायें	-	४ दिशायें (ब्रह्मा)
आठ स्तम्भ	-	८ ध्यान - महावज्र
कुम्भ	-	जयमंगल (पूर्व), प्रातिहार्य - सिद्धि (दक्षिण), विजय - शान्ति (पश्चिम)
पक्षी	-	मयूर, हंस, चक्रवाक, जीवंजीवक चारों दिशाओं में।

नीतार्थ - (अभिधेयार्थ) इस प्रकार है –

मेरू	-	शरीर
अष्ट शिखर	-	८ विश्ववज्र, विश्वपद्म, नारी-पुरुष के अंग- भेद

चार कोने	-	आगे, पीछे, बगल और ऊपर
चार द्वार	-	मुंह, ब्रह्मरंध्र
चार आरे	-	आंखें, कान
आठ स्तंभ	-	कंधे, हाथ, पैर, जांघ
अर्धचन्द्र	-	बोधिचित्त (उपाय - प्रज्ञा से युक्त)
वज्र	-	विज्ञान

मण्डल के अनुष्ठानात्मक प्रतीक

रत्नाकरशान्ति सर्व रहस्यनाम तन्त्रराज के अनुसार मण्डल को भव्य इसलिए कहते हैं कि इसमें बुद्ध का संभोगकाय इंगित है वह अकनिष्ठ स्वर्ग है जहां महायान परम्परा की दृष्टि से बुद्ध ने पूर्ण बुद्ध होने की प्रतिज्ञा की थी (लंकावतार सूत्र)। अकनिष्ठ स्वर्ग रूपधातु के विशुद्धतम शिखर पर है। संभोगकाय दशम श्रेणी के बोधिसत्त्वों को ही शिक्षा देता है। उच्चकोटि के बोधिसत्त्व संभोगकाय से शिक्षा लेने के लिए अकनिष्ठ स्वर्ग जाते हैं और बाद में वे मण्डल की रचना करते है, तिब्बती परम्परा में उसका एक अपना विधान है। सर्वप्रथम सफेद रंग की रेखा खींची जाती है जो कर्म पंक्ति कही जाती है। सभी भागों में यथायोग्य रंग भरा जाता है । यह रंग पांच प्रकार का है जो पंच बुद्धों और पंच सूत्रों का प्रतीक है। बाद में मण्डल बनाया जाता है। वज्रवर्मन कहते हैं- धर्मकाय और मण्डलकाय की रीति से मण्डल दो प्रकार के हैं जो जापानी परम्परा की दृष्टि से क्रमशः वज्रधातु और धर्मधातु का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें प्रथम अवक्तव्य है और दूसरा वक्तव्य है।

सर्वदुर्गति परिशोधन नामक योगतन्त्र (PTT. Vol. 5, P. 84.4-5) में कहा है कि 'मण्ड' अन्तरक्षेत्र है और 'ल' का अर्थ है चक्र जिसमें आरे, द्वार, कोने, पट्टी लगे हैं। विहार, स्तूप, देवकुल, उपवन, आराम आदि का निर्माण कर मण्डल का बाह्य और अन्तर भाग बनाना चाहिए। उसे समाधि चित्त से युक्त करना चाहिए।

मण्डल को कहीं-कहीं सिंह और वृषभ से चिन्हित किया जाता है जो निर्भयता और शक्ति के प्रतीक हैं, पंचराग वस्त्र (पंचज्ञान के प्रतीक), चिराग (काय, वाक्, चित्त के प्रतीक), मणिहार (बोधिसत्त्व का आनन्द), माला (समाधि), घण्टी (वागादि की शुद्धि) से भी मण्डल के दायें-बायें भाग को सजाया जाता है। हीरा (विद्या-ज्ञान), रत्न (गुण),

कमल (अनासक्ति), स्वस्तिक (उपाय और प्रज्ञा का संघ), से भी सजाया जाता है इस मण्डल को।

आठ धागे या रेखायें, आठ शुभचिन्हों के प्रतीक हैं। केन्द्रीय रेखा धर्मधातु है। ये रेखायें विद्या, महासुख, प्रातिहार्य, ज्ञान आदि की भी प्रतीक हैं । चक्रनाभि इसका प्रतीक है कि धर्मधातु शुद्ध है, चक्र कुशलकर्म और आरे दया से आपूर होने के प्रतीक हैं। चक्रनाभि, धर्मकाय है, इच्छा जाग्रत होने पर वह संभोगकाय बन जाता है, चक्र निर्माणकाय है । मण्डल की ऐसी और भी अनेक व्याख्यायें वज्रतन्त्र साहित्य में मिलती हैं।

महाविरोचन सूत्र (१९.९८९) में मण्डल के दो भेद हैं - गर्भकोशधातु और वज्रधातु। तत्त्वसंग्रह (१८.८६५) में भी इनका वर्णन आया है। ये दोनों ग्रन्थ योगाचार परम्परा के हैं पर उनमें तान्त्रिक प्रवृत्तियां मिलती हैं। गर्भकोशधातु मण्डल विश्व सत्य का प्रतिनिधित्व करता है और वज्रधातु मण्डल सांसारिक प्राणियों का जो उसकी खोज में है बोधिचित्त के माध्यम से।

हेवज्रतन्त्र (२.३.२८) में मण्डल को सार का पर्यायवाची माना है, उसे बोधिचित्त की श्रेणी में रखा है और कहा है कि वह सकल क्लेश-उपक्लेश जनित दुःखों का विनाशक महासुखदायी है, ग्रहण करना उसका स्वभाव है। इसलिए उसे मलन अथवा मीलन भी कह सकते हैं। इसके द्वितीय कल्प के पंचम मण्डल में मातृचक्रमण्डल का वर्णन आया है जिसमें देवियों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इसी तरह उसके अध्यात्म मण्डल और बाह्यमण्डल का भी विवेचन यहां मिलता है (१.७; २.३)।

बोधिचित्त की प्राप्ति में मन्त्रों को भी महत्त्व दिया गया है। जो परावागात्मक है। इसमें दो शक्तियां मानी जाती हैं - वाच्य और वाचक । वाच्य शक्ति मन्त्र की सूक्ष्म शक्ति है जिसे ज्योतिर्मय कहा जाता है और वाचक देवता उसकी स्थूल शक्ति है जिसके जागरण के बिना वाच्य का बोध नहीं हो सकता। मन्त्र के अनेक भेद हैं। सबसे पहला भेद है मूलमन्त्र अथवा महामन्त्रा। दूसरे मन्त्र इसी के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। मन्त्रों के अन्य भेद इस प्रकार मिलते हैं -

१. पुं- स्त्री-नपुंसक मन्त्र - पुं मन्त्रों का देवता पुरुष होता है और स्त्री मन्त्रों का देवता स्त्री । स्त्री देवताओं को देवी कहा जाता है। जिन मन्त्रों के अन्त में 'हुँ' और फट् ' रहता है उन्हें पुं मन्त्र और दो 'ठः' वर्णों से जिन मन्त्रों की समाप्ति होती है

वे स्त्री मन्त्र होते हैं। नमः से समाप्त होने वाले मन्त्र नपुंसक हैं (शारदातिलक तन्त्र, २.५९)। पर प्रयोगसार के अनुसार 'वषट्' और 'फट्' से समाप्त होने वाले मन्त्र पुरुष हैं, और 'वौषट्' और 'स्वाहा' से स्त्री तथा 'हुं' और 'नमः' से समाप्त होने वाले मन्त्र नपुंसक होते हैं।

२. सिद्ध (बान्धव), साध्य (सेवक), सुसिद्ध (पोषक) और अरि (घातक) मन्त्र.

३. पिण्ड (एक अक्षर वाले), कर्तरी (दो अक्षर वाले), बीज (तीन से नौ वर्णों तक), माला मन्त्र (दस से बीस अक्षर तक) मन्त्र और इससे ऊपर संख्यावाले मन्त्र मालामन्त्र कहे जाते हैं।

४. सात्त्विक, राजस और तामस।

५. साबर और डामर। डामर मन्त्र तत्काल सिद्धि प्रदान करते हैं।

हेवज्रतन्त्र के मन्त्रपटल में मन्त्र का अर्थ मनन और त्राणन किया गया है। उससे परमार्थ का चिन्तन और जगत का त्राण किया जाता है। मन्त्र से इन्द्रादि देवों को पूजोपहार दिया जाता है। इसे बोधिचित्त भी कहते हैं। ओंकार इसका प्रधान पद है। हर मन्त्र इसी से प्रारम्भ होता है। ओंम् को आदि और अनुत्पन्न माना जाता है - 'ओं अः फट् स्वाहा'। इस प्रसंग में स्तम्भन, उच्चाटन, आकर्षण आदि से संबद्ध १९-२० मन्त्रों का उल्लेख हुआ है। वर्षायन विधि, मेघास्फाटन विधि आदि में उनका भरपूर उपयोग भी किया गया है। मन्त्र जाप प्रक्रिया का भी विवेचन है (हेवज्रतन्त्र २.१०-१-५)।

तान्त्रिक अनुष्ठान और उसकी प्राप्ति के प्रतीक

सिद्धि प्राप्ति के लिए तन्त्र का प्रयोग किया जाता है। मुद्रा, मन्त्र और समाधि सिद्धि के आवश्यक तत्त्व हैं। शमथ और विपश्यना समाधि तथा पारमिता यान के प्रमुख अंग हैं, मन्त्रयान के भी । शून्यता की अनुभूति के लिए मन्त्र-ध्वनि का उपयोग होता है। यह ध्वनि छ प्रकार की है - धर्मता, विषय, चित्त, माया, अनात्मन्, हेतु या संसार से संबद्ध।

आसन पर बैठकर वज्र साधक 'हूँ' का उच्चारण करता है और उस पर चिंतन करता हुआ निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय में पहुंच जाता है। वह वज्रविदाहरण या वज्रपाणि के शरीर तक भी चला जाता है। मुद्राओं के माध्यम से यहां तक पहुंचना संभव भी है। इस संदर्भ में बुद्धगुह्य ने तीन प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख किया है।

अभयाकरगुप्त ने चार प्रकार के योगों का विवेचन किया है - भोजन, स्नान, शयन और उद्वापन। अनुत्तरयोगतन्त्र में संसारिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए तन्त्र साधना में खड्ग, वज्र, चक्र, त्रिशूल, शर, मुद्गर, पाश, अंकुश आदि अस्त्र लेकर तथा आंखों में अंजन लगाकर साधक मन्त्र साधना करते दिखाई देते हैं।

पंचामृत :- 'पुण्यवर्धिनी श्रीज्ञानमाला नाम' ग्रन्थ में पंच बुद्धों का पंच अमृतों (शोणित, वीर्य, मानवमांस, मूत्र और पुरीष) के उत्पत्तिक्रम से सम्बन्ध निर्दिष्ट है। साधक 'ओम्' का उच्चारण करता है और वह पंचाम्रतों पर ध्यान करता है। यहां कपाल जैसे पात्रों का भी उल्लेख है जिससे दुग्ध, मांस, रक्त, मत्स्य खाया-पीया जाता है। यहां पांच प्रकार के मांस का उल्लेख है - गाय, कुत्ता, हाथी, अश्व और मानव। महामुद्रातिलक में कहा है - रत्नसंभव शोणित है, अमिताभ वीर्य है, अमोघसिद्धि मानवमांस है, अक्षोभ्य मूत्र है, वैरोचन पुरीष है। ये सर्वोत्तम अमृत हैं, साधक 'ओम् अः हूँ' उच्चारण करता है।

तीन अनुष्ठान व्रत :- साधक देवों के आभूषणों से सज्जित होकर जाते हैं, नाचते हैं, खट्वांग, डमरू और कपाल के साथ। यहां तीन व्रतों का उल्लेख है।

१) विद्याव्रत	:	प्रातः दोपहर, सायं, अर्धरात्रि में सरस्वती से संपर्क करता हुआ सहजज्ञान पाने के लिए।
२) वज्र व्रत	:	अन्तर्ज्ञान होना।
३) चर्या व्रत	:	मुद्रा, संवृति या योगिनी से संपर्क

देवों के आभूषण - मुद्रा

देवों की छः मुद्रायें (आभूषण) हैं जो षट् पारमिताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। हेवज्रतन्त्र (१.६.११) में इसका वर्णन इस प्रकार है।

१) वीर्य	चक्र	-	अक्षोभ्य	दर्पण सदृश
२) नैष्क्रम्य	कुण्डल	-	अमिताभ	विभेदक
३) दान	कण्ठमाला	-	रत्नसंभव	समता
४) शील	हस्तमण्डल (रुचक)	-	वैरोचन	धर्मधातु

५) प्रज्ञा	मेखला कायबन्धन	-	अमोघसिद्धि	आचार-व्यवहार
६) ध्यान	धागा	-	(हेवज्रतन्त्र में नहीं)	ध्यान

साधक विद्याव्रत के वाद चर्याव्रत में प्रवेश करते हैं। यदि स्त्री चर्याव्रत लेती है तो वह स्वयं को वज्रवाराही, नैरात्म्या देवी में प्रतिष्ठित करती है। यदि पुरुष चर्याव्रत लेता है तो वह हेवज्र में प्रवेश करता है। ये पांच आभूषण इस प्रकार व्याख्यायित हैं

नेयार्थ (अभिव्यञ्जित अर्थ) :-

१)	चक्र	-	गुरू आचार्य को प्रणाम
२)	कुण्डल	-	गुरू के कठोर शब्दों को न सुनना
३)	कण्ठिका	-	मन्त्र का उच्चारण
४)	रुचकम्	-	प्राणि-हत्या से दूर रहना
५)	मेखला	-	मुद्रा पर आसीन रहना

नीतार्थ (अभिधेयार्थ) :-

१)	चक्र	-	बोधिचित्त, गुरू का सम्मान
२)	कुण्डल	-	गुरू के कठोर शब्दों को समाप्त करना
३)	कण्ठिका	-	मन्त्रोच्चारण द्वारा संस्कार की समाप्त करना
५)	मेखला	-	कर्ममुद्रा पर आसीन रहना
६)	धागा	-	ध्यान का प्रतीक है। यही छठी मुद्रा है।

खट्वांग, डमरू और कपाल ये तीनों आभूषण डाकिनी के हैं जिनका वर्णन हेवज्रतन्त्र (१.५.११) में किया गया है। तिब्बती परम्परा में आठवीं शती की एक ऐसी बुद्ध डाकिनी का चित्र मिला है जिसमें ये तीनों चित्रित हुए हैं जो क्रमशः बुद्धकाय, प्रज्ञा और मन्त्र के प्रतीक हैं। इनकी और भी व्याख्यायें की गई हैं। मुद्राओं की व्याख्या इस प्रकार मिलती है।

मुद्रायें	उत्पत्तिक्रम	संपन्नक्रम	फल
१. कर्ममुद्रा	प्रज्ञा-कामदेवी के रूप में	बाह्यप्रज्ञा	निर्माणकाय
२. धर्ममुद्रा	हूँ आदि ध्वनियां	अन्तःप्रज्ञा-अवधूति	धर्मकाय
३. समयमुद्रा	मण्डल	विविध मुद्राओं में देवों का निर्माण	महासुखकाय
४. महामुद्रा	मुख्य देव के शरीर के रूप में ध्यान	बोधिचित्त	संभोगकाय

शरीर के नव रन्ध्र द्वार

कहा जाता है, मोग्गल्लान ऋद्धिधारी थे और त्रिलोक में भ्रमण करते थे। महावस्तु (भाग १) में भी ऐसा ही कुछ है। बौद्धतन्त्र में इसी का विकसित रूप है। कामलोक में मनुष्य, पशु, प्रेत, और नारकीय हैं, रूपलोक ध्यानमय है और अरूपलोक में आकाश है। अभिधर्म में अन्तराभव आदि पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (III.१८) और भागवद्गीता (५.१३) तथा जैन ग्रंथों में नौ द्वार हैं - दो आंखें, दो कान, दो नासिकारन्ध्र, मुंह, मूत्रद्वार और पुरीष द्वार। तिब्बती ज्योतिष शास्त्र में इन नवद्वारों को इस रूप में माना गया है - दो आंखें (सूर्य चन्द्र), दो कर्ण (मंगल और बुध), दो नासिकायें (गुरु, शुक्र), नाभि - यहां मुख नहीं है (शनि) मूत्र-पुरीष द्वार (राहू, केतु)। बौद्धतन्त्र 'बुद्धज्ञानपाद' में ये नौ द्वार इस प्रकार हैं - मस्तक, नाभि, ललाट, आंख, कान, नासिका, मुख, मूत्र और पुरीष अंग। इन्हें क्रमशः इस प्रकार माना है - रूपधातु, कामधातु, अरूपधातु, यक्षलोक, विद्याधरलोक, परलोक, प्रेतलोक, पशुलोक, नरकलोक। मुखागमवृत्ति में इन द्वारों को शुभ और अशुभ में भेदित कर दिया है। यक्ष का तात्पर्य है वैश्रवण और विद्याधर जिनमें ५ स्वर हैं। हूँ ५ बुद्धों की ध्वनि का प्रतीक है। संपुटतन्त्र में नौ द्वारों का वर्णन इस प्रकार है -

नवद्वार	बीजाक्षर	देवियां
ललाट	अग्नि का - क्षुं	वज्रडाकिनी
आंखें	पृथ्वी का - हूँ	घोरडाकिनी

नासिका और कर्म	वायु का	-	युँ	चण्डाली
जिह्वा	जल का	-	सुँ	वेताली
गर्दन	मोह शुद्धि	-	स्तुँ	सिंहनी
हाथ	दर्द शुद्धि	-	हँ	व्याघ्री
हृदय	कंपन शुद्धि	-	स्मँ	जम्बुकी
नाभि	पशुपति	-	धुँ	उलूकी

इन रंध्रों को बांधने के लिए कुम्भक का उपयोग किया जाता है। हेवज्रतन्त्र और सरहपा के दोहा कोश में इनका वर्णन है। इन बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक तन्त्र में जिन दायीं मध्य और वायीं नाडियों को क्रमशः पिंगला, सुषुम्ना और इडा कहा जाता है, बौद्ध तन्त्र में उन्हीं को क्रमशः रसना, अवधूती और ललना कहा जाता है। बौद्ध साधना के षडंग योग (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, अनुस्मृति और समाधि) में प्राणायाम का तीसरा स्थान है जो बिन्दुसाधना में चक्रों के साथ विनियोग करता है।

बौद्धतन्त्र में नारी शक्ति और प्रतीक

बौद्धतंत्र में नारी शक्ति और उसके प्रतीक अनुत्तर योगतन्त्र के अन्तर्गत आते हैं। वे प्रतीक संभोगात्मक हैं। यह तथ्य आगम और उनकी व्याख्या से सिद्ध है। लोग यह मानते रहे हैं कि व्यक्ति पारलौकिक शक्ति प्राप्त कर सकता है इनके माध्यम से। कतिपय प्रतीकों की व्याख्या इस प्रकार है।

प्रज्ञा

प्रज्ञा, विद्या, योगिनी, देवी, मातृ, डाकिनी, दूती, सूरी मुद्रा का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञा के साथ उपाय जुडा है। पुरुष साधन का प्रतीक है और स्त्री अन्तर्ज्ञान की। साधन बहुत होते हैं पर अन्तर्ज्ञान साधन एक ही है। इसलिए अतान्त्रिक महायान बौद्धधर्म में प्रज्ञापारमिता को श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध की माता कहा है। प्रज्ञा और उपाय के बीच संभोगात्मक सम्बंध तान्त्रिक बौद्धधर्म में प्रस्तुत किया गया है और उसी से मोक्ष प्राप्ति बताई है। तान्त्रिक दो प्रकार के हैं – १) समयिन जो शिव-शक्ति के योग में विश्वास करते हैं और कुण्डलिनी को जाग्रत करते हैं, २) कौल जो अनुष्ठानों के माध्यम से कुण्डलिनी का जागरण करते हैं। यथारुत और न-यथारुत के आधार पर इनका विवेचन हुआ है। ज्ञानाकर ने इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की और प्रज्ञा को षोडशवर्षीय

लडकी बना दिया, जबकि अतान्त्रिक बौद्धधर्म में वह षोडश शून्य का प्रतीक रहा। यहां मुद्रा का भी संबन्ध है। ये मुद्रायें दो प्रकार की हैं - कर्ममुद्रा - जिसके वक्षस्थल (स्तन) हैं और केश हैं जो कामधातु के जनक हैं और क्षरसुख देते हैं। दूसरी ज्ञानमुद्रा है जो मनोजन्मा है, रूपधातु में सुखोत्पादिका है और स्पर्श सुख को जन्म देती है।

बौद्धधर्म के संहतिवाद ने बौद्ध तन्त्रवाद को जन्म दिया है। यह सही है। स्त्री (प्रज्ञा) पुरुष की अपेक्षा अधिक कामुक होती है। तान्त्रिक देवियों में यही वृत्ति रही है। 'डोम्बी' भी ऐसी ही है जिसे रानोपा ने कहा कि तुम जैसी लम्पट नारी और कौन हो सकती है (सेकोद्देशटीका, वडौदा १९४१, पृ. ५६) ? नारी योगी को संमोहित करने का प्रयत्न करती है, उसके जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। काली, चण्डी, दुर्गा ऐसी ही देवियां हैं। पारम्परिक सभी आगमों में नारी के इसी रूप का चित्रण मिलता है।

एवं

निदान कथाओं में और सूत्रों में "एवं मया सुतं" 'एकस्मिन् समये' आता है। तान्त्रिक ग्रंथों में इसका अर्थ बिलकुल भिन्न ही है। प्रत्येक वर्ण को लेकर हेवज्रतन्त्र और योगरत्नमाला में व्याख्या है - प्रथम छः वर्ण छः देवियों के प्रतीक हैं - लोचना, मामकी, पाण्डरा, तारा, वज्रधत्वीश्वरी, और प्रज्ञापारमिता। द्वितीय छः वर्ण के प्रतीक हैं- छः बुद्ध, पांच साधारण बुद्ध और वज्रसत्त्व। छः स्कन्ध - पांच स्कन्ध + ज्ञानस्कन्ध।

अनुत्तरयोगतन्त्र में तन्त्र की भाषा की व्याख्या दो विधियों से की गई है। एवं की प्रतीकात्मक व्याख्या गुह्यसमाज में भी है। Tson-Kha-Pa के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं - i) फल प्राप्ति, ii) मार्गप्राप्ति, iii) मार्गप्राप्ति के चिन्ह। उन्हें उसने इस प्रकार स्पष्ट किया है।

१) ए = धर्म की शिक्षा का गुह्य स्थान - आकाश, भग (योनि), धर्मकाय, कमल, सिंहासन। वम् = शिक्षक, वज्रधर हेरुक, जो भग में रहता है।

२) ए =प्रज्ञा, शून्यता, वम् = उपाय, महाकरुणा

३) ए =माता का भग (योनि) स्थान (आधार)। वम् =पिता का वज्र (लिंग) (आधेय)

४) 'मया' अनुभूति का और श्रुतं शुक्र का संकेत करता है।

यह पुनः दो प्रकार का है - i) बाह्य एवं (चिन्ह) =मुद्रा, ii) अन्तर चिन्ह-चक्र। चिन्ह से तात्पर्य - योनि का त्रिकोणात्मक आकार । इस संदर्भ में एवं के तीन अर्थ- Tson-Kha-Pa ने इस प्रकार किये हैं -

१) भगवान इन भगों में निवास करते हैं। ये भग चार देवियों के हैं - लोचना, मामकी, पाण्डरा और तारा जो क्रमशः नाभि, हृदय, ग्रीवा और मस्तिष्क चक्र में रहती हैं।

२) एवं = प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्य और करुणा का एकीकरण होना अर्थात् परिणय होना। इससे नर का सफेद और नारी का रक्त बिन्दु का संयोग होकर चित्त अथवा विज्ञान की उत्पत्ति होती है। बिन्दु को बोधिचित्त भी कहा जाता है।

३) संपुटतन्त्र में कहा है - माता-पिता के रज-वीर्य का संयोग होना चक्र और नाभि का त्रिकोणात्मक चक्र (योनि) में प्रवेश करना है। नाभि चक्र और मस्तिष्क चक्र त्रिकोणात्मक होता है। हृदयचक्र और ग्रीवाचक्र गोल होता है। इनकी १२० नाडियां होती हैं, Tson-Kha-Pa ने कहा - E चक्र =प्रज्ञा, वम् =हृदय और मस्तिष्क, चन्द्र गोल =उपाय। Tson-Kha-Pa गुह्यसमाज की पितृपरम्परा का अनुकरण करता है और संपुटतन्त्र तथा हेवज्रतन्त्र मातृतन्त्र परम्परा का। ये चक्र ध्यान के निमित्त हैं।

हेवज्रतन्त्र के सन्ध्याभास पटल में एवं को बुद्धरत्नों का पिटारा कहा गया है, वह आनन्द जनक है। उसकी उपलब्धि चार क्षणों से की जा सकती है - विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण। विचित्र इसलिए है कि उसमें आलिंगन, चुम्बन आदि बहुत-सी क्रियायें होती हैं। ये चारों आनन्द क्रमशः चार अभिषेकों से प्राप्त होते हैं। हेवज्रतन्त्र के प्रथम पटल में वज्र योगिनी को तथागत बुद्धों का काय, चित्त और हृदय माना जाता है। वहां ए - लोचना देवी, वं - मामकी देवी, म - पाण्डुरा देवी और या - तारा देवी का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहां गुप्तकाल की लिपि में 'एवं' में 'ए' का त्रिकोण नीचे झुका हुआ है और 'व' का त्रिकोण बिलकुल उल्टा ऊपर झुका हुआ रहता है। ये दोनों क्रमशः कमल अथवा योनि और 'वं' वज्र अथवा लिंग के सूचक माने गये हैं।

Tson-Kha-Pa ने लिखा है - 'बोधिचित्त मन तथा हृदय में रहता है, नर-स्त्री के संपर्क काल में वह हृदय में रहता है।' इस उदाहरण से लगता है अनुत्तर योगतन्त्र में सुख-शून्य का अनुभव अक्षर रूप में होता है जो महासुख कहलाता है। वह मस्तक चक्र है। वह नर नारी का कामुक मिलन नहीं बल्कि देव-देवी का मिलन है। जाग्रत, स्वप्न और निःस्वप्न निद्रा अवस्था को एक साथ लिया जाये तो चतुर्थ महासुख अवस्था को समझा जा सकता है। इस अवस्था में अन्तर प्रकाश प्रकट होता है।

कुछ वैदिक तन्त्रों में, ऋग्विधान में, मन को नाभि से हृदय ग्रीवा, कपाल आदि से पुनः नाभि में लाते हैं। सहस्रारचक्र को शरीर के बाहर माना जाता है। जबकि बौद्धतन्त्र में उष्णीष चक्र शिर में रहता है।

नागार्जुन कहते हैं - ओं, आः, हूँ" वर्णों को योगी मस्तक, ग्रीवा और हृदय में गुंजित करे। स्वर की प्रकृति प्रज्ञा है और व्यंजन की प्रकृति उपाय है और अर्धस्वर य आदि की मिश्रित प्रकृति हैं। अतः 'अः' प्रज्ञा, 'हूँ', उपाय और ओं (य, र, ल, व) मिश्रित तुर्यातीत हैं। ये तीनों तत्त्व हैं - काय-वाक्-चित्त, चन्द्र, सूर्य-अग्नि, (श्री गुह्यसमाज तन्त्रस्य तन्त्रटीका नाम, तंजोर ९६)। श्वास लेकर 'ओं' का उच्चारण कर 'आः' कहकर श्वास को अंदर रोके और हूँ कहकर फिर उसे बाहर निकाले । ये तीनों वर्ण काय, वाक् और चित्त के प्रतीक हैं - निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय के प्रतीक हैं। ओम् (हृदय) वैरोचन मन्त्र है, 'आः' अमिताभ तथा हूँ अक्षोभ्य मन्त्र है जो क्रमशः सभी बुद्धों का काय, वाक् और चित्त हैं।

मिश्रित चित्त, बोधिचित्त (बिन्दु), राहू तम - अवधूती हैं। प्रज्ञा (स्वर) = वाक्, रक्ततत्त्व, सूर्य, रजस, वायीं नाडी ललना हैं, उपाय (व्यंजन) = काय सफेद तत्त्व, चन्द्र, सत, गुण दक्षिण नाडी - रसना है। कालचक्रतन्त्र में लिखा है - बच्चे की नौ माह की उदरावस्था में प्रथम पांच माह में तमस के प्रभाव से पंचस्कन्ध बढते हैं, निःस्वप्न, विकल्परहित निद्रा रहती है। यह वज्र धर्मकाय है। छठा-सातवां माह रजस के प्रभाव में हैं, विषय का अनुभव करता है, स्वप्न का अनुभव करता है, यह संभोगकाय है। फिर आठ से जन्म तक प्रकृति में रहता है जाग्रत अवस्था में, यह निर्माणकाय है। यह विवेचन शायद जीवन से जुडने का प्रतीक है।

नारी की चार मुद्रायें हैं - पद्मिनी, संखिनी, हस्तिनी और मृगी या चित्रिणी। इनमें प्रत्येक के तीन भेद हैं - सहजा, क्षेत्रजा, धारणीजा। कामशास्त्र के अनुसार ये पद्मिनी आदि नारी के विविध रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। Lua-Ka-Pa के अनुसार ये चारों मुद्रायें क्रमशः देव, यक्ष, मानव और प्रेत परिवारों से संबद्ध हैं। साधारणतः ये मानवीय आकार की हैं। सुकन्यायें, दैत्यकन्यायें भी पृथ्वी केनीचे से आहूत की जाती हैं। इनको मण्डल में स्थापित किया जाता है। तिब्बती परम्परा में ये देवियां गर्भकूटागार से संवद्ध होती हैं। ये देवियां हैं - लास्या, माला, गीता, नृत्या। योगतन्त्र और मण्डल तन्त्र में ये देवियां क्रमशः अमोघसिद्धि, अमिताभ, अक्षोभ्य, रत्नसंभव और बुद्ध परिवार से संबद्ध हैं। मण्डल की पूर्वादि दिशाओं में सत्यवज्री, रत्नवज्री, धर्मवज्री, और कर्मवज्री

देवियां स्थापित की जाती हैं। लोचना पृथ्वी है, मामकी जल है, पाण्डरा अग्नि है, तारा वायु है। ये देवियां क्रमशः अमोघसिद्धि, अमिताभ, अक्षोभ्य, रत्नसंभव बुद्ध के परिवार की हैं।

अनुत्तर योगतन्त्र की दो परम्परायें हैं - मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। मातृतन्त्र में पद्मिनी आदि देवियों के परिवार आदि का वर्णन होता है जैसे श्रीचक्रसंवृत्त तन्त्र आदि में। पितृतन्त्र में शरीर, प्रतीक, लक्ष्य आदि का वर्णन होता है जैसे गुह्यसमाजतन्त्र में।

इन्द्रभूति मातृतन्त्र परम्परा का अनुगमन करता है। इसमें देवियां दूत का काम करती हैं। और सिद्धि प्रदान करती हैं। सहजा, क्षेत्रजा, धारिणीजा क्रमशः माता, बहिन और लडकी हैं तथा उत्तम, मध्यम और जघन्य कोटि की नारी हैं। ये तीनों नारियां तथागत बुद्ध के क्रमशः धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय हैं।

सरह ५ अमृतों को प्रज्ञा के साथ जोडते हैं -

१) प्रथम अमृत आठ वर्षीया कुमारी की आंखों से झरता है।

२) दूसरा अमृत बारह वर्षीया शालिका की योनि से झरता है।

३) तृतीय अमृत षोडश वर्षीया पुष्पवती नारी सिद्धा से झरता है।

४) चतुर्थ अमृत वीस वर्षीया पुष्पवती बालिका से झरता है।

५) पंचम अमृत पच्चीस वर्षीया भद्रकपालिनी प्रज्ञा से झरता है।

साहित्य शास्त्र में काम के पांच पुष्प उद्दीपनार्थ माने जाते हैं - अरविन्द, अशोक, चूत, नवमल्लिका, और नीलोत्पल। तदर्थ उनके पंच वाण हैं - उन्मादन, तापन, शोषण, स्तंभन, संमोहन। गुह्यसमाजतन्त्र (१६ वां पृ. १२१) की चन्द्रकीर्तिटीका प्रदीपोद्योतन में पंच वाण हैं - मदन, मोहन निःस्मरण, मूर्छन, निश्चेष्टीकरण। Tson-Kha-Pa के अनुसार कामदेव के समान बौद्ध तन्त्र में कामधातु है, प्रदीपो. में कहा है - मन्त्रज्ञ को हेवज्र में शक्तिसंपत्र मंजुश्री का ध्यान करना चाहिए। वह रक्त आभूषणसज्जित है, दायें हाथ में पंचकली युक्त रक्तकमल, बायें में धनुष है। पंचकली पंचवाण हैं जो मन्त्रन्यास से हृदय, शिर, नाभि, ग्रीवा, पैर में फेंके जाते हैं। बौद्धधर्म में पंचकामगुणों की चर्चा है। मंजुश्री की मूर्तियां भी वाणयुक्त प्राप्त हैं। बौद्धेतर दर्शनों में योगी पंचवाणों से मुक्त होना चाहता है पर बौद्धतन्त्र में योगी उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है। पालि त्रिपिटक में पंच से युक्त अनेक घटनाये हैं। महाप्रज्ञापरमिताशास्त्र में कहा है - राजगृह में बुद्ध इसलिए रहते थे

कि वहां पंचवन थे - वेणुवन, वैभारवन, सपर्णगुहा, इन्द्रशैलगुहा, सर्पशुण्डिक, प्राग्भार। मंजुश्री को भी पंचशिख, पंचधीर जैसे शब्द दिये गये हैं।

प्रश्न है गुह्यसमाज में मंजुश्री ने पंचवाणों को शरीर के पंचस्थानों पर घात क्यों किया ? उत्तर है - पञ्चस्कन्धाः समासेन पंचबुद्धाः प्रकीर्तिताः। पंचबुद्धों के पांच मन्त्र (बीज) शरीर के कथोक्त स्थानों पर रहते हैं। श्रीचक्रसंवरतन्त्र में कहा है - रूपस्कन्ध बीजों का आधार है। अतः वह शिरस्थ है जो बिन्दुस्थली है। वेदना का नाभि, विज्ञान का नेत्र, संज्ञा का ग्रीवा, संस्कार का पाद में स्थान है। विज्ञानस्कन्ध चित्त की प्राणवायु का आधार है, जो हृदयस्थान है। इसलिए उसका स्थान हृदय में है (Tson-Kha-Pa, Bkah-hbum, Lhasa 27 FF.)। ये पंचस्कन्ध पंचानुराग से संबद्ध हैं।

श्रावक संवर में ३७ बोधिक्षीय धर्मों को देवियों के रूप में स्वीकार किया है। निष्पन्न योगावली और श्रीचक्रसंवरतन्त्र में यह स्वीकृति और अधिक स्पष्ट हुई है। वहां वज्रवारोही के साथ 'श्री हेरुक' को सम्यक् समाधि के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है। ३७ बोधिपक्षीय धर्मों की देवियां तथा उनके बुद्ध इस प्रकार हैं -

१. काय स्मृति : डाकिनी

२. वेदना स्मृति : लामा

३. चित्त स्मृति : खण्डरोहा

४. धर्म स्मृति : रूपिणी

५. अनुत्पन्न अकुशल : प्रचण्डा
धर्मों की अनुत्पत्ति
के लिए सम्यक् प्रयत्न

६. उत्पन्न अकुशल : प्रचण्डाकाशा
धर्मों के विनाश के लिए
प्रयत्न

७. अनुत्पन्न कुशल : प्रभावती
धर्मों की प्राप्ति
के लिए प्रयत्न

८. उत्पन्न कुशल : महानाशा
धर्मों की स्थिति
के लिए प्रयत्न

९. छन्द ऋद्धिपाद : वीरमती

१०. वीर्य ऋद्धिपाद : खरवर्पी

११. चित्त ऋद्धिपाद : लंकेश्वरी

१२. विमर्श : द्रुमच्छाया

१३. श्रद्धा इन्द्रिय : ऐरावती

१४. वीर्य -"- : महाभैरव

१५. स्मृति -"- : वायुवेगा

१६. समाधि -"- : सुराभक्षी

१७. प्रज्ञा -"- : श्यामादेवी

१८. स्मृति बल : सुभद्रा

१९. ह्री -"- : हयकर्णी

२०. अपत्राप्य -"- : खगानना

२१. वीर्य -"- : चक्रवज्रा

२२. प्रज्ञा -"- : वज्रादोहा

२३. स्मृति बोध्यंग : शौण्डिणी

२४. धर्मविचय -"- : चक्रवर्मिणी

२५.	वीर्य बोध्यंग :	सुविग	३२.	वाणी-वाचा :	शूकरास्या
२६.	प्रीति -"- :	महाबला	३३.	कर्मान्त :	श्री हेरुक्
२७.	प्रश्रब्धि -"- :	चक्रवर्तिणी	३४.	आजीव :	यमदाही
२८.	समाधि -"- :	महावीर्य	३५.	व्यायाम :	यमदूती
२९.	उपेक्षा -"- :	काकास्या	३६.	स्मृति :	यमदणस्मृति
३०.	सम्यक् दृष्टि :	उलूकास्या	३७.	समाधि :	यममथनी
३१.	सम्यक् संकल्प :	श्वानास्या			

वज्रतन्त्र परम्परा के ये प्रतीक बडे गुह्य हैं। बाह्यरूप में कहीं कहीं सामाजिक नैतिकता को रोंधते हुए दिखते हैं पर वही प्रतीकात्मकता आध्यात्मिकता से सिक्त रहती है। इसके बावजूद प्रतीक प्रतीक ही रहते हैं। साधारण जनसमाज उसका अभिधा मूलक अर्थ अधिक ग्रहण करता है। अभिधा मूलक अर्थ लेने पर ये प्रतीक सामाजिक आचरण के अत्यन्त विरोधी सिद्ध हुए हैं । फल यह हुआ कि वज्रतन्त्र साधना से वज्र योगी भी भ्रष्ट हुए और उन्होंने समाज को भी भ्रष्ट किया।

सन्ध्याभाषा और प्रतीक

सन्ध्याभाषा का प्रयोग तान्त्रिक परम्परा में प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसमें साधक अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने में अभिव्यञ्जनात्मक प्रतीक शब्दों का प्रयोग करता है। चन्द्रकीर्ति के प्रदीपोद्योतन में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है -

विशिष्टरुचिसत्वानां धर्मतत्त्वप्रकाशनं।
विरुद्धालापयोगेन यत् तत् सन्ध्याय भाषितम्।।

हरप्रसाद शास्त्रीने 'बौद्ध गान ओ दोहा' में इसका अर्थ आलो आंधारि भाषा (आलोक और अन्धकार की भाषा) कहा और विनयतोष भट्टाचार्य ने उसका अनुवाद किया 'ट्वालाइट लेंग्वेज' कर उसका समर्थन किया। विधुशेखर भट्टाचार्य ने उसे 'संधा भाषा' निश्चित किया।

गुह्यसमाज की ज्ञानवज्र समुच्चय व्याख्या में प्राचीन बौद्ध परम्परा के आधार पर नेयार्थ और नीतार्थ को क्रमशः यथारुत और न-यथारुत शब्द दिये। सद्धर्मपुण्डरीक,

दशभूमिकशास्त्र, बोधिचर्यावतार पंजिका आदि ग्रन्थों में संधा शब्द का प्रयोग हुआ है- संधाय भाषितम्। पर लगता है, सन्ध्या भाषा शब्द अधिक उचित है।

हेवज्रतन्त्र के प्रथमकल्प में सन्ध्या के स्थान पर 'छोमा ' शब्द का भी प्रयोग है और स्वतन्त्र रूप से प्रथम कल्प में छोमापीठ पटल दिया हुआ है। पर साथ ही द्वितीय कल्प के तृतीय पटल में सन्ध्या शब्द का भी प्रयोग हुआ हैं। यहां दो प्रकार के संकेत मिलते हैं - कायिक और वाचिक। छोमा पटल में मात्र कायिक संकेत द्रिये गये हैं। उदाहरणार्थ- "एक अंगुलि का अर्थ प्रश्न पूछना है - क्या मेरा स्वागत है। दो अंगुलियां दिखाकर इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है - हां, स्वागत है। इसी तरह वामाङ्गुष्ठ निपीडन = कल्याणावस्था का सूचक। अनामिका दिखाने पर कनिष्ठिका दिखाये और मध्यम अंगुलि दिखाने पर तर्जनी दिखाये। अनामिका दिखाने पर ग्रीवा दिखाये और पट (चित्र) दिखाने पर उसे त्रिशूल दिखाये। यदि स्तन दिखाये तो उसे सीमान्तचक्र (केश) बताये। पृथ्वी दिखाने पर मुख दिखाये। भृकुटि दिखाने पर शिखा खोल दे। ललाट दिखाने पर पीठ दिखाये। पादतल (पैर) दिखाने पर नृत्य करे। इस तरह मुद्रा-प्रतिमुद्रा से संकेत किया जाता है।

तब योगिनियां कहती हैं - कृपाकर बहुत अच्छा किया। यदि वे हाथ में माला दिखायें तो समझना चाहिए कि वे मिलने का निमन्त्रण दे रही हैं। यदि वे मालायें लेकर आगे बढें तो समझो कि वे उत्सव में भाग लेने का आह्वान कर रही हैं। तब योगिनियां जो भी कहें, सब कुछ करना चाहिए।"

द्वितीय कल्प के तृतीय सन्ध्याभास पटल में अभिषेक (विशुद्धिकरण) के चारों प्रकारों का विस्तृत वर्णन करते हुए 'एवं' की उपलब्धिके लिए चार क्षणों को माध्यम बताया है - विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण। इनसे क्रमशः प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द की प्राप्ति होती है। यहीं सन्ध्याभाषा की अभिव्यक्ति हुई है। यहां मद्य (मदन-काम), बल (मांस), आदि शब्दों का प्रतीकार्थ दिया हुआ है। इसी तरह अनेक स्थानों पर यहां हेवज्रतन्त्र में प्रतीक सिद्धान्त और सन्ध्या भाषा का भरपूर प्रयोग हुआ है। इसका हम मात्र उल्लेख कर रहे हैं। यहां कोष्ठक में प्रतीकार्थ दिया गया है नगेन्द्रनाथ उपाध्याय के अनुसार।

मांस (पुक्कसी), रक्त (शबरी), शुक्र (चण्डाली), मेदमज्जा (डोम्बी), चर्म (सात बोध्यंग), अस्थि (सत्यचतुष्टय), अस्पर्श (डिण्डिम), कपाल (पद्मभाजन), शुक्र (चित्त),

मदन (मद्य), मांस (बल), मलयज (मिलन), खेट (गति), शव (आश्रय), अस्थ्याभरण (नग्न), प्रेंखण (अगति), कृपीट (डमरूक), दुन्दुर (अभव्य), कालिंजर (भव्य), भक्ष्य (तृप्तिकर), मालतीन्धन (व्यंजन), चतुःसम (गोबर), मूत्र (कस्तूरिका), सिल्हक (रक्त), कर्पूर (शुक्र), शालिज (महामांस-नरमांस), कुन्दुर (द्वीन्द्रिययोग), बोल (वज्र), कक्कोल (पद्म), वज्र (पुरुष शक्ति), कक्कोल (स्त्री शक्ति), हे (महाकरुणा), वज्र (प्रज्ञा), वज्र (अभेद्य ज्ञान), शक्ति (मुद्रा), वामा (प्रज्ञा), अंगुष्ठ (वज्र), निपीडन (निवेश), अनामिका (प्रज्ञाज्ञानाभिषेक), त्रिशूल (ललना-रसना-अवधूती की अद्वय स्थिति), मेदिनी (निर्माणचक्र), भृकुटी (संभोगचक्र), ध्वज (सालम्बनचित्त), वज्र (हेवज्र), कपाल (नैरात्म्या और हेरुक की एकता), अ (नैरात्म्या), ऐ (वेताली), पुक्कसी (छः स्वर), इ (वारी), उकार (डाकिनी), आली (सूर्य-प्रज्ञा), कालि (चन्द्र, उपाय), ए (लोचनादेवी), वं (मामकी), म (पाण्डुरा देवी), या (तारादेवी), संवर (प्राणप्रतिष्ठा), चण्डाली (प्रज्ञोपाय, चण्डा - प्रज्ञा, आली-वज्रसत्त्व), पंचस्कन्ध (पंच तथागत), अक्षोभ्य (शुक्र), पंचमुद्रायें (विशुद्धता), षड्भुजायें (षट्पारमितायें), शवारूढता (त्रैधातुक संसार), पंच कलश (पंच तथागत), प्रज्ञा (नैरात्म्या), उपाय (हेवज्र), पंचकुल (रसना, स्पर्शादि), आलि (अकारादि १६ स्वर), कालि (३४ व्यंजन), अक्षोभ्य (काय), वैरोचन (वाक्), अमिताभ (चित्त), वैरोचन (ब्रह्मा), अक्षोभ्य (विष्णु), अमोघ (शिव), रत्न (सर्व), अमिताभ (विबुद्ध), सात्त्विक (तत्त्व), चक्र (अक्षोभ्य), कुण्डल (अमिताभ), कण्ठमाला (रत्नेश), हस्तमण्डल (वैरोचन), मेखला (मोघ), खट्वांग (प्रज्ञा), डमरू (उपाय), गीत-मन्त्र-नृत्य (ध्यान), कपाल (पंच बुद्ध), भाई (योगी), बहन (योगिनी), बामा (प्रज्ञा), अंगुष्ठ (वज्र), अनामिका (प्रज्ञाज्ञानाभिषेक), त्रिशूल (प्रज्ञोपाय), स्तन (अनुभव), सीमान्त (महासुख), मेदिनी (निर्माणचक्र), चक्र (धर्मचक्र), भृकुटि (संभोगचक्र), दिन (हेवज्र), रात्रि (प्रज्ञा), श्री (अद्वयज्ञान), हे (सर्वधर्मशून्यता), रु (वितर्कमुक्तावस्था), क (निर्वाण), कपाल (आशीर्वाद का रक्षक और नैरात्म्य का सूचक), वज्रकपाल योग (करुणा और शून्यता का योग), धागा (इष्टदेव), बोल (वज्र), कक्कोल (कमल), अग्नि (राग), संवर (महासुखज्ञान), ए (प्रज्ञा), वं (उपाय), निकाय (काय), बिहार (उदर), पीला चीवर (योनि), माता (शिक्षक), मन्त्र-जपन (अहं), चार पैर (और विध्वंसन), आठ मुंह (आठ विमुक्तियां), सोलह भुजायें (सोलह शून्यतायें), मांस (पुक्कसी), रक्त (शवरी), शुक्र (चण्डाली), मद-मज्जा (डोम्बी), चर्म (सप्त बोध्यंग), अस्थिसमूह (चतुरार्यसत्य), पंच कपाल (पंच बुद्ध), चक्र (अक्षोभ्य), कुण्डल (अमिताभ), कण्ठमाला (रत्नेश), हस्तमण्डल

(वैरोचन), केशरज्जु के दो भाग (प्रज्ञा और उपाय), ध्वज (शस्त्र हत शव - बोधिचित्त), शस्त्रहत (निःस्वभावीकरण), चाकू (मान, मिथ्या, संशय आदि दोषों को काटने वाला), कपाल (भाव-अभाव के विकल्प को दूर करने के लिए, उससे चार मारों का रक्तपान किया जाता है), खट्वांग (शून्यता), छः रंग (छः बुद्धों के प्रतीक) आदि। सन्ध्याभाषा में भी प्रतीकात्मकता देखिए (हेवज्र. २.३.५२-६७)।

पंचकर्म के लेखक नागर्जुन ने 'संधिभाषाटीका' में सन्ध्या भाषा पर लिखा है जिसकी तुलना Wayman ने हेवज्रतन्त्र से इस प्रकार की है -

हेवज्रतन्त्र	सन्धिभाषाटीका
मद्य मदन है।	मद्य अमृत है।
मांस बल है।	मांस भोजन है जिसपर संयम किया जा सकता है।
मलयज मिलन है।	मलयज सहजानन्द है।
खेट गति है।	खेट वायु का मार्ग है।
शव श्राय (आश्रय) है।	शव शरीरयन्त्र है जिसमें अमित कान्ति है। वह आश्रयणीय है।
अस्थ्याभरण निरंशुक (नग्नता) है।	अस्थ्याभरण हमारे आभूषण हैं।
प्रेंखन (भ्रमण) आगति (आगमन) है।	प्रेंखन निश्वसन है। उसे रोकना चाहिए।
कृपीत (लकडी) डमरूक है।	कृपीत में प्राण और आयाम हैं।
दुन्दुर अभव्य है।	दुन्दुर विकल्प है।
कालिंजर भव्य है।	कालिंजर अविकल्प प्रकृति संपत्र है।
पद्मभाजन कपाल है।	पद्मभाजन शरीर का चतुश्चक्र है या काममुद्रा का कक्कोल है।
तृप्तिकर भक्ष्य है।	तृप्तिकर योगियों का ध्यान है।
मालतींधन व्यंजन है।	वह खाद्य है।
चतुःसम गूथ (गोबर) है।	चतुःसम वैरोचन है।

सिहलक स्वयंभू (शोणित) है।	सिहलक रत्नसंभव है।
कर्पूर शुक्र है।	कर्पूर अमिताभ है।
शालिज महामांस है।	शालिज अमोघसिद्धि है
कुन्दुरु अद्वैत है।	कुन्दुरु इन्द्रिय संगम है।
बोल वज्र है।	बोल विज्ञान है, बाह्य वज्र है।
कक्कोल कमल है।	कक्कोल पवित्रकमल है, प्रज्ञा है, जो योग में सहायक होती है।

तान्त्रिक गीत

हेवज्रतन्त्र में अपभ्रंश में कुछ दोहे हैं, सरह, काण्ह ने भी ऐसे दोहे दिये हैं दोहाकोष, चर्यागीतिकोष, चर्यापद आदि में नारोपा ने वज्रपादसारसंग्रह पंजिका में इनकी व्याख्या की है - (PTT. Vol. 54, PP. 1-41) - इसे चर्यागीत कहा है या चर्याव्रत जिसे खट्वांग से संकेत दिया है। "ओं मणिपद्मे हूँ " मन्त्र है। ऐसे और भी पचासों मन्त्र हैं। जिन्हें भी हम तान्त्रिक गीत कह सकते हैं। दोहा तो तान्त्रिक गीत हैं ही।

हेवज्रतन्त्र के द्वितीयकल्प के चतुर्थपटल में गीत नाट्य आदि की उपयोगिता के संदर्भ में कहा है कि योगिन् कोल्लगिरि पर बैठा है और योगिनी मुम्मुणी क्षेत्र में। जोर से ड्रम बचता है, अनाहत ध्वनि होती है वह इसका सूचक है कि दूर स्थित होने पर भी उनमें प्रेम जाग्रत होता है। मदिरा-मांस पीने-खाने पर भी वहां कोई द्वेषभाव नहीं। वहां नृत्य में शुद्ध-अशुद्ध का ध्यान नहीं रखा जाता। सभी नग्न होकर संभोग करते हैं, गाते हैं, नाचते हैं। इसी में ध्यान किया जाता है। कर्पूर का विशेष उपयोग किया जाता है क्योंकि उसे सभी योगिनियों का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। वह सहजानन्द स्वभावी है, नैरात्म्यस्वभावी है।

अपभ्रंश के दोहों का भाषा वैज्ञानिक महत्त्व है, दार्शनिक तो है ही। विस्तारभय से हम यहां इस विधा पर अभी विचार नहीं कर रहे हैं। पर प्रसंगवशात् इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि इन दोहों की भाषा लगभग १०-११ वीं शती की है जो हेवज्रतन्त्र के समय निर्धारण में साधक बन जाती है। इस पर शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव है।

** ** **

६

हेवज्रतन्त्र की अध्यायगत विषय सामग्री

पिछले पृष्ठों में हमने वज्रतन्त्र परम्परा का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है जिसमें उसकी पृष्ठभूमि, आचार्य और साहित्य, उत्पत्ति और विकास, दार्शनिक परम्परा और साधना समाहित है। यहां हम हेवज्रतन्त्र की उस सारी विषय सामग्री को यथावत् प्रस्तुत करना चाहेंगे जिसने वज्रयान परम्परा को विकसित किया है और वज्रतन्त्र का रूप दिया है। हेवज्रतन्त्र में वज्रतन्त्र के साथ ही मन्त्रयान, वज्रयान और सहजयान शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जिससे ऐसा लगता है कि उसके लेखक की दृष्टि में इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं था। यह बात सही भी है। वज्रतन्त्र परम्परा की पृष्ठभूमि में मन्त्रयान और वज्रयान के सिद्धान्त तो प्रचलित थे ही। उन्हीं को ही उसने और विकसित किया जिसके फलस्वरूप उन्मुक्त यौन सम्बन्ध महासुख की आड में समाज में फूलने-फलने लगा। सहजयान के भी बीज यहां मिलते हैं - हे. १.१.८.२५-४१; १.१.१०.२५-२६; २.११ - आदि जिनका स्पष्ट रूप सरहपा के दोहाकोश में देखने मिलता है। यहां योगरत्नमाला का भी उपयोग किया गया है।

हेवज्रतन्त्र में दो कल्प हैं - वज्रगर्भसम्बोधिकल्प और महातन्त्रराजमायाकल्प। वज्रगर्भसम्बोधिकल्प में ११ पटल हैं - i) सर्वतथागतकायवाक्चित्त हेवज्रकुल पटल, ii) मन्त्र पटल, iii) देवतापटल, iv) देवताभिषेक पटल, v) तत्त्वपटल, vi) चर्यापटल, vii) छोमापीठपटल, viii) योगिनीचक्रपटल, ix) विशुद्धिपटल, x) अभिषेकपटल, और xi) चार दृष्टि पटल। द्वितीय कल्प में बारह पटल हैं - i) होमनिर्णयप्रतिष्ठा पटल, ii) सिद्धिनिर्णय पटल, iii) हेवज्र सर्वतन्त्रनिदानसन्ध्याभास पटल, iv) हेवज्रसर्वतन्त्र-मुद्रणपिण्डार्थ पटल, v) हेवज्राभ्युदय पटल, vi) हेवज्रपटविधान पटल, vii) भोजन पटल, viii) विनेय पटल, ix) मन्त्रोद्धार पटल, x) जाप पटल, xi) सहजार्थ पटल, और xii) महातन्त्रराज पटल।

इस हेवज्रतन्त्र पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं पर यहां उनमें उत्कृष्टतम टीका हेवज्रतन्त्रपञ्जिका को ही इसमें सम्मिलित किया गया है जिसके लेखक हैं सिद्ध कण्हपाद। इन दोनों के आधार पर हमने हेवज्रतन्त्र का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसे हम यहां अविकल रूप में दे रहे हैं ताकि साधारण पाठक बौद्ध तन्त्र परम्परा के आलोक में इसके महत्त्व का मूल्यांकन कर सके। यद्यपि इसमें वर्णित विषय के मुख्य अंशों का संकेत हम अपनी भूमिका में यथास्थान करते रहे हैं पर उसकी विस्तृत जानकारी मूल ग्रन्थ से ही उपलब्ध हो सकती है। हेवज्रतन्त्र सभी तन्त्रों का आधारभूत ग्रन्थ है और सम्यक्

सम्बोधि प्राप्ति का साधन है (२.३.१-३)। इसलिए उसे विस्तार से समझना आवश्यक है।

१. वज्रगर्भ संबोधि -कल्प

१. सर्वतथागतकाय-वाक् -चित्तहेवज्रकुलपटल

ऐसा मेंने सुना [१]। एक समय भगवान वज्रयोगिनी के साथ बिहार कर रहे थे। वज्रयोगिनी को तथागत बुद्धों का काय, वाक्, चित्त और हृदय माना जाता है। वहां हेवज्रमूर्ति रूप भगवान ने कहा - हे वज्रगर्भ, हेवज्र अत्यन्त गुह्य है, वज्रसत्त्व, महासत्त्व और महासमयसत्त्व का सार है, वह वज्रधर है। उसे सुनो। वज्रगर्भ ने पूछा - वज्रसत्त्व, महासत्त्व और समयसत्त्व क्या है? भगवान ने उत्तर दिया - वह अभेद्य है इसलिए वज्र है, शून्यता है, काय, वाक्, हृदय से संयुक्त [२] है इसलिए महासत्त्व है तथा प्रज्ञा से युक्त है इसलिए वज्रसत्त्व है। काय-वाक्-चित्त की एकता को पञ्चस्कन्धात्मक या रूपकाय माना है। प्रज्ञा का संबन्ध प्रज्ञापारमिता और धर्मकाय (वज्रसत्त्व) से है। महासत्त्व (संभोगकाय) को महायान-ज्ञान रस और महासुखसंभोग रस से पूर्ग कहा है। नित्य समय-प्रवृत्त होने के कारण समयसत्त्व है। वज्रसत्त्व बुद्धों का धर्मकाय है। महासत्त्व बुद्धों का संभोगकाय है। त्रिधातुगमन करनेवाले को समयसत्त्व कहा जाता है। यह बुद्धों का निर्माणकाय है।

यहां वज्र का अर्थ शून्यता है। जैसा **आर्यदेव** ने कहा है (१-३)।

वज्रगर्भ ने पूछा - इस संगह को **"हेवज्र'** ' क्यों कहा है? भगवान ने उत्तर दिया- "हे" का अर्थ महाकरुणा और वज्र का अर्थ प्रज्ञा है। अर्थात् हेवज्र प्रज्ञोपायात्मक है। **तन्त्र** का संबन्ध प्रज्ञोपाय से है। तन्त्र तीन प्रकार के है - हेतुतन्त्र, फलतन्त्र और उपायतन्त्र। वज्रकुलीन सत्त्व हेतु है, हेवज्रमूर्ति फल है और उपाय मार्ग है। हेवज्रतन्त्र का सामर्थ्य बहुबिध वर्णित है - दृष्टि, आकृष्टि (आकर्षण), प्रतीकज्ञान, स्तम्भन (रोकना), उच्चाटन, सैन्यस्तंभन आदि। वह योगिनियों की उत्पत्ति और स्थिति का कारण (महोपाय) है, ज्ञान - विज्ञान का जनक है, और देवताओं की उत्पत्ति का आधार

---

१. योगरत्नमाला में "एवं मया" के पृथक्-पृथक् अनेक अर्थ दिये हैं। ए = भग, वं = कुलिश, मया = चालन। अथवा ए = पृथ्वी, कर्ममुद्रा, नाभि स्थित निर्माणचक्र, वं = जल, धर्ममुद्रा, धर्मचक्रस्थित। म = वह्नि, महामुद्रा, कण्ठीय संभोगचक्र में स्थित। या = मारुत, महासुखचक्र में स्थित। श्रुतं = संवृत और विवृत रूप दो सत्यों पर आधारित।

२. धर्मकीर्ति ने कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु ये तीन माने हैं। कण्ह ने अभेद्य का अर्थ शून्यता किया है।

है। प्रथमतः वह हेवज्र गुह्यमन्त्रमहायान में हेरुक (देवतामूर्तिभावना) की उत्पत्ति का कारण है। इसी से सत्त्व मुक्त हो जाते हैं। वे जन्मों से बंधे हैं और उनका ज्ञान हो जाने से पंचस्कन्ध से मुक्त हो जाते हैं। हेरुक के अनस्तित्व के ज्ञान से अस्तित्व (भाव) पर विचार करना चाहिए। हेरुक (हेवज्र) पर भी इसी आधार पर चिन्तन होना चाहिए। द्वितीयतः, देहस्थ महाज्ञान सभी संकल्पों से मुक्त है। यद्यपि उसके सर्वव्यापक होने से वह देहस्थ भी है पर देहोत्पन्न नहीं है। अतः हेवज्र का आधारमण्डल देह ही है (६-१०)।

वज्रगर्भ ने पूछा - हे भगवन् ! वज्रदेह में कितनी नाडियां हैं? भगवान् ने उत्तर दिया - बत्तीस नाडियां हैं। वे बोधिचित्त को धारण करने वाली हैं। इनमें तीन **नाडियां** प्रमुख हैं - ललना, रसना और अवधूती। ललना प्रज्ञास्वभाव वाली है, रसना उपाय संस्थित है और अवधूती ग्राह्य-ग्राहक से दूर रहकर मध्यदेश में स्थित है। ललना अक्षोभ्यबाही [१] है और रसना रक्तवाहिनी है तथा जो प्रज्ञा और चन्द्र को जानता है वह अवधूती है। नाडियों के ३२ नाम इस प्रकार हैं - अभेद्या, सूक्ष्मरूपा, दिव्या, वामा, वामिनी, कूर्मजा, श्रावकी, सेका, दोषा, विष्टा, मातरी, शवरी, शीतदा, ऊष्मा, ललना, अवधूती, रसना, पर्वणा, कृष्णवर्णा, सुरूपिणी, सामान्या, हेतु-दायिका, वियोगा, प्रेमणी, सिद्धा, पावकी, सुमना, त्रैवृत्ता, कामिनी, गेहा, चण्डिका और मारदारिका (११-१५)।

वज्रगर्भ ने पुनः पूछा - ये बत्तीस **नाडियां** वज्रशरीर में कैसी हैं? भगवान ने कहा- काय-वाक्-चित्त में संग्रहीत होने के कारण वे स्वभावतः तीनों भवों (सर्वधर्मा) से परिणत हैं अतएव ग्राह्य (विषय) और ग्राहक (वस्तु) से स्वतन्त्र हैं। परन्तु उनका उपयोग जब साधन रूप में किया जाता है तब उन्हें भाव रूप में मान लिया जाता है । (१६) अध्यात्म योगी के ये अन्तरमण्डल (संवर) हैं –

१) आलि =सूर्य - प्रज्ञा जो वाईं नाडी है (अकारादि १६ स्वर)।

२) कालि =चन्द्र - उपाय जो दक्षिण नाडी का प्रतिनिधित्व करता है - ३४ व्यञ्जन।

वे ललना और रसना, सूर्य और चन्द्र प्रज्ञोपाय हैं। उन्हें धर्मसंभोगनिर्माण कहते हैं। काय-वाक्-चित्त में क्रमशः निर्माण, संभोग और धर्मचक्र हैं। इनको सामुदायिक अवस्था में "महासुख" कहा जाता है। **"एवं मया"** में ए =लोचना देवी, वं =मामकी, म =पाण्डुरादेवी और या =तारादेवी से संकेतित हैं। वाक्चक्र कण्ठ में, चित्त चक्र हृदय

---

१. अक्षोभ्य का अर्थ बोधिचित्त भी हो सकता है।

में और कायचक्र योनि में है। तीनों का परिज्ञान महासुखचक्र है जो मूर्ध्व में है। इन चारों चक्रों में पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये चार मुद्रायें हैं। निर्माणचक्र में ६४ पद्मदल, धर्मचक्र में ८ पद्मदल, संभोग चक्र में १६ पद्मदल और महासुखचक्र में ३२ पद्मदल हैं। चार क्षण हैं - विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण। चार अंग हैं - सेवा, उपसेवा, साधना और महासाधना। चार आर्यसत्य हैं - दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधोत्पत्तिमार्ग। चार तत्त्व हैं - आत्म, मन्त्र, देव और ज्ञान। चार आनन्द हैं- आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। चार निकाय हैं - स्थविर, सर्वास्तिवाद,, संविद, महासंघ। फिर आलि, कालि, चन्द्र, सूर्य, १६ संक्रान्ति, ६४ दण्ड, ३२ नाडी (घंटे), ४ प्रहर। ये सभी चार हैं। संवरभेद की एक और व्याख्या हो सकती है। संवर का अर्थ है प्राणप्रतिष्ठा या समर्पण। यह चार प्रकार का है - आचार्य, गुह्य, प्रज्ञा और चतुर्थ एवं आदि कथन, योगिनी तन्त्र में आचार्य वह है जो साधक को अकुशल कर्मों से बचाये। वह उसे कर्ममुद्रा से शिक्षा देता है। गुह्य तत्त्व की व्याख्या समयमुद्रा से होती है। प्रज्ञा की जानकारी धर्ममुद्रा से और चतुर्थ को तथता अथवा शून्यता से जाना जाता है जिसे महामुद्रा कह सकते हैं।

चण्डाली (चण्डा =प्रज्ञा, आली =वज्रसत्त्व) नाभि में प्रज्वलित होती है। वह पञ्चस्कन्ध रूप पंचतथागतों को जला देती है। पंचतथागत हैं - अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमिताभ, वैरोचन, अमोघसिद्धि। चण्डाली, लोचना, तारा, पाण्डुरा, मामकी ये भी पांच हैं जिन्हें वह जलाती है। तब अहं भी जल जाता है और चन्द्र भी। चण्डा (अहंकार) और आलि (हुँकार) दोनों एकरस होकर महासुखमय रूप अग्नि से पंचस्कन्धों को जलाता है और लोचनादि व पृथ्वी आदि के जलने पर अहं समाप्त हो जाता है और महासुखचक्र से बोधिचित्त प्रगट होता है। यहां चण्डाली का अर्थ है प्रज्ञोपाय। शून्यता और करुणा का भी संकेत है। अहंकार और ममकार के जलने पर साधक प्रभास्वरमयसमाधि में प्रतिष्ठित होता है (१७-१८)। इस पटल में हेवज्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

२. मन्त्रपटल

मन्त्र का अर्थ है मनन और त्राणन। मन्त्र से परमार्थ का चिन्तन और जगत का त्राण किया जाता है। मन्त्र से इन्द्रादि सभी देवों को भेंट (पूजोपहार) दी जाती है। इसे बोधिचित्त भी कहा जाता है। ओंकार को आदि और अनुत्पन्न माना जाता है - **ओं अः हूँ फट् स्वाहा**। इस प्रसंग में स्तम्भन, उच्चाटन, आकर्षण आदि से संबद्ध १९-२० मन्त्रों का उल्लेख हुआ है जिसे मूल भाग में देखा जा सकता है (१-१९)।

२०. वर्षायन विधि

"ओं आः फुः" कहकर सर्प की मूर्ति बनाकर उसे पंचामृत (दधि, दुग्ध, घृत, गोमूर्त और गोमय - गोबर)[१] से अभिषिक्त करे, कृष्ण से अर्चना करे, हस्तिमद से शिर का लेप करे, दो पात्रों के बीच सर्पमूर्ति रखे, उन पात्रों को काली गाय के दूध से भरे और फिर उस पात्र को कृष्ण कुमारी द्वारा काटे सूत से वेष्टित कर दे। फिर उत्तर-पश्चिम दिशा में पुष्करिणी बनाकर उसमें उसे स्थापित करे। उसके तट पर मण्डल बनाये। श्मशान की अंगार से कालीरज, मानव - अस्थिचूर्ण से सफेद रज, मानव- अस्थि से पूर्ण श्मशान के अंगारचूर्ण से नीली रज, इन सभी रजों से मण्डल बनाये, उसे श्मशान सूत्र[२] से परिमित करे जो तीन हाथ और तीन इंच लम्बा हो। उसके बीच सर्पाकार "हेवज्र" लिखे। उसमें आठ मुख, चार पैर, सोलह भुजाएं और चौबीस नेत्र रहते हैं। बाद में आचार्य एकान्त स्थान में अध्यात्मचित्त से यह मन्त्रोच्चारण करे -

'ओं घुरु घुरु घुडु घुडु मस मस घट घट घोटय घोटय अनन्त-क्षोभकराय नागाधिपतये हे-हे-रु-रु-क सप्त पातालगतान् नागान् कर्षय कर्षय वर्षय वर्षय गर्जय गर्जय फुः फुः फुः फुः फुः फुः फुः फुः हूँहूँह ूँ फट् स्वाहा।'

इस मन्त्र के उचारण से यदि वर्षा न हो तो मन्त्र जाप उल्टे रूप से करे तब वर्षा होगी। यदि वर्षा नहीं होती तो उन नागों का मस्तक अर्जक-लता[३] फल जैसा फूट जायेगा (१-२०)।

२१. मेघास्फाटन विधि

श्मशान के कपडे पर बैठकर इस मन्त्र की जाप करे - 'ओं आर्य श्मशानप्रियाय हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा।' इससे अधिक वर्षा रुक जायेगी।।

२२. वज्रकर्तरि विधि

दूसरे की सेना का विनाश करने के लिए खटिका का प्रयोग किया जाता है। खटिका को कुठार से पीसकर पंचामृत में मिलाकर उसे गोल बना ले और उसकी सिद्धि के लिए इस मन्त्र जाप को एक करोड बार करे- **'ओं वज्रकर्तरि हेवज्राय**

---

१. हेवज्र पिण्डार्थटीका (१५.३५) के अनुसार गोमूर्त और गोमय के स्थान पर इक्षुरस और शहद का उल्लेख है।

२. हेवज्रपिण्डार्थटीका के अनुसार मनुष्यों की आंतों से बना धागा (१५.३५)।

३. काण्ह ने अर्जक का अर्थ पनश किया है (१.२), हेवज्रपिण्डार्थ में उसे मल्लिका माना है जो सूर्य-किरणों के लगने पर फूट जाता है।

हूँ हूँ हूँ ' ।इसके अभ्यास के लिए एक लाख बार जप करे। बाद में उससे साधक कमण्डलु की ग्रीवा को आवेष्टित करे और फिर उसे तोड दे। इससे उसके सारे शत्रु शिरोहीन हो जायेंगे।

२३. देवतास्फाटन विधि

तीर्थिकों का विनाश करने के लिए तिलक से साधना करनी चाहिए। ब्रह्म (पलाश) बीज पुष्प साधित हो, कुठार-छित्र से मिश्रित हो फिर उसे सूर्यग्रास काल में अक्षोभ्य (शुक्र) से पीसे। पीसकर उसे परशु बनाये। और पैर से उसे कुचलकर यह मन्त्र पढे - **'ओं वज्रकुठार पाटय पाटय हुँ हुँ हुँ फट् स्वाहा।'** इसका जप एक करोड बार करे और तिलक की बन्दना करे। जिसे वह लगेगा वह फट जायेगा।

२४. तापज्वलन विधि

अर्क-दल पर विष भरे सरसों और चित्रक के रस से शत्रु का नाम लिखे और उसे यह मन्त्र पढकर तुषाग्नि में फेके - **"ओं हेवज्र ज्वल ज्वल शत्रून् भ्रु हूँ हूँ फट् स्वाहा।"** इसे दस हजार बार जपना चाहिए। इससे शत्रु पर ताप ज्वर की बाधा आ जायेगी।

२५. मद्य उदगीरण विधि

यदि कोई मद्य का वमन कराना चाहे तो वह मद्यपायी व्यक्ति की नाभि में "मम" की भावना करे और ममकार से निष्पन्न मद्योदर का ध्यान करे। ऐसा करने पर मद्य उगलता हुआ वह देखा जा सकता है।

२६. स्त्री वशीकरण विधि

यदि कोई तरुणी को वश में करना चाहे तो वह अष्टमी के दिन अशोकवृक्ष के नीचे जाकर, रक्तवर्ण वस्त्र पहिनकर मदनफल खाये। फिर कामाचिका रस से तिलक लगाकर इस मन्त्र को दस बार जपे तो इच्छित स्त्री वश में होकर घर आ जाये। मंत्र है - **"ओं ह्री : अमुकी मे वशीभवतु स्वाहा।"**

२७. चन्द्र-सूर्य-विधारण विधि

यदि कोई चन्द्र-सूर्य को वश में करना चाहे तो वह धान्य का चन्द्र-सूर्य बनाकर वज्र-जल में डाल दे और इस मन्त्र का जाप करे - **"ओं चन्द्रार्क मा चल मा चल तिष्ठ तिष्ठ हेवज्राय हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा।"** इस मन्त्र का सात करोड बार जाप करे। चन्द्र-सूर्य रात-दिन प्रकाशित होते रहेंगे।

२८. वज्रज्योतिष नष्टद्रव्यान्वेषण विधि

इसमें सफलता पाने के लिए साधक को **"ओं नग्रा नग्रा"** इस मन्त्र से अष्टमी-चतुर्दशी के दिन रात्रि में किसी कुमारी के नेत्रों को ढककर १०८ बार मन्त्र-जाप करे और पुष्प, धूप, दीप आदि पंचोपचार से उसका सन्मान करे। प्रभातकाल में तैल और अलक्तकरस से भरकर कलशादिक की स्थापना करे और इस मन्त्र को १०८ बार अभिमन्त्रित करे। पश्चात् अभिमन्त्रित अलक्तक रस से बडे अंगूठे को मलकर तैल-स्नान कर उसे कुमारियों को दिखाये यह कहकर कि बताओ किसने मेरा द्रव्य चुराया? तब वह कहेगी - अमुक ने चुराया। यह वज्र ज्योतिष है।

कुछ और मन्त्र हैं। जैसे - **"ओं वेडुया"** यह कहने पर हाथी भाग जाता है। **"ओं मर्मा मर्मा"** यह कहने पर व्याघ्र भाग जाता है। **"ओं तेलिया तेलिया"** कहने पर गेंढा भाग जाता है। **"इलि मिलि फूः फूः"** कहने पर सर्प भाग जाता है। धन की रक्षा करने की दृष्टि से हाथ दिखाइए, कुत्ता भाग जायेगा।

यह वज्रा, गौरी वारी, वज्रडाकी, नैरात्मिका, भूचरी, और खेचरी के योग से संपन्न होता है और योगी स्तंभन आदि का अभ्यास करता है [१]।

३. देवतापटल

यहां **हेवज्र** और उनकी **योगिनियों** के विविध रूपों का वर्णन किया गया है।

---

१. काण्ह ने योगिनीमाला में पूजा-उपासना और उनके मन्त्रों का और भी उल्लेख किया है –

१) साधक को वज्रा का ध्यान करना चाहिए 'ओं' का उच्चारणकर। वज्रा का रंग सफेद है, वह शव पर आरूढ, हाथ में चाकू, कपाल और खट्वांग को धारण करती है। ओं हूँ स्वाहा" कहकर एक सहस्त्र बार उसे दुहराना चाहिए। फिर कच्ची मिट्टी केपात्र पर 'मम' शब्द चाक से लिखे। उसके बीच 'ओं हूँ देवदत्तं स्तंभय हूँ स्वाहा' लिखे और फिर श्मशान की भस्म से उसे पूरा भरकर दूसरे मृतपात्र से उसे ढाक दे। उसके ऊपर महेन्द्र मण्डल खीचे। फिर जमीन पर उसे रखकर उस पर पैर रखे और यह मन्त्र दुहराये - 'ओं हूँ वज्रे देवदत्तं स्तंभय हूँ स्वाहा' १०८ बार या १००० बार। वह स्तम्भित हो जायेगा।

२) गौरी का वर्ण कुंकुम अरुण है, पाश और अंकुश को धारण करती है। 'अं' वर्ण का बन्धूकपुष्प जैसा ध्यानकर 'ओं अं स्वाहा' मन्त्र का एक लाख बार जप करे। फिर ऐसी रक्तवर्णा स्त्री की मन में कल्पना करो जो तुम्हारे सामने केशों को खोलकर नग्न खडी रहे। उसकी योनि में 'अं' रूप अग्निवर्ण का ध्यान करे। यह भी ध्यान करे मानो उसका पाश से गला बंधा हुआ हो, अंकुश से हृदय बंधा हुआ हो, खींचकर पैर तले गिरा दी गई हो। ऐसा ध्यान करने पर अवश्य वह वश में होगी।

सर्व प्रथम मनोरम स्थान में सुखासन पर बैठकर आत्मयोगी की रक्षा के लिए **'ओं रक्ष रक्ष रक्ष हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा'** मन्त्रोच्चारणकर, त्रिशरणकर, बोधिचित्त की उपस्थापनाकर प्रथमतः मैत्री की भावना करे, द्वितीय क्षण में करुणा करे, तृतीय क्षण में प्रमोद और अन्त में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। । १।। यह ब्रह्मविहार भावना है, योग की नीव है।

उसके बाद प्रथमतः शून्यताबोधि का अनुभव होगा। बाह्य पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं। जो दिखाई देता है वह चित्तमात्र है, भ्रान्ति है स्वप्नवत् है, प्रभास्वरमय है, एक-अनेक से रहित है। दूसरा बीजसंग्रह है। वह विषय चित्त में आ जाने पर बीज का काम करता है। उस बीज से योगिनी-कुल का निर्माण होता है। तीसरा बिम्बनिष्पत्ति है। इससे सूर्य-मण्डल के ऊपर देवता अर्ध-पर्यंकासन में शवारूढ होकर प्रगट होते हैं। और चौथा है अक्षरन्यास। इसमें अपने हृदय में मण्डलस्थ बीजाक्षर उपस्थित होते हैं। यह मृदुयोग समाधि है ।।२।।

अग्निवर्ण सूर्य को देखकर उसपर 'हूँ' वर्ण का अभिनिवेश हो जो वज्र से उद्भूत है। उसी वज्र से वज्रप्राकार और वज्रपञ्जर की भावना करे। नीचे वज्रमयी भूमि और बाहर वज्राग्निज्वाला की भावना करे ।। ३।।

वज्रप्राकार में योग के शरीर से प्रथमतः सूर्यादि मण्डल के ऊपर मृतक (शव) की उद्भावना करे जो सभी के अस्तित्व (धर्मधातु) का सूचक है। उस पर बैठे योगी को तब हेरुक की प्रकृति पर ध्यान करना चाहिए। यहां मृतक को निरात्मक माना है। नैरात्म्य ही धर्मधातु है। डाक डाकिनियां धर्मधातुनिष्ठ होती हैं। उस पर अधिष्ठित होकर हेरुकत्व की साधना करना चाहिए।। ४।। हेरुक योग के ये साधन हैं।

अपने हृदय में योगी 'रम्' की भावना करे और उसमें से उद्भूत सूर्यमण्डल, बाद में प्रज्ञा और उपाय स्वभाव वाले हूँ की भावना करे।। ५।। यह 'हूँ' तत्त्व कृष्ण वर्णवाला

---

३) वारियोगिनी नील वर्णा है, इकार निष्पन्ना है, दर्पण और तर्जनी उसके हाथ में है। फिर हृदय में 'खँ' वर्ण का ध्यान कर ऐसी स्त्री का ध्यान करे जो नग्न हो, मुक्तकेशी हो, नीलवर्णा हो, दंष्ट्रारूढ हो।

४) वज्रयोगिनी का ध्यान करे उवर्ण से, मन्त्र जप करे, दो का ध्यान करे जो परस्पर विरोधी हों।

५) नैरात्म्या का ध्यान 'अँ' वर्ण से होता है। वह विकृतरूपा है, कपाट, खट्वांग और चाकू धारण करने वाली है।

६) खेचरी अपने बीजसे ही परिनिष्पन्न, रक्तवर्णा है।

७) भूचरी नीलवर्णा है, घु अक्षर से निष्पन्न है।

है, भयानक है, वज्र से उत्पन्न होने वाला है। वज्र के मध्य रहनेवाले इस 'हूँ' की साधना करनी चाहिए।। ६।। हेरुक में परिणत इस द्वेषात्मक हूँकार को देखकर उसकी विभावना करनी चाहिए। वज्रोत्पन्न वह हेरुक नील पंकज के समान अत्यन्त कृष्ण है। अथवा उसके नील-अरुणिम रंग की उद्भावना करनी चाहिए।। ७ ।।यह हेरुक योग की तृतीय स्थिति है। उस वज्रोत्पन्न और करुणावान् भट्टारक (देव) हेरुक को आकाश में देखकर अलंकृत आठ देवियों के साथ उसकी पूजा करनी चाहिए।। ८।। ये देवियां हैं - मृगचिन्हवती चौरी, सूर्यपात्रवती गौरी, जलहस्ता वेताली, भैषज्यधारिणी घस्मरी, वज्रहस्ता पुक्कसी, रसधारिणी शबरी और डमरु बजाने वाली चण्डाली, इन सातों देवियों के साथ डोम्बी से आलिंगित और महारागानुरागी प्रभु की पूजा करे। यह तृतीय योग का परिकर है ।। ९-१०।।

आलि = अकारादि पन्द्रह स्वर परिणत चन्द्र। **कालि** = ककारादि ३४ व्यंजन, परिणत सूर्य । इन दोनों चन्द्र और सूर्य के बीच-बीच की उद्भावना करने वाला सत्त्व परमानन्द स्वभावी होता है ।। ११।। हेवज्र देह के समान आभा वाले, गगन मण्डल को आच्छादित करने वाले उन बीजों को हृदय में धारणकर योगी द्वेषात्मक हो जाता है। हेरुक जैसा हो जाता है।। २।। **हेरुक** का वर्ण नीलारुण है, नेत्र रक्तबन्धुक हैं, केश पिंगवर्ण हैं और ऊपर उठे हुए हैं, शरीर पंच मुद्राओं से अलंकृत है। ये पंच मुद्राएं हैं - चक्री, कुण्डल, कण्ठी, हस्त कंकण, मेखला। ये मुद्रायें पंच बुद्धों की विशुद्ध शक्ति की प्रतीक हैं ।। १४।। उस वज्रधर अथवा वज्रसत्त्व की दृष्टि क्रुद्ध है, व्याघ्रचर्म से शरीर आवृत है, आकृति सोलह वर्ष तरुण जैसी है, वायें हाथ में वज्रकपाल और खट्वांग हैं, दक्षिण (दायें) हाथ में कृष्णवज्र है, ध्वनि हुँकारोच्चारणात्मक है।। १५।।

यह हेरुक योग की चतुर्थ अवस्था का वर्णन है जहाँ चार हेवज्रों तथा उनकी नैरात्म्या का मंडल है। ये हेरुक नाथ श्मशान में गौरी आदि आठ योगनियों से परिवृत होकर खेलते हैं। "श्मशान में" कहने का तात्पर्य है कि वे सांस लेते हैं और शवों पर वसते हैं। परमानन्दमय होकर हेरुक की चार भुजायें चार मारों का विनाश करने वाली हैं। हूँ वर्ण से उसका जन्म हुआ है, उसका वर्ण और रूप पूर्ववत् है, उसकी प्रथम वायीं भुजा में देवों-असुरों के रक्त से भरा हुआ नरकपाल है, प्रथम दक्षिण (दायीं) भुजा में वज्र है, शेष दोनों भुजाओं में प्रज्ञा का आलिंगन है। वह प्रज्ञा वज्रवाराही है, भगवद् रूपिणी है, षड् भुजायें हैं, तीन मुख हैं। वायां मुख रक्तवर्ण का है, दायां अरुणिम चन्द्र जैसा है और प्रमुख मुख नीलवर्ण का है, षड् भुजायें षट् पारमिताओं की प्रतीक हैं। प्रथम वाम भुजा में त्रिशूल है, प्रथम दक्षिण भुजा में वज्र है, द्वितीय वाम भुजा में घण्टा है, द्वितीय दक्षिण भुजा में कैंची या चाकू है। शेष दो भुजाओं में वज्रश्रृंखला है। वह प्रज्ञा भगवान के समान है। उसके

वायें हाथ में चाकू और कपाल हैं। वह शव पर आरूढ है, जो त्रैधातुक संसार का प्रतीक है। यह वज्रश्रृंखला प्रज्ञात्मक है, नैरात्म्या है। उसका पांचवें अध्याय में वर्णन मिलता है। हेवज्र की विविध मुद्राओं में डोम्बी एक पूज्य देवी के रूप में यहां प्रस्थापित हुई है। यहां हेवज्र को तथागत बुद्ध के काय, वाक् और चित्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

४. देवताभिषेक पटल

अभिषेक का अर्थ है भावना की निष्पत्ति, ज्ञान रूप जल से सर्वावरण का परिक्षालन। इसमें देवता की मूर्ति स्थापित की जाती है। अपने हृदय में अपने बीज से किरण निकालकर कृष्ण दीप्ति से अंकुशाकार में त्रैलोक्य में व्याप्त बुद्धों को स्थापित कीजिए और उनकी अष्ट मातृकाओं से पूजा कीजिए "ओं अभिषिञ्चन्तु मां सर्वतथागता" कहकर। उन हेरुकाकार बुद्धों द्वारा पांच कलशों से मानो तुम्हारा अभिषेक किया जायेगा। ये पंचकलश पंच तथागतों के प्रतीक हैं। अभिषेक होने पर पुष्पवृष्टि होती है। दुन्दुभि शब्द होता है, कुंकुमवृष्टि होती है, रूपवज्रा, शब्दवज्रा, गन्धवज्रा, रसवज्रा, स्पर्शवज्रा, और अतिधर्मधातुवज्रा देवियों द्वारा पूजा की जाती है, और लोचना, मामकी, पाण्डरवासिनी और तारा वज्रगीति गाती हैं। अभिषिक्त होने पर परिवार का देवता आपके शिर पर आ जायेगा और हेरुक तुम में प्रगट होगा। तदर्थ तुम्हें प्रातः, मध्यान्ह और रात्रि में ध्यान करना चाहिए और देवता की मूर्ति स्थापित की जानी चाहिए।

५. तत्त्वपटल

तत्त्वतः न रूप है न दृष्टा है, न शब्द है, न श्रोता है, न गन्ध है, न घ्राता है, न रस है, न रसपायी है, न स्पर्श है, न स्पृष्टा है, न चित्त है, न चित्तिक है। प्रश्न उठता है - दिखने पर भी वह अदृश्य क्यों है? उत्तर है - स्वरूपतः उसका अस्तित्व न होने के कारण अदृश्य है, अकृत्रिम है, अनिरपेक्ष्य है, निजरूप है इसलिए उसका अस्तित्व नहीं है क्योंकि वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है वह पदार्थ का उत्पादक नहीं होता। यदि उत्पत्ति के पूर्व पदार्थ का स्वभाव होता है तो आत्मसत्ता के लिए हेत्वन्तर की अपेक्षा नहीं रहती। पर हेत्वन्तर की अपेक्षा होती है। अतः पदार्थ निःस्वभाव होते हैं। यह बौद्ध तत्त्वदर्शन है जिसे **नागार्जुन** ने प्रस्थापित किया है। इसका **आध्यात्मिक योग** इस प्रकार है।।१।।

जो योगी होता है वह सदैव माता और बहिन का सम्मान करता है। उसी प्रकार इस तत्त्व को जानने वाला, नटी, रजकी, डोम्बी, चण्डाली, ब्राह्मणी, प्रज्ञा (नैरात्म्या) और उपाय (हे वज्र) का भी सम्मान करता है। इनसे वज्रसत्त्व के परिवार का कल्याण होता

है।।२।। इनकी सेवा प्रयत्न पूर्वक की जानी चाहिए जिससे किसी प्रकार का भेद न हो। गुप्त प्रयत्न प्रगट हो जाने पर सर्प, चोर, अग्नि आदि जन्य दुःखों से व्यक्ति अभिभूत हो जायेगा।। ५।। मुक्ति प्राप्त करने के लिए मुद्रायें धारण करनी पडती हैं जो पंच कुलात्मक हैं। ये मुद्रायें वज्रांकित होती हैं। वज्र अद्वय ज्ञानात्मक है, परमानन्दात्मक है ।। ४।। वज्र, पद्म, कर्म, तथागत और रत्न ये पांच उत्तम कुल हैं।। ५।।

ये क्रमशः रसना, स्पर्श, श्रवण, घ्राण, चक्षुविज्ञान तथा सर्वधर्मशून्यता के प्रतीक हैं। ये पांच **मुद्रायें** हैं - वज्र के लिए डोम्बी, पद्म के लिए नर्ती, कर्म के लिए रजकी, तथागत के लिए ब्राह्मणी और रत्न के लिए चाण्डालिनी। इन्हें तथागत के परिवार के नाम से जाना जाता है।। ६-७।। जो तथता में प्रवेश करता है, पुण्य ज्ञानसंभारसे युक्त होकर और जगत के हित के लिए प्रभास्वर से युक्त होकर वापिस आता है वह तथागत कहलाता है।। ८।। तथागत के **कुल** छह हैं - चित्त (अक्षोभ्य), शाश्वत (वैरोचन), रत्नेश (रत्नसंभव), वागीश (अमिताभ), अमोघ (अमोघ सिद्धि) और सात्त्विक (वज्रसत्त्व) । वज्रसत्त्व को छोडने पर संक्षेपतः उनकी संख्या पांच हो गई। और अमोघसिद्धि को वैरोचन में और रत्नसंभव को अमिताभ में गर्भित करने पर वह फिर तीन (अक्षोभ्य, वैरोचन और अमिताभ) ही रह गई। हेवज्र अक्षोभ्य का ही रूप है जिससे हमारा तन्त्र उदभूत हुआ है। तीनों तथागत काय, वाक् और चित्त का प्रतिनिधित्व करते हैं।। ९।। पूर्वोक्त पांच **परिवार** पंच तत्त्वों अथवा पंचस्कन्धों से संबद्ध हैं। परमार्थतः न भावक है, न भावना है और न भाव्य है निष्प्रपञ्च स्वभावी होने के कारण। मन्त्र और देव का योग भी ऐसे ही हो गया। वैरोचन, अक्षोभ्य, अमोघ, रत्न, आरोलिक (अमिताभ) और सात्त्विक का यह योग क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सर्व, विबुद्ध और तत्त्व के रूप में ज्ञातव्य है।। १२।। निर्वाण और ज्ञान प्राप्त करने के कारण उसे ब्रह्मा कहा जाता, सर्व व्यापक होने के कारण विष्णु, सदैव कल्याणक होने के कारण शिव, सर्वस्थित होने के कारण सर्व,, सुखात्मक होने के कारण तत्त्व, और बोधात्मक होने के कारण विबुद्ध कहा जाता है।इसी तरह देह में रहने के कारण वह देवता है।। १३-१४।। छह प्रकार के ऐश्वर्य (ईशत्व, सौन्दर्य, कीर्ति, संपदा, ज्ञान और बल) से युक्त होने के कारण अथवा क्लेशादि मारों का भंजक होने के कारण "भगवान्" कहा जाता है। सभी सत्त्वों को रंजत करने के कारण "रजकी", गुणों का दोहन करने के कारण "दुहिता", चंचल होने के कारण "नर्तकी" और अस्पर्शा होने के कारण "डोम्बी" कहा जाता है। मन्त्र (वाक्) स्वर (आलि) और व्यंजन (कालि) का प्रजल्पक सामुदायिक रूप है। उसे जप कहा जाता है। मण्डल पादलेख है जो मलने से उत्पन्न होता है। मुद्रा का तात्पर्य है हाथ का स्फोटन तथा एक अंगुलि का दूसरी अंगुलि पर दबाव। हमारा विचार हमारा ध्यान है। जो सुख पिता (वज्रधर) में है, स्वयं में है और मृत्यु में है वह सुख ध्यान है।। १६-२१।।

६. चर्यापटल

इस अध्याय में योगी की **चर्या** का वर्णन किया जायेगा। यह चर्या हेवज्र की सिद्धि में कारण होगी। इसमें योगी अपने कानों में दिव्य कुण्डल (अस्थि से बने) शिर पर चक्री, हाथों में वलय, कटि में मेखला, पैरों में नूपुर, बाहुओं में केयूर (भुजदण्ड), ग्रीवा में अस्थि-मालिका, भेष में व्याघ्रचर्म और भोजन में पंचामृत ग्रहण-धारण करे। हेरुकयोगी को पंच वर्णों, जातियों या परिवारों में बिहार करना चाहिए (१४) इन पांचों वर्णों के समूहात्मक रूप को एक वर्ण की ही कल्पना की जाती है। पंचवर्ण का सम्बन्ध निम्नजाति से भी हो सकता है। उसे उनमें कोई भेद दिखाई नहीं देता। भिन्न जातीय होने पर भी सजातीय समान आकृतिवान् होते हैं।। ५।।

ध्यान यदि किसी श्मशान में अथवा मातृगृह में, अथवा एक वृक्ष के नीचे अथवा रमणीय स्थान में अथवा अन्य किसी निर्जन स्थान में किया जाये तो वह शुभ होता है।। ६।। जब कुछ ऊष्मा [१] (समाधिज प्रभाव) प्राप्त हो जाये और यदि साधक पूर्णजा (महामुद्रा सिद्धि) प्राप्त करना चाहे तो उसे चर्या के लिए आगे बढना चाहिए। इस महामुद्रा सिद्धि के लिए वज्र परिवार की एक **वज्रकन्या** ग्रहण करे जो उत्तम आकृति वाली हो, विशाल नेत्रों वाली हो, रूप और यौवन से मण्डित हो, नीलोत्पल जेसी श्यामवर्णा हो, स्वाभिषिक्ता [२] हो और कृपावती हो। उसके साथ ध्यान साधना प्रारंभ करे। यदि वज्रकुलोत्पन्न न मिले तो इष्टकुलोत्पन्ना अथवा अन्य कुलोत्पन्ना वज्रकन्या को भी ग्रहण किया जा सकता है पर उसे बोधिबीज, अभिषेकादि से संस्कृत कर लेना चाहिए (८-९)।

यदि आनन्द से **गीत** गाये तो वज्र-गीत गाये (लोक गीत न हों), यदि नृत्य करे तो मोक्षहेतु से हेवज्रपदों [३] में नृत्य करे।। १०।। योगी द्वेषविशुद्धि (हेवज्र विशुद्धि) से ये वस्तु प्रतीकात्मक रूप में धारण करे - चक्र को अक्षोभ्य के रूप में, कुण्डल को अमिताभ के प्रतीक में, कण्ठमाला को रत्नेश के रूप में और हस्तमण्डल को वैरोचन के रूप में ग्रहण करे। इसी तरह मेखला को अमोघ के रूप में, खट्वांग को प्रज्ञा के रूप में और डमरू को उपाय के रूप में धारण करे।। ११-१२।। इसमें गीत, मन्त्र व नृत्य ध्यान

---

१. यह ऊष्मा-प्राप्ति योग की प्रथम उपलब्धि है। योग में चार उपलब्धियों का वर्णन आता है - ऊष्मगत, मूर्ध, क्षान्ति, और लौकिकाग्रधर्म - अभिसमयालंकार १, पृ. ५८।

२. जो योगी की प्रकृति के अनुकूल हो, योगी उसका आलिंगन करे, तब योगी की पवित्रता से वह भी अभिषिक्त हो जाती है।

३. योगरत्नमाला में हेवज्रपद ये हैं - आलीड, प्रत्यालीड, मण्डल, समपाद, अर्धपाद आदि।

का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः योगी को गीत और नृत्य का उपयोग सदैव करते रहना चाहिए। उसे हमेशा जडी-बूटियां खाना चाहिए और पानी पीना चाहिए। इससे वहा जरा और मृत्यु पर विजय पा सकता है।। १३- १४।।

हूँभवी (हेवज्र स्वभावी) योगी चूडा (उद्‌बद्धकेश) को मुकुट रूप में बांधकर पंचबुद्धों के प्रतीक स्वरूप पांच कपालों को धारण करे (१५)। कपालों के पांच इंच लम्बे टुकडे कर मुकुट में धारण करे। और प्रज्ञा और उपाय के प्रतीक रूप में केश - रज्जु (कचडोरी) को दो भागों में विभक्तकर बांध ले। भस्म और पवित्र केश भी धारण कर ले।। १६।। डमरु का शब्द उसका जाप (Invocatin) है, प्रज्ञा खट्‌वांग की भावना (ध्यान) है। वज्रकपाल चर्या के लिए यह अपेक्षित है।। १७।। लोभ, मोह, भय, क्रोध, लज्जा, निद्रा, और स्वयं के जीवन की अपेक्षा को छोडकर निःसंदिग्ध होकर ही चर्या करे।।१८।। योग्य-अयोग्य पात्र का विचार न कर अपने शरीर का दान करके ही चर्या करे ।। १९।। जैसा भी भोजन और पान मिले, उसे भक्ष्य, अभक्ष्य, गम्य, अगम्य, अनिष्ट का विचार किये बिना ही ग्रहण करे (२०-२१)। सिद्धि प्राप्त हो जाने पर भी और ज्ञान का अवभास हो जाने पर यदि वह अवीचि नरक से मुक्त होना चाहता है तो शिष्य उसका स्वागत करता है।। २२।। शिक्षा, दीक्षा, लज्जा आदि से मुक्त होकर योगी महाकृपालु होकर भ्रमण करता है।। २३।। होम, त्याग, लज्जा, मन्त्र, ध्यान, समय, संवर आदि से विनिर्मुक्त होकर हेवज्रयोगी चर्या करे।। २४।। इन्द्र तुल्य भी यदि दैत्य उसके सामने आता है तो भी उसे भय नहीं होता क्योंकि वह सिंह के समान निर्भय होकर विचरण करता है ।। २५।। जगत के कल्याण के लिए वह सदैव महाकरुणा रस का पान करता है, उसी में उसे प्रीति होती है। वह अन्य प्रकार का मदिरादि पान नहीं करता। मोह योग में बाधक होता है।। २६।। ऐसा मोही योगी ही मद्यपान करता है। यथार्थ योगी मद्यपान नहीं करता।

७. छोमापीठ पटल

यहां हम छोमा अर्थात् **गुप्त भाषा** की व्याख्या करेंगे जहां भाई (योगी) निस्संदिग्ध रूप में अपनी बहन (योगिनी) की पहचान कर सकता है। यहां योगनियों के संकेत अभिसमय के सूचक होते हैं।

हेवज्रपिण्डार्थ टीका के अनुसार दो प्रकार के संकेत होते हैं - कायिक और वाचिक। हेवज्रयोगी और योगिनी उन संकेतों का समुचित ज्ञान कर लेते हैं जिससे बाह्य तत्त्वों से वचा जा सके। इस अध्याय में मात्र कायिक संकेतों का वर्णन है। जो भी एक अंगुली दिखाये उसका संकेत है - क्या मेरा स्वागत है? दो अंगुलियाँ दिखाने का तात्पर्य

स्वागत है। वामाङ्गुष्ठ निपीडन कल्याणावस्था का सूचक है। अनामिका दिखाने पर कनिष्ठिका दिखाये और मध्यमा अंगुलि दिखाने पर तर्जनी दिखाये। अनामिका दिखाने पर ग्रीवा दिखाये और पट (चित्र) दिखाने पर उसे त्रिशूल दिखाये। यदि स्तन दिखाये तो उसे सीमान्तचक्र (केश) बताये। पृथ्वी दिखाने पर मुख दिखाये। भृकुटि दिखाने पर शिखा खोल दे। ललाट दिखाने पर पीठ दिखाये। पादतल (पैर) दिखाने पर नृत्य करे। इस तरह मुद्रा - प्रतिमुद्रा से संकेत किया जाता है।

इन पद्यों में आये शब्दों की एक और व्याख्या हो सकती है। 'सुस्वागतम्' में प्रयुक्त 'सु' का अर्थ शुक्र भी हो सकता है। तब अर्थ होगा - अंगुलियां दिखाने पर शुक्र का आकर्षण। 'क्षेम-मुद्राम्' आदि का संबन्ध 'आप कैसे हैं?' प्रश्न के उत्तर से है। 'वामांगुष्ठ' आदि में वामा का अर्थ प्रज्ञा और अंगुष्ठ का अर्थ वज्र भी है। अनामिका चतुर्थ अभिषेक की ओर संकेत कर रही है और मध्यमा गुरु अवधूति की ओर जिससे ललना ओर रसना नाडियों के बारे में ज़ानकारी प्राप्त करना प्रार्थित है। ग्रीवा-प्रदर्शन गुरु की ओर समर्पण का सूचक है। दो अंगुलियों के साथ पट्टि, प्रज्ञा और उपाय का संकेत करती है। त्रिशूल ललना, रसना और अवधूती की समन्वयात्मक अवस्था का प्रतीक है। स्तन प्रज्ञा और उपाय की अनुभूति की ओर संकेत करता है। मेदिनी सृष्टि चक्र का, चक्र प्रकृति-केन्द्र का, भ्रकुटि आनन्द-केन्द्र का और शिखामोक्षण निर्वाण-प्राप्ति-शिक्षण का संकेत करते हैं।

तब योगिनियां स्वागत में कहती हैं - कृपा कर बहुत अच्छा किया। यदि वे हाथ में माला दिखायें तो समझना चाहिए कि वे मिलने का निमन्त्रण दे रही हैं। यदि वे मालायें लेकर आगे बढें तो समझो कि वे उत्सव में भाग लेने का आह्वान कर रही हैं। तब योगिनियाँ जो भी कहें, सब कुछ करना चाहिए (१-९)।

वज्रगर्भ ने पूछा - मिलने के कौन-कौन से **स्थान** हैं? भगवान ने उत्तर दिया-पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, छन्दोह, उपछन्दोह, मेलापक, उपमेलापक, पीलव, उपपीलव, श्मशान और उपश्मशान। ये स्थान द्वादश भूमियों के संकेतक हैं - मुदिता, विमला, अर्चिष्मती, प्रभाकरी, सुदुर्जया, अभिमुखी (अभिमुक्ति), दूरंगमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघा, समन्तभद्रा, निरूपमा। कहीं-कहीं ज्ञानमती को जोडकर तेरह भूमियों का उल्लेख है। इसी तरह वामा प्रज्ञा का, अंगुष्ठ वज्र का, अनामिका प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का प्रतीक है। त्रिशूल से प्रज्ञोपाय, स्तन से अनुभव, सीमान्त से महासुख, मेदिनी से निर्माणचक्र, चक्र से धर्मचक्र, भृकुटि से संभोगचक्र का संकेत समझना चाहिए (१०-११)।

वज्रगर्भ के पूछने पर भगवान ने कहा - पीठादि मेलापक स्थान इस प्रकार हैं - जालन्धर, ओड्डियान, पौर्णगिरि (पुल्लि-मलय), कामरूप ये पीठ हैं। मालव, सिन्धु, और नगर (पाटलिपुत्र), ये उपपीठ हैं। देवीकोट, मुन्मुनि, कर्मारपाटक और कारुण्यपाटक ये क्षेत्र हैं। कुलता, हिमाद्रि, अर्बुद, गोदावरी ये उपक्षेत्र हैं। लवणसागर के मध्य हरिकेल, लंपाक, काञ्चिक, सौराष्ट्र, छन्दोह हैं। कलिंग, सुवर्णद्वीप और कोंकण उपछन्द हैं। पीलव ग्रामान्त और नगरान्त क्षेत्र हैं - जैसे चरित्र, कोशल और विन्ध्या कौमारपौरिका। उन्हीं के समीपवर्ती क्षेत्र हैं उपपीळन। जहां प्रेत एकत्रित होते हैं वे श्मशान हैं और उद्यान, वापिका और तीर उपश्मशान हैं।। १८।।

सभी प्राणियों के कल्याण के लिए योगिनियां कब एकत्रित होती हैं यह भी हेवज्रयोगिनी तन्त्र में निर्दिष्ट है। ये दिन हैं - कृष्णपक्ष की चतुर्दशी और अष्टमी। ये योगिनियां ऐसे व्यक्ति का मांसभक्षण करें जो फांसी पर लटकाया गया हो। (ध्वज), युद्ध में मारा गया हो, और जिसने सात बार मानव जन्म ग्रहण किया हो। ऐसे व्यक्ति का मारण कृपा पूर्वक होता है। कृपा के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता। बाह्य रूप से दुष्ट तत्त्वों को इसी तरह रोका जा सकता है।

यहां ध्वज और सप्तावर्त सांकेतिक शब्द है। ध्वज का अर्थ शस्त्रहत शव है जो बोधिचित्त का प्रतीक है - (ध्वज सालम्बनं चित्तं-यो.)। शस्त्रहत निःस्वभावीकरण का प्रतीक है। और चित्त का सप्तधा आवर्तन होता है तब वह शून्यता समाधि तक पहुंचता है, इसलिए सप्तावर्त कहा है। चार ब्रह्मविहारों की भावना करने से चित्त की रक्षा होती है।। १९-२२।। यहां यह स्पष्ट किया है कि यदि किसी की हत्या करना हो तो यह कृपा पूर्वक होना चाहिए।

भगवान हेवज्री दिन है और प्रज्ञा रात्रि है। यहां कोई भी कार्य अकार्य नहीं, कोई भी वस्तु अभक्ष्य नहीं, कुछ भी अचिन्त्य नहीं, और कुछ भी अवाच्य नहीं जो शुभ अथवा अशुभ हो।। २४।। जैसा स्वयं के विषय में सोचें वैसा ही अन्य सत्त्वों के विषय में भी सोचें। यही सोचकर योगात्मा खान-पान प्रारम्भ करे।। २५।। जो भी वह बोलता है और जो भी उससे शब्द निकलते हैं वे उसके लिए मन्त्र हैं और मुद्रा है जो **हेरुक** पद में स्थित हैं। "श्री" का अर्थ है अद्वय ज्ञान और "हे" का अर्थ है सर्वधर्म शून्यता। "रु" का सम्बन्ध वितर्कमुक्त अवस्था से है और "क" अप्रतिष्ठित स्थिति सूचक निर्वाण के लिए प्रयुक्त है। योगी-योगिनियों के द्वारा जिन-जिन प्राणियों का मांस खाया जाता है

वे सभी प्राणी वज्र-कपाल के योग से उनके वश में हो जाते हैं। यहां **हेरुक** उपर्युक्त चार विमोक्षों का संकेत करता है। वज्र का अर्थ है हेवज्र। **कपाल** का अर्थ है - कं(अर्थात् आशीर्वाद), पालयतीति अर्थात् जो आशीर्वाद की रक्षा करता है। यहां कपाल का संकेत नैरात्म्य की ओर है। वज्रकपाल योग का अर्थ है- करुणा और शून्यता का योग।

८. योगिनीचक्र पटल

योगिनिचक्र का तात्पर्य है **नैरात्म्यचक्र** (मोक्ष)। वह दो प्रकार का है - आधार मण्डल और आधेय मण्डल। आकाश धातु के मध्य त्रिकोणात्मक भग (योनि) का ध्यान करे जो सभी पदार्थों का उत्पत्ति स्थान है। सर्वप्रथम चक्र का यथाक्रम ध्यान करे जो चार पदार्थों से संबद्ध है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। इनका प्रतिनिधित्व लं, वं, रं, और यं वर्ण से होता है। ये चारों क्रमशः चार देवियों को संकेतित करते हैं - लोचना, मामकी, पाण्डरा, और तारा। मण्डल के दो भाग होते हैं - प्रथम भाग कमल के अष्टपत्रों से निर्मित है और द्वितीय त्रिकोणात्मक। उसके मध्य मृतक (शव) आसन का चिन्तन करे जो पन्द्रह योगिनियों का आसन है। उसके ऊपर चन्द्र, और चन्द्र के ऊपर बीजक उसके ऊपर सूर्य मण्डल। चन्द्र और सूर्य मण्डल प्रज्ञोपाय स्वभावी हैं। इनका योग महासुखद होता है। आलि और कालि क्रमशः चन्द्र और सूर्य का और दोनों का संयोग गौरी आदि देवियों का उद्भावक है। चन्द्र दर्पण के समान ज्ञानवान् है, सूर्य समतावान् है। बीजों और चिन्हों से अपने इष्टदेव का ज्ञान प्रत्यवेक्षण है, सभी का योग अनुष्ठान है, और देवता देह की निष्पत्ति धर्मधातु ज्ञान है। ये पांचों ज्ञान पंच तथागतों के स्वभाव के दिग्दर्शक हैं।। १-७।।

साधक को इन पांचों का ध्यान करना चाहिए। आलि-कालि का समायोग (चन्द्र-सूर्य मण्डल) वज्रसत्त्व का आसन है। अक्षरोद्भव पिण्ड (मण्डलनायक) का हूंकार और फट्कार अपेक्षित नहीं है। साधक को सत्त्व बिम्ब से उद्भूत मण्डल (नैरात्म्य) का ध्यान करना चाहिए। (८-१०)।। पूर्ववत् मुख और चिन्हों से प्रकाशित तथा चन्द्रकान्त मणि जैसे कान्ति से संपन्न ये सभी देव प्रज्ञोपाय स्वभाव से भूषित होते हैं।। १०।। चन्द्र और सूर्य, आलि और कालि, प्रज्ञा और उपाय, गौरी और अन्य देवियां, ये सभी पृथक्-पृथक् वर्णों से उत्पन्न होते हैं (११)।

अध्यात्म मण्डल में इन पांच योगिनियों के आसन हैं जो पञ्च स्कन्धों के प्रतीक हैं - पूर्व (इन्द्र) में वज्र, दक्षिण में गौरी, पश्चिम में वज्रयोगिनि, उत्तर में

वज्रडाकिनी और मध्य में नैरात्म्या।। १३।। बाह्य मण्डल में गौरी, चौरी, वेताली, घस्मरी, पुक्कसी, शबरी, चण्डाली और डोम्बिनी ये आठ देवियां हैं। अधोभाग में खेचरी और ऊर्ध्वभाग में भूचरी हैं। ये दोनों देवियां संसार और निर्वाण का संकेत करती हैं।। १५।।

ये सभी देवियां कृष्णवर्णा और महारौद्राकृति संपन्ना हैं। वे पांच मुद्राओं से विभूषित हैं - एक मुख, लालवर्ण वाली दो आंखें, हाथ में कपाल और चाकू। चक्री, कुण्डल, कण्ठी, रुचक (कंगन) और मेखला ये पांच आभूषण पांच बुद्धों के स्वभाव के प्रतीक हैं। जैसी नैरात्म्ययोगिनी हैं वैसी ही ये सभी देवियां हैं। वे एक हाथ में कपाल और दायें हाथ में चाकू लिए हैं। वह बायें हाथ में खट्वांग, मेखला में व्याघ्रचर्म धारण कर शव पर आरूढ है, दीप्ति संपन्न है और उसके केश पिंगवर्ण हैं।। १६-१९।।

मान, अविद्या, संशय, काम, क्रोध, और मिथ्यादृष्टि इन छः दोषों को काटने के लिए चाकू अपनाया गया है । और भाव-अभाव के विकल्प को दूर करने के लिए कपाल का उपयोग किया गया है। उससे चार मारों का रक्तपान किया जाता है। खट्वांग शून्यता का प्रतिपादक है और शव उसका उपाय या साधन है। यदि योगी इस प्रकार से चक्र की भावना करता है तो वह सिद्धि को शीघ्र प्राप्त कर लेता है। उसे सहज ही छः प्रकार से भावना करनी चाहिए - कृष्ण, रक्त, पीत, हरित, नील और शुक्त वर्ण। तब वह विरमान्त (निर्वाण) स्थिति को प्राप्त कर लेता है जो सहजानन्दमात्र है। ये रंग छ तथागतों के संकेतक हैं। यह षडंग योग समाधि की उत्पत्ति का क्रम है। अब उत्पन्नक्रम का वर्णन प्रस्तुत है।। २०-२४।। इन दोनों क्रमों का आश्रय लेकर वज्रि बुद्धों की धर्मदेशना हुई है।

आकाश धातु में त्रिकोणात्मक भग है और कमल में ज्ञान संनिहित है। भावना (ध्यान) की प्राप्ति ही **महासुख** है। वही चक्र है। वह महासुख यथान्याय है, स्वसंवेद्य है, बोधिचित्त है, देवता है, ग्राह्य-ग्राहक की अपेक्षा किये बिना यथार्थ में उदय होने वाला है, चन्द्र के समन शुक्र है। इस प्रकार सहज दो प्रकार का है। प्रज्ञा योषिद (स्त्री) है, पुरुष उपाय है। इसके बाद इनके दो भेद हो जाते हैं - विवृति (महासुख) और संवृति (यथोदय)। मनुष्य में दो प्रकार का स्वभाव है - शुक्र (संवृति - relative), और सुख (विवृति - absolute)। प्रज्ञा रूप स्त्री में भी ये दोनों स्वभाव हैं।। २०-२९।।

यहां **आनन्द** चार प्रकार का है, तदनुरूप सहज भी चार प्रकार का है। प्रथम आनन्द योगिन् है, परमानन्द योगिनी है, सुरतानन्द समस्त रूप (एकत्रित - आलिंगन)

है और सुखोपाय सर्वज्ञ है। वह सर्वज्ञ वज्रधर है। इसका उत्पत्तिक्रम इस प्रकार है - आनन्द में किञ्चित् सुख है, परमानन्द्र में उससे अधिक सुख है, विरमानन्द में विरागावस्था आ जाती है और सहजानन्द अन्तिम है। प्रथम स्पर्श की इच्छा से होता है, द्वितीय सुख की इच्छा से और तृतीय रागनाश की इच्छा से होता है। ये तीनों मोक्षावाहक नहीं है। चतुर्थ मोक्षावाहक है। अतः उसकी भावना करनी चाहिए। परमानन्द को भव कहा गया है, विराग को निर्वाण माना गया है, आनन्द मात्र को मध्य माना गया है। सहजानन्द इन तीनों से पृथक् है। क्योंकि वहां न राग है, न विराग है और न मध्यमावस्था है।। ३०-३४।।

सहजानन्द में न प्रज्ञा है और न उपाय है क्योंकि उसमें तत्त्व का सम्यक् बोध होता है। वह न गुरु वज्रधर आदि द्वारा कहा गया है और न किसी चक्र चतुष्टय में प्राप्य है, वह तो स्वसंवेद्य है, पुण्य से ज्ञातव्य है और गुरुसेवा से प्राप्तव्य है। भावना की परिनिष्पत्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। जिसने इसकी भावना कर ली उसे हीन, मध्यम और उत्कृष्ट सभी प्रकार के सुख समान हो जाते हैं। हीन सूक्ष्मपदार्थ है - चित्त-चैत्त है। भाव (स्वदेह, पर्वत आदि उत्कृष्ट हैं, मध्यम (पात्र, वस्त्र आदि) इन दोनों से वर्जित हैं और षडिन्द्रियां अन्य हैं। स्थिर अथवा चल जो भी ये सब पदार्थ हैं वे "मैं" (अहं) हैं, अभिन्न स्वभाव वाले हैं, समरस होने वालों को समान हैं, एकरस है, महासुख लक्षण रूप सहज है। सम का अर्थ तुल्य है और उसका चक्र रस है। अतः समरस एकभाव होने का अर्थ द्योतित करता है।। २५-४०।।

समस्त संसार मुझ में विद्यमान है, त्रिलोक मुझमें उत्पन्न होता है, यह सब मुझ में व्यापक है, मेरे अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं है। यह सोचकर जो योगी सुसमाहित हो जाता है वह मन्दपुण्यवान् होने पर भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। महामुद्रा को प्राप्त करने का इच्छुक खान, पान, स्नान आदि में सुप्तावस्था में भी सतत् जाग्रत रहता है। सारा संसार मन से अथवा विकल्प ज्ञान से भावना करता है, यदि विकल्प न करे तो वह भावना नहीं कर सकता, सर्वधर्म का परिज्ञान रूप भावना नहीं है। वे सारे तत्त्व चाहे स्थिर हों या चल हों, तृण हों या गुल्म लता आदि हों, परम तत्त्व के रूप में भावित होते हैं, आत्मभाव स्वरूपक होते हैं। उनमें दूसरे के बिना एक है स्वसंवेद्य महासुख। **स्वसंवेदन** से ही सिद्धि होती है और स्वसंवेदन ही भावना है। कर्म स्वसंवेद्यमय होता है, स्वसंवेदन के न होने से कर्म उत्पन्न होता है।

अतएव वह स्वयं कर्ता है, स्वयं हर्ता है, स्वयं राजा है और स्वयं प्रभू है। राग, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, मान में से कोई भी भाव स्वसंवेदन के सोलहवें भाग के भी बराबर नहीं है (४१-४८)।

यह स्वसंवेदन (स्वानुभूति) धर्मधातु है, ज्ञान है, आकाश के समान है, और उपाय युक्त है। प्रज्ञोपायात्मक होने के कारण त्रिलोक (महावज्रधर) की उत्पत्ति यहाँ होती है। भगवान (उपाय) शुक्राकार हैं और कामिनि (प्रज्ञा) सुख रूप है। ये दोनों स्वसंवेदज हैं। वह (उपाय) एक और अनेक के विचार से मुक्त है, निःस्वभाव है क्षणजन्य है। वह सर्वधर्मशून्यता भावनीय है। यह स्वसंवेद्यज्ञान वचनातीत है, सर्वज्ञ ज्ञानमय है। इसका अधिष्ठानक्रम इस प्रकार है। स्व-पर संवेदन ज्ञान में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश किसी भी तरह बाधक नहीं बनते। वह सभी के अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न भाव को जान जाता है। वह क्षणभर में स्वर्ग, मर्त्य, पाताल से एक स्वभाव (ज्ञायक) हो जाता है, उसमें उसे कोई बाधा नहीं होती (४९-५३)।

समस्त वेदों और पुराण आदियों से क्रियातन्त्रादि की सिद्धि नहीं होती। उसकी सिद्धि होती है पुनर्जन्म में स्वयं के क्लेशावरणक्षय से । हेवज्र को न जानने वाला साधक इस शुद्धि को न इस जन्म में प्राप्त कर पाता है और न परलोक में। उसे नदी-स्रोत के प्रवाह के समान, दीप-ज्योति के समान सतत रात-दिन सहजानन्दयोग में लगा रहना चाहिए (५४-५६)।

९. विशुद्धिपटल

सभी पदार्थों की **विशुद्धि** (सर्वधर्मशून्यता) को स्पष्ट करने के बाद अब वज्रगौरी आदि देवताओं की कैसे विशुद्धि होती है, इसे कहेंगे। छ इन्द्रियां और उनके विषय, पंचस्कन्ध और पंचभूत स्वभावतः विशुद्ध हैं पर वे अज्ञान (ज्ञेयावरण) के कारण रागादि क्लेशों से आवृत हैं। उनकी शुद्धि स्वसंवेद्यात्मक होती है, अन्य किसी कारण से उनकी शुद्धि नहीं होती। यह स्वसंवेद्य सुख स्वसंवेदन से ही उत्पन्न होता है। पंचेन्द्रियों के और भी जो बाह्य रूपादि विषय हैं जो योगिन् को प्रतिभासित होते हैं वे सभी शुद्ध स्वभाव वाले हैं क्योंकि सचराचर जगत सहजमय है। पर जो रूप अशुद्ध हैं वे ग्राह्य-ग्राहक भाव के कारण अशुद्ध हैं। रूप चक्षु द्वारा ग्राह्य है, शब्द कर्ण द्वारा सुना जाता है, गन्ध, नासिका द्वारा और स्वाद जिह्वा द्वारा ग्रहण किया जाता है, स्पर्श काय द्वारा और सुख

मन द्वारा प्राप्त किया जाता है। ये सेवितव्य हैं। इनका सेवन निर्विषयी होकर शुद्धि पूर्वक होना चाहिए।(१-७)। रूप स्कन्ध को जानकर वज्रा की शुद्धि होती है, वेदना में गौरी की, संज्ञा में वारियोगिनी की, संस्कार में वज्र-डाकिनी की और विज्ञान में नैरात्म्या की शुद्धि होती है। यह **अध्यात्ममण्डल** है। इनकी शुद्धि से योगी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है(८-९)। **बाह्य मण्डल** इस प्रकार है - उत्तर-पूर्व में पुक्कसी, दक्षिण-पूर्व में शबरी, दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य) में चण्डाली, उत्तर-पश्चिम में डोम्बिनी, पूर्व में गौरी, दक्षिण में चौरी, पश्चिम में वेताली, उत्तर में घस्मरी, नीचे भूचरी जो संसार का प्रतिनिधित्व करता है, ऊर्ध्व में खेचरी जो निर्वाण का प्रतिनिधित्व करता है। यह इनका उत्पत्तिक्रम है।। ११-१२।।

गौरी रूप में है, चौरी शब्द में है, वेताली गन्ध में है, घस्मरी रस में है, भूचरी स्पर्श में है, खेचरी धर्मधातु (मन) में है। इनकी विशुद्धि से योगी तथता को प्राप्त कर लेता है। षोडश भुजाओं की शूद्धि से षोडश शून्य तत्त्वों की शुद्धि होती है। - ये १६ **तत्त्वशून्यता** हैं - अध्यात्मशून्यता, बहिर्धा, अध्यात्म-बहिर्धा, महाशून्यता, शून्यताशून्यता, परमार्थशून्यता, संस्कृत, असंस्कृत, अत्यन्यता, अनवराग्रता, अनवकार, स्वलक्षण, प्रकृति, सर्वधर्म, अभाव और अभावस्वभावशून्यता। चार चरणों से चार मारों की शुद्धि होती है - स्कन्धमार(ब्रह्मा), क्लेशमार(यक्ष), मृत्युमार(यम), और देवपुत्रमार (इन्द्र)। मुखों से आठ की शुद्धि होती है। नेत्र से शरीर, वचन और मन की शुद्धि होती है। पृथ्वी पुक्कसी के लिए, शवरी जल के लिए, चण्डालिनी तेज के लिए, डोम्बी वायु के लिए है। नैरात्म्या द्वेष से, वारयोगिनी राग से, वज्रडाकिनी ईर्ष्या से, गुप्तगौरिका पैशून्य से, वज्रा मोह से व्याप्त है। इनकी शुद्धि होना चाहिए। उत्पत्तिक्रम से इन स्कन्धों की शुद्धि होती है। संसार जिस कारण से बंधता है, उसी कारण से छूटता है। परन्तु संसार मोह से ग्रस्त है। वह सत्य तक नहीं पहुंच पाता। जो सत्य तक नहीं पहुंच पाता वह पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिए कहा गया है - 'न गन्ध, न शब्द, न रूप, न रस, न चित्तविशुद्धि, न स्पर्श, न धर्म (पदार्थ) परमार्थतः है। सारा जगत विशुद्ध है, सर्वधर्मशून्य है। ऐसा मैं मानता हूँ।'

१०. अभिषेक पटल

शिष्य का **अभिषेक** यथाविधि होना चाहिए। सर्वप्रथम देवतात्मक योगी को भूमि का शोधन करना चाहिए। शोधित और सुरक्षित कर (हूंवज्रीकृत्य) **मण्डल** बनाना चाहिए। यह मण्डल उद्यान में या निर्जन प्रदेश में या बोधिसत्त्व के घर में या मण्डलागार में हो। मण्डल का लेखन दिव्य रंगों से, अथवा पंचरत्नमय चूर्ण से अथवा तण्डुलादि से होना चाहिए। वह तीन हाथ और तीन अंगुष्ठ प्रमाण हो। उसमें पंचकुलोत्पन्ना देवी को प्रविष्ट किया जाये। अथवा षोडशवर्षीया कन्या को तब तक नियोजित करे जबतक वह शुक्रवती रहे। मुद्रा (प्रज्ञा) और उपाय का मुख बांधकर सेवा से उसके शुक्र की एक बूंद शिष्य के मुंह में डाले। यह शिष्यगोचर समरसता (प्रज्ञाभिषेक) है।। १-७।।

इस समरसता से स्व-पर भेद वर्जित स्वसंवेद्यज्ञान होता है, यह **स्वसंवेदन ज्ञान** आकाश के समान शुद्ध और शून्य है, भावाभावात्मक है, परमार्थ रूप है, प्रज्ञा और उपाय से मिश्रित है, राग (परमानन्द) और अराग (विरमानन्द) से युक्त है, प्राणियों के लिए प्राणस्वरूप है, धर्मधातु होने के कारण अनादिनिधन है, सर्वव्यापक है, देवव्यापक है, विज्ञानाधिष्ठित होने के कारण उसी से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, शरीर (भाव), वेदनादि (अभाव), तथा इन्द्रियां आदि इसी से उत्पन्न होती हैं। तीर्थिक उसी को "आत्मा" कहते हैं, वेदान्तवादी विज्ञान कहते हैं, सांख्य चिद्ररूप पुरुष कहते हैं, पुद्गलवादी पुद्गल कहते हैं, सिद्धान्तवादी नित्य जगत्कर्ता ईश्वर कहते हैं, आत्मवादी आत्मा कहते हैं जो मरता और उत्पन्न होता है, दिगम्बर जैन जीव कहते हैं, सत्त्ववादी सत्त्व कहते हैं, कालवादी काल कहते हैं। यह सभी पदार्थों में स्वभावतः विद्यमान है जो माया रूप में रहता है।। ८-१२।।

प्रथम स्वसंवेदन ज्ञान आनन्दमात्र है, द्वितीय द्विगुणित परमानन्द रूप है, तृतीय विरमानन्द रूप है और चतुर्थ सहजानन्द रूप है। आनन्द परमानन्द और विरमानन्द तीनों जगद्रूप हैं। इन तीनों में सहजानन्द नहीं रहता। कमल-कुलिश के योग से आनन्द मात्र साधारण है, गुरूपदेश से गुह्यमणि द्वारा संवेदन होने से परमानन्द उत्कृष्ट कोटि का है, विरमानन्द प्रज्ञाभिषेक है ओर सहजानन्द को चतुर्थाभिषेक कहा जाता है। उसका अप्रतिष्ठित निर्वाणधातु के रूप में संवेदन होता है। यह सुनकर वज्रगर्भ आदि सभी बुद्ध मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडे। आश्चर्य पूर्वक संगीत में समरस हो जाने के कारण प्रथमानन्द जगद्वेद्य है, परमानन्द संवृतिसत्यात्मक है, विरमानन्द भी सूक्ष्मचित्त-प्रतिवेद्यात्मक होने के कारण संवृतिसत्य द्वारा ही ज्ञेय है। पर चतुर्थानन्द त्रिलोक में अनुपम है जो संबोधि का कारण है।। १५।।

सभी बुद्धों के सामुदायिक स्वरूप भगवान हेवज्र ने कहा कि यह सहजानन्दजन्य आश्चर्य संशय को दूर करेगा और वज्रगर्भ की बोधि के लिए कारण बनेगा। न यहां राग है, न विराग है, न इन दोनों की मध्यावस्था है। इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त चतुर्थावस्था **सहजबोधि** है। वह सर्वात्मक है, सभी से मुक्त है, प्रथम तीनों आनन्दों से वर्जित है। प्रथम मेघ के समान है, द्वितीय माया के समान है, तृतीय स्वप्नवत् प्रतीत होती है और चतुर्थ स्वप्न से जाग्रत हो जाना है। यह चतुर्थावस्था अभेदात्मक है जो मुद्रायोगी को प्राप्त होती है। इस प्रकार शास्ता वज्रधर ने मण्डल के विषय में कहा जिससे चतुष्कोण समुज्ज्वलित हो उठे।। १५-२०।।

यह चतुष्कोण दीप्ति संपन्न चार द्वार वाला है, हार-अर्धहार से भूषित है, मालाओं और विचित्र चामरों से युक्त है, आठ स्तम्भों से शोभित है, वज्रसूत्रों से युक्त है, विविध पुष्पों से अलंकृत है, धूप-दीप-गन्ध से परिपुष्ट है, आठ कलशों से शोभित है, उनकी ग्रीवायें वस्त्राच्छादित हैं, प्रवाल-मुक्ता-राजावर्त-स्वर्ण-रूप्य इन पांच रत्नों से शोभित हैं। साधक पूर्वदिशा में विजय के रूप में कलश रखे, उसे वह नये रक्तवर्ण धागे से बांध दे जो उसके इष्टदेव का प्रतीक है। तब वह चक्रेश का एक लाख जप करे, अन्य मण्डल को दस हजार बार जपे और पूर्वोक्त मन्त्र से पृथ्वी का शोधन करे। मन्त्र है- ओं आः हू फट् स्वाहा। अकारादि मन्त्र से पहले बलि दे, पश्चात् उसकी रक्षा करे, मण्डल को संस्कारित करे, पूजा-अभ्यर्थना करे, उस पर गौरी आदि के लिए दो चक्र बनाये, पूर्वदिशा में चाकू का आलेख करे और उसके बाद शेष सभी दिशाओं में भी उसे यथारीति लिखे। इसके बाद साधक दो भुजाओं वाले हेवज्र के योग से मण्डल में प्रवेश करे और वज्रसत्व का रूप धारण कर आलीढ आसन ग्रहण करे। स्नात, पवित्र, सुगंधित शरीरवाला, विचित्र आभूषणों से आभूषित वह "हूँ हूँ" और "ही ही" चिल्लाकर भयानक आवाज करे।। २०-३२।।

पश्चात् विशुद्ध ज्ञानरूप तत्त्व स्पष्ट हो जाता है फलतः संसार और निर्वाण में कोई भेद नहीं रहता। प्रभास्वरलक्षणात्मक परम प्रज्ञा के उत्पन्न हो जाने पर न कोई भाव रहता है न भावक (चित्त), न शरीर, न ग्राह्य, न ग्राहक, न मांस, न शोणित, न मल, न मूत्र, न राग, न मोह, न ईर्ष्या, न पैशून्य, न मान, न दृश्य, न भाव, न भावक, न मित्र, न शत्रु। सभी विकल्प (तरंग) समाप्त हो जाते हैं और सहजानन्द प्रगट हो जाता है।। ३३-३४।।

तब वज्रगर्भ ने कहा पंचभूतात्मक शरीर कैसे उत्पन्न होता है? वह तो मूलतः शुद्ध है। डाकिनियों को सुख देने वाले हेवज्री ने उत्तर दिया - सभी शरीरों में निस्तरंग

आत्मा रहता है। वज्रगर्भ ने पूछा - महाभूत-स्कन्ध कैसे बाहर आता है? भगवान ने कहा- वज्र और कमल के योग से, उनके कठिन स्पर्श से पृथ्वी उत्पन्न होती है, शुक्र के प्रवाह से जल उत्पन्न होता है, घर्षण से तेज, गमन से वायु और सुख से आकाशधातु की उत्पत्ति होती है। यहां महाधातुओं में संमिलित होने के कारण सुख अन्तिम तत्त्व नहीं है। अन्तिम तत्त्व है **सहज स्वभाव** जो प्रज्ञा और उपाय से उत्पन्न होता है। योगी कृपा और उपाय से युक्त होता है और योगिनी प्रज्ञा (मुद्रा) और शून्यता से संबंधित होती है। योगिनी में कारण तत्त्व नहीं रहता। वहां योगी न मन्त्रजाप करता है, न तप, न होम करता है न मण्डल। वही मन्त्र जाप है, वही तप है, वही होम है और वही मण्डल है। इसी को समासतः चित्तसमाज रूपी कहा जाता है। यह चतुर्थ महामुद्रा अभिषेक है।। ३५-४१।।

११. चार दृष्टि पटल

प्राणियों को वश में करने के लिए और मंत्रों की सिद्धि के लिए चार **दृष्टियां** होती हैं - पातना, वश्या, आकृष्टि और स्तम्भना। सम, क्रूर और ललाट में प्रगट होने वाली दृष्टि पातना है, वामाश्रित दृष्टि वश्या है, दोनों पुतलियों को ऊपर करना और दक्षिण भाग में घुमाना आकृष्टि है और नासाग्र पर दोनों आंखों को केन्द्रित करना स्तम्भना है। पातना दृष्टि रेचक (उच्छ्वास) से, वश्यादृष्टि कुम्भक (निःश्वास) से, आकृष्टि पूरक से और स्तम्भना दृष्टि प्रशान्त होने से प्राप्त होती है। पातना स्निग्ध वृक्षों के बीच होनी चाहिए, वश्या का सम्बन्ध विकीर्ण पुष्पों से, आकृष्टि वज्रवृक्षों के बीच होनी चाहिए और स्तंभना प्रकम्पित तृणों में होनी चाहिए। अर्थात् ध्यान के माध्यम से इन चारों दृष्टियों का प्रयोग पहले वृक्षादि पर करे और बाद में अन्य स्थानों पर। छ माह के अभ्यास से यह शक्ति निःसंदेह प्राप्त हो जाती है। बुद्ध में अचिन्त्य शक्ति है। चारों दृष्टियां प्राप्त हो जाने पर योगी समस्त प्राणियों को निर्वाण प्राप्त कराये। ये शक्तियां प्राणियों को भयवीत करने के लिए हैं जिससे वे मिथ्यामार्ग में न भटक जायें। अतः यथार्थ में मारण आदि नहीं किया जाना चाहिए। अन्यथा यह सिद्धि का अतिक्रमण होगा। जो कार्य नहीं किये वे सभी कार्य संपन्न किये जाने चाहिए पर किसी भी प्राणी का प्रवञ्चन न हो। प्राणियों के अपकार के लिए मुद्रासिद्धि नहीं की जाती है ।। १-७।।

हेवज्र में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए योगी को निम्न **पांच अक्षरों** का भक्षण करना चाहिए - नट का आद्यक्षर "न", गौ का आद्यक्षर "ग", हस्ति का आद्यक्षर "ह", अश्व का अन्त्यक्षर "श्व" तथा श्वान (कुत्ता) का आद्यक्षर "श्व"। इन पांचों अक्षरों की पुटी बनाकर उन्हें शुद्धकर उदरस्थ कर लेना चाहिए। इससे बाह्य पूर्णता प्राप्त होती है। ये पांचों अक्षर पंचेन्द्रियों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार मुद्रा का -"मु", मांस का "म", विट् का "वि", रक्त

का "र" और शुक्र का "शु" वर्णों का भी भक्षण कर लेना चाहिए। इससे अध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होती है। इन पांचों को **पंचामृत** कहा जाता है। सात जन्मों तक यह करना चाहिए। सातवें जन्म में सहजानन्द की सिद्धि होगी। इससे योगी को सुस्वर, सुन्दर नेत्र, और सुगन्धित शरीर की प्राप्ति होगी। शुक्लपक्ष के अन्तिम दिन यदि उसे अपनी सात छाया दिखें तो "सिद्धि-प्राप्ति" मान लेनी चाहिए। मांस भक्षण मात्र से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाती है।। ८-११।।

अब बारह कल्पों में **कुरुकुल्ला** साधना का वर्णन किया जायेगा जिससे सभी प्राणी वश में किये जा सकते हैं। यह देवी "ह्रीः" अक्षर से उत्पन्न होती है, यह रक्तवर्णा है, इसकी चार भुजायें हैं जिनमें धनुष, बाण, तथा कमल और अंकुश हैं। इसकी भावना मात्र से त्रिलोक वशवर्ती हो जाता है। एक लाख बार जप करने से राजा दस हजार, पशु और यक्ष एक लाख, असुर सात लाख, देव बीस लाख और योगी सौ कम हो जाते हैं।

वज्रगर्भ संबोधि नामक प्रथम कल्प समाप्त

२. महातन्त्रराजमायाकल्प

१. होमनिर्णयप्रतिष्ठा पटल

वज्रगर्भ के पूछने पर भगवान ने आगम, मूर्ति आदि की प्रतिष्ठा का स्वरूप बताते हुए कहा - पटादिकों में देवताओं का अवस्थापन करना **प्रतिष्ठा** है। तदर्थ पूर्वोक्त प्रकार से होमकर **मण्डल** की रचनाकर रात्रि के अन्तिम प्रहर में मूर्तियां यथाविधि संस्कारित करे। उसके हृदय में सभी गगनस्थ बुद्धों को मन्त्र पूर्वक प्रतिष्ठित करे। मन्त्र है 'ओं वज्रपुष्पे आः हूँ स्वाहा' आदि। 'हूँ' कहकर पुष्प भेंट करे, **तत्त्वसंग्रह** आदि तन्त्रों के अनुसार अर्घ चढाये, अग्निको शान्ति प्राप्ति के लिए वर्तुल कुण्ड में रखे, प्रगति के लिए चतुष्कोण में रखे, मारण के लिए त्रिकोण में रखे। शान्ति के लिए वह कुण्ड एक हाथ चौडा और आधा हाथ गहरा हो, प्रगति के लिए उसकी चौडाई दो हाथ और ऊंचाई एक हाथ हो, मारण के लिए बीस अंगुल चौडा और दस अंगुल गहरा हो। इसी तरह उसका रंग शान्ति के लिए सफेद हो, प्रगति (पौष्टिक) के लिए पीला हो, मारण के लिए कृष्ण हो और वशीकरण के लिए लाल हो। शान्ति में तेल का, पुष्टि में दही का, मारण और द्वेषादि में कण्टकों का और वशी आकृष्टि आदि में कमल का उपयोग होता है। अग्नि को तेज करने के लिए "ओं" कहकर अग्नि-आवाहक मन्त्र पढा जाता है। वह महाशक्ति अग्नि सर्वसाधक है, प्राणियों पर कृपा करने वाली है, हे साक्षीभूत

देवी, क्रोध द्वारा पूजित हेवज्र , नाना रत्नों को धारण करने वाली, और पृथ्वी को धारण करने वाली हे अग्नि, यहां रहिए, मैं मण्डल बना रहा हूँ। इसके बाद अग्निसंतोषणमन्त्र पढा जायेगा। हे अग्नि! तुम हव्य भक्षण करने के लिए जाओ और यथासमय वापिस आकर मुझे सर्वसिद्धि प्रदान करो। अर्घमन्त्र, पाद्यमन्त्र और नैवेद्यमन्त्र भी पढे जाते हैं यहां।

२. सिद्धिनिर्णय पटल

वज्रगर्भ ने कहा - ये प्राणी कैसे **सिद्धि** प्राप्त करें जबकि वे आकाश के समान अपने आपको सभी पदार्थों के बीच पाते हैं और समुद्र में तुम्बिका के समान गुम जाते हैं? भगवान ने कहा - सिद्धि की इच्छा करने वाला साधक अपनी अन्तरात्मा को नैरात्म्या अथवा श्रीहेरुक से संबद्ध करे चित्त को एक भी क्षण अन्यत्र लाये बिना। प्रथमाभ्यासकाल में वह स्थान शुभ माना जाता है जहां योगी एक चित्त होकर समाहित हो जाये। प्राज्ञ योगी रात्रि में अपने घर में योगिनी अथवा **श्रीहेरुक** की आकृति का ध्यान करे। हर समय चाहे वह पादप्रक्षालन कर रहा हो, भोजन कर रहा हो, आचमन कर रहा हो, सुपाडी खा रहा हो, चन्दन से हाथ को मल रहा हो, कमर को कोपीन से आच्छादित कर रहा हो, बाहर जा रहा हो, बोल रहा हो, चल रहा हो, खडा हो रहा हो, क्रोधित हो रहा हो, हंस रहा हो, योगिनी का ध्यान करना चाहिए। रात्रि का ध्यान समाहितयोग है और अन्यकाल में उसे निरन्तरयोग कहा जाता है। एक क्षण भी उसका चित्त अविद्या से दूषित न हो। यह ध्यान पापनाशक होता है। इसके अतिरिक्त संसार में कोई भी साधन शीघ्र ही स्व-परार्थ सिद्धिकारक नहीं है। अतः अविच्छिन्न रूप से **ध्यान साधना** करो।। १-१०।।

योगी भय, उन्माद, दुःख, शोक, पीडा, राग, द्वेष, मोह आदि द्वारा बाधित नहीं होता। इस प्रकार हित, अहित फलोदय का विचार करते हुए योगी रौरव नरक में एक क्षण भी कैसे रह सकते हैं? पंच आनन्तर्य कर्म करने वाले, प्राणिवध करने वाले मूर्ख, क्रूरकर्मी कुरूप और अपंग व्यक्ति भी कुशल चिन्तन से सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, दश कुशल कर्म करने वाले, गुरुभक्त और जितेन्द्रिय, तथा मान क्रोधादि से विनिर्मुक्त योगी सतत् अभ्यास से सिद्धि लाभ कर लेते हैं। योगी एक माह तक गुप्त साधना तबतक करे जबतक उसे मुद्रा की प्राप्ति न हो। मुद्रा का लाभ हो जाने पर योगिनियों से उसे आदेश मिलता है - "हे वज्रधृक, अमुक अमुक मुद्रा ग्रहणकर प्राणियों का कल्याण करो।" विशाल नेत्र वाली, रूप-यौवन से मण्डित कन्या का संस्कार बोधिचित्त से करे, दश कुशल कर्मों से उसमें संस्कार जाग्रत करे। देवता रूप चित्त से युक्त एकचित्तता संपन्न वह कन्या एक माह में ही निःसंदेह योग्य हो जायेगी। सभी संकल्पों से मुक्त वह

कन्या वरदान पा लेती है। अपनी शक्ति से देवों, असुरों, यक्षों, मनुष्यों, किन्नरों में से उसे आकृष्ट कर मुद्रा की कल्पना करे और ग्रहणकर अपने धैर्य का अनुभव करने के लिए चर्या करे। यह चर्या जिसे भयंकर माना जाता है, भोग के लिए नहीं है बल्कि अपने चित्त की परीक्षा के लिए है कि वह कितना स्थिर है और कितना चंचल है।। ११-२२।।

वज्रगर्भ ने कहा - जो **नैरात्म्या** से संबद्ध है वह मुद्रा के अर्थ में कैसे अन्तर ला सकता है? मुद्रा-मुद्रा से मुद्रा-सिद्धि कैसे हो सकती है? भगवान ने उत्तर दिया - वह उसके स्त्रीरूप को छोडकर भगवान (हेवज्र) के अन्य रूप का ध्यान करे। उसके स्तनों का ध्यान छोडकर घण्टियों के बीच स्थित कमल वज्र को प्रकाशित करे। महात्मन् महाशक्ति संपन्न महारागमयी हेरुक का शेषरूप व्यक्ति के पुंसत्व रूप को सरलता से प्राप्त कर लेता है और तब योगी की मुद्रासिद्धि हो जाती है। उत्पत्ति और प्रलय से प्रज्ञा-उपाय बाधित नहीं होते क्योंकि उपाय उत्पत्ति है और प्रज्ञा विनाश तथा भवान्तकी है। इसलिए तत्त्वतः न प्रलय है और न उत्पत्ति। योगी उत्पत्तिक्रम के योग से प्रपञ्च की भावना करे और प्रपञ्च को स्वप्नवत् मानकर प्रपञ्चों से ही निष्प्रपञ्च हो जाये। माया, स्वप्न और अन्तराभव के समान मण्डल भी अभ्यास के योग से प्रकाशित होता है। महामुद्राभिषेकों में यथाज्ञात मण्डल को महासुख की उत्पत्ति होती है। महासुख की उत्पत्ति अन्यत्र कहीं से नहीं होती। यह महासुख कृष्ण है, पीत है, रक्त है, सफेद है, श्याम है, प्रज्ञा है, भाव है, वज्रसत्व है। टीकाकार ने उसे स्पष्ट किया है ।

जिस प्रकार आलयविज्ञानवादी आलयविज्ञान को जगत का बीजाधार मानते हैं उसी प्रकार प्रज्ञाभिषेक व निष्प्रपंच स्वरूप **महासुख** सर्वधर्मशून्यतात्मक है और मन्त्रयान में बौद्धधर्म का आधार है। वज्रसत्व में प्रज्ञा-उपाय का समायोग है, सत्व रूप बीज उसके गर्भ में है। संसार की उत्पत्ति उसीसे होती है।। २३-३३।।

बुद्ध ने वज्रगर्भ के उत्तर में कहा - इस महासुख का आधार है **देह**। सारा संसार सुख से व्याप्त है, व्याप्य-व्यापकभाव है। देहादिरूप और सुख में अविनाभाव सम्बन्ध है पुष्प और उसकी गन्ध के समान। मैं वस्तु के स्वरूप का ज्ञाता हूँ, बुद्ध हूँ, संभोग-निर्माण काय से भावाभावात्मक हूँ परन्तु मूढ मुझे नहीं जान पाते। मैं अमिताभ बुद्ध के सुखावती क्षेत्र में वज्रयोगिनी की एकार रूप योनि में शुक्ररूप में निवास करता हूँ। वह योनि बुद्ध रत्न की पिटारी स्वरूप है। उसके सुख से महासुख की प्राप्ति होती है। अतः मैं ही धर्म हूँ, मैं ही श्रोता हूँ, मैं ही साध्य हूँ, जगत का शास्ता हूँ,, लोक हूँ, लोकिक हूँ, सहजानन्द स्वभावी हूँ, परमानन्द रूप हूँ, आनन्द के बाद उत्पन्न होता हूँ, अन्धकार में प्रदीप के समान

हूँ, बत्तीस लक्षण और अस्सी अनुव्यंजनों से युक्त हूँ, भुजमुखाकारी हूँ, अरूपी हूँ।। ३४-४३।।

सारा **संसार** सहज स्वरूप है। चित्त-विशुद्धि हो जाने पर वही निर्वाण है। उत्पन्न होने पर देवतायोग रूप है, पूर्वकर्मों की वासना के फलस्वरूप भुज-मुख-वर्णवान् है।। ४४-४५।। जिस विष से लोग मरते हैं विषतत्वज्ञ उसी विष से उसे जीवनदान देते हैं। वातरोगी को सेम, उडद अथवा बरबटी दी जाती है और वात से वातरोग दूर हो जाता है। विपरीत औषधिदान से जैसे रोगशान्ति होती है वैसे ही देह सुख से महासुख मिलता है। जिस राग से लोक बंधता है उसी से वह मुक्त होता है। तीर्थिक बुद्ध इसे नहीं जानते। वज्रयान के प्रति उनके मन में द्वेष है। मण्डल चक्रभावना से यहां महामुद्रासिद्धि का निरूपण किया गया है।। ४६-५१।।

संयोग होने पर पञ्चमहाभूत एकरूप हो जाते हैं। उसी तरह उनके संयोग से महानन्द की उत्पत्ति होती है और उनके पृथक् हो जाने से पांचों से उत्पन्न होने वाला आनन्द भी पृथक् पृथक् हो जाता है। वज्र (बोल) और कमल (कक्कोल) के समायोग से काठिन्य की उत्पत्ति होती है। यह काठिन्य मोह है और मोह को वैरोचन कहा गया है। **बोधिचित्त** एक द्रव पदार्थ है जल के समान और जल द्वेषरूप है जिसे अक्षोभ्य माना गया है। दो पदार्थों के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती है और यह अग्नि राग है जो अमिताभ का रूप है। कमल में जो चित्त है वह समीरण रूप है जिससे ईर्ष्या उत्पन्न होती है। यह ईर्ष्या अमोघसिद्धि है। रक्त सुख और राग है, सुख की प्रकृति आकाश है, आकाश से पैशून्य की उत्पत्ति होती है और यह पैशून्य रत्नसंभव है जो पिशुनवज्र माना जाता है। महच्चित्त एक है पर वह पंचरूप में संस्थित है। वह पंचकुलों में विभक्त होता है और फिर वही हजारों कुलों में बंट जाता है। इसलिए यह महासुख नित्य और एकात्मक है पर रागादि भेद से पंचभेदात्मक हो जाता है। इन एक कुलों में दस गंगा नदियों की वालुका के बराबर तथागत संघ है परन्तु रागादि के भेद से वे पंचकुलों में विभक्त होते हैं।।५२-६१।।

३. हेवज्रसर्वतन्त्रनिदान - सन्ध्याभास पटल

इसके बाद वज्रधरने सभी तन्त्रों के आधारभूत **हेवज्रतन्त्र** को सम्यक संबोधि की प्राप्ति का साधन बताया और योगिनियों को संवर (महासुखज्ञान), अभिषेक, सन्ध्याभास (गुह्यभाषा), आनन्द क्षण तथा निष्प्रपञ्चतादि चर्या रूप कहा। संवर का अर्थ है सभी बुद्धों का संघात्मक रूप जो धर्मोदय मुद्रा में प्रतिष्ठित है। एवं का 'ए' प्रज्ञा और 'वं' उपाय का सूचक है। इसका ज्ञान अभिषेक (गुरूपदेश) से होता है (१-३)।

इसके बाद योगिनियों ने वज्रसत्त्व से कहा - क्या **'एवं'** डाकिनियों (आकाशचारी देवियों) का संघरूप है? इसे आप स्पष्ट समझाइये। बुद्ध ने कहा - 'ए' वर्ण 'वं' से अलंकृत है, महासुखों का आवास है, बुद्ध रूप रत्नों का पिटारा है (४)। वहां चारों प्रकार के आनन्द उत्पन्न होते हैं, आनन्द क्षणों का परिज्ञान होता है, क्षण-परिज्ञान से सुखज्ञान होता है। और यही एवंकार में प्रतिष्ठित है (५)। योगिनियां यह जानती हैं कि 'एवं' की उपलब्धि चार क्षणों से की जा सकती है - विचित्र, (विविध चातुर्य), विपाक (महासुखज्ञान का अनुभव), विमर्द (आलोचन का स्मरण) और विलक्षण (पूर्व का अवधारण) (६). विचित्र इसलिए है कि उसमें आलिंगन, चुम्बन आदि बहुत-सी क्रियायें होती हैं। विपाक इसके विपरीत है क्योंकि उसमें सुख-ज्ञान का अनुभव रहता है (७)। विमर्द इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि उस सुख का मैंने स्वयं अनुभव किया है। विलक्षण इन सभी से पृथक् है जिसमें न राग रहता है न द्वेष (८)। इन चारों क्षणों में क्रमशः प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द होता है (९)। ये चार आनन्द क्रमशः चार अभिषेकों से प्राप्त होते हैं - १) आचार्य जिससे अविद्या का विनाश होता है, २) गुह्य जो श्रावकों और प्रत्येक बुद्धों के लिए रहस्य बना रहता है, ३) प्रज्ञा जो चित्त विशुद्धिकारक है और ४) चतुर्थ अभिषेक जिसका सम्बन्ध वज्र और प्रज्ञा से है। ये अभिषेक क्रमशः स्मित, ईक्षण, आलिंगन और संमिलन अथवा समायोग का प्रतिनिधित्व करते हैं (११)। इन अभिषेकों से साधक पूर्णता की प्रप्ति की ओर बढते हैं। यहां अभिषेक का तात्पर्य है विशुद्धीकरण (१२)।

आचार्य अभिषेक में साधक षोडशवर्षवती **प्रज्ञा** को घण्टा और वज्र के समायोग से भुजाओं में आबद्ध करता है (३)। वह प्रज्ञा सुन्दर मुखाकृति वाली है, दीर्घ नेत्र वाली है, रूप-यौवन से मण्डित है। आचार्य अंगूठे और अनामिका से शिष्य के मुख में प्रज्ञा के बोधिचित्त (शुक्र) का बिन्दुपात करे (१४)। उसी प्रज्ञा में शिष्य के योग्य समरसता को प्रस्थापित करे। यह गुह्य ाभिषेक हैं। उसके बाद प्रज्ञा की पूजा कर शास्ता उसे शिष्य को समर्पित करे (१५)। यह कहते हुए कि हे महासत्त्व! इस सुखकारी धर्ममुद्रा को ग्रहण करो, क्योंकि तुम ईर्ष्या और क्रोध से विरहित हो। यह प्रज्ञाभिषेक है (१६)। शास्ता यह भी आज्ञा देता है कि हे वज्रधर, तुम महामुद्रा प्राप्त करो। यह चतुर्थ अभिषेक है। इसके बाद शिष्य कृत्य का वर्णन किया जाता है कि उसे किस तरह अभिषेक की अभ्यर्थना करनी चाहिए (१७)।

मुद्रा युक्त गुरु को देखकर वह उसकी स्तुति करे कि हे भगवन् ! **वज्र-साधना** कीजिए (१८) आप मुद्रा परिशोधक हैं शून्यता स्वभावी होने के कारण। अभेद्य वज्रयोग को उत्पन्न करो। आप अपने समान ही मेरे लिए भी कीजिए (१९)। मैं संसार की गहन कीचड में फंसा हुआ हूँ। मुझ जैसे अशरण की रक्षा कीजिए (२०)। इसके बाद अद्वयज्ञानधारी गुरु की सेवा मिष्टान्न, पान, खाद्य, मद्य, मांस, धूप, नैवेद्य, माल्य, घंटा, ध्वज, विलेपन आदि द्वारा करे (२१)। जब शिष्य परमानंद को प्राप्त कर ले जो नानात्व से मुक्त रहता है तब गुरु कहे कि हे महासत्त्व! तुम महासुख को धारण करो (२२)। हे वज्रधर, बोधिप्राप्ति पर्यन्त प्राणियों पर दया करो। शास्ता शिष्य को इस प्रकार का उपदेश दे (२३)।

यही महाज्ञान है जो चतुर्मुद्राधारी देहधारियों में प्रतिष्ठित है, चाहे वह प्रज्ञोपाय रहित अद्वयात्मक हो या द्वयात्मक। वह प्रभु तो अभावात्मक है, वह सर्वत्र व्यापक है चाहे वह चल हो या अचल। इन मायारूप पदार्थों में वह स्वयं को प्रकाशित करता है। मण्डल, चक्र आदि उपायों से वह निश्चित रूप से अपने सातत्य की ओर पहुंचता है (२५)।

इसके बाद सभी योगिनियों को शान्ति धारण करने की प्रार्थना करते हुए वज्रगर्भ ने भगवान से कहा - क्या **मण्डल चक्र** सर्वबुद्धात्मक है? इसे कृपया स्पष्ट कीजिए (२७)। भगवान ने कहा - मण्डल सार का पर्यायार्थक है, बोधिचित्त स्वरूप है, सकल क्लेश उपक्लेश जनित दुःखों का विनाशक महासुखदायी है, ग्रहण करना उसका स्वभाव है, इसलिए उसे मलन अथवा मीलन भी कह सकते हैं (२७)। चक्र विषयादिकों की विशुद्धि का प्रतीक है, महासुखरूप है, सर्वधर्मशून्यात्मक है, महाकरुणामय है। वज्र और कमल के संयोग से उसके सौख्य की प्रतीति होती है (२८)।

वज्रगर्भ ने कहा - किस **नियम और व्रत** का पालन करना चाहिए? भगवान ने कहा - तुम्हें प्राणिवध करना चाहिए, असत्य बोलना चाहिए, चोरी करना चाहिए और परस्त्री सेवन करना चाहिए (२९)। एकचित्तता का अभ्यास करना ही प्रणिवध है क्योंकि प्राणरूप चित्त का अनुत्पाद ही घात है। 'समूचे संसार को तार दूंगा' इस प्रतिज्ञा को मृषावाद के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। नारी का शुक्र अदत्त होता है और वह नैरात्म्या है जो दूसरों की पत्नी है। अतः परदारा उपभोग्य है (३०)।

तब सभी योगनियों ने भगवान से पूछा - **ऐन्द्रियक विषय** क्या हैं? इन्द्रियां कितनी हैं? आयतन क्या है? स्कन्ध कितने हैं? धातु कितनी हैं और उनका स्वभाव क्या है? भगवान ने उत्तर दिया - इन्द्रियों के क्षेत्र छ हैं - रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और विचार। तदर्थ क्रमशः छ इन्द्रियां हैं - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन। ये

इन्द्रियां मोहादिसे युक्त होती हैं। विषय और वैषयिक दृष्टि से ये ही बारह आयतन हैं, और रूप, विज्ञान आदि पंच स्कन्ध हैं। छः इन्द्रियां उनके छः विषय तथा छः विज्ञान, इस प्रकार अठारह प्रकार की **धातुएं** हैं। उनका स्वभाव अनुत्पन्न होता है, वे न सत्य हैं और न मृषा हैं। वे तो जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान हैं। (३१-३६)।

जिस प्रकार लकडी और व्यक्ति के हस्त व्यापार से अग्नि की उत्पत्ति होती है और वह अग्नि न लकडी में दिखाई देती है, न हस्तव्यापार में, यद्यपि उसका अस्तित्व सर्वत्र है, फिर भी हर जगह दिखाई नहीं देती। इसलिए न उसका अस्तित्व है और न उसके अस्तित्व को नकारा जा सकता है। इसी सिद्धान्त को सभी पदार्थों के स्वभाव के साथ जोडा जा सकता है। इसके बाद वज्रडाकिनी आदि सभी नैरात्म्ययोगिनियाँ पंचामृत ग्रहणकर वज्रसत्व की पूजा करती हैं और अनुराग पूर्वक वज्रामृतरस का पान करती हैं। फिर भगवान संतुष्ट होकर उसके फल का व्याख्यान करते हैं और कहते हैं कि हे वज्रडाकिनियो, वह **सत्य** जो हमने अभी तक **गुह्य** रखा था और जो सभी बुद्धों द्वारा सम्मानित रहा है, हम तुम्हें प्रगट करते हैं। तुम्हारी **वज्रपूजा** के प्रभाव से उसे प्रगट करने के लिए मैं विवश हो गया हूँ। अतः अपनी इच्छा से सुनो (३७-३९)।

इसके बाद उन सभी देवियों ने अपने दक्षिण जानु मण्डल को पृथ्वीपर रखकर भगवान को प्रणाम किया और उनके **उपदेश** को सादर व सोत्साह सुनने लगीं। भगवान ने कहा - खान, पान, जो जैसा भी प्राप्त हो, भक्षणीय हो या न हो, छोडना नहीं चाहिए, स्नान और शुद्धि की भी आवश्यकता नहीं है और न ग्राम्यधर्म त्याज्य है।। ४१।। बुद्धिमान व्यक्ति न मन्त्र का जाप करे, न ध्यान का अवलम्बन ले, न निद्रा का त्याग करे और न इन्दियों पर संयम करे।। ४२।। उसके लिए सभी प्रकार का मांस भक्षणीय है। उसे सभी तरह के लोगों से संपर्क करना चाहिए। सभी स्त्रियों के साथ निष्कंप चित्त से रमण करना चाहिए। वह न मित्र से स्नेह करे और न शत्रु से द्वेष करे। काष्ठ, पाषाण और मिट्टी से बने देवों की बन्दना न करे क्योंकि योगिन् को हमेशा अपनी दिव्यता की स्थापना करनी चाहिए।। ४३-४४।। डोम्ब, चण्डाल, चमार, हड्डी का काम करने वाले दुस्पृश्यों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिकों को वह अपनी देह के समान स्पर्श करे। बोधिचित्त के साथ वह पञ्चामृत गुड, मद्य, विष, नीम, मांस, अम्ल, मधुर, कषायला, तिक्त, लवण, कडुवा भी खाये। अद्वयज्ञानचित्त के कारण कोई भी पदार्थ उसे अभक्ष्य नहीं है। पद्मपात्र पर बैठकर पुष्प लेकर उन्हें कफ, कर्णमेल के साथ मिश्रितकर पिये (४५-४८)। उसकी कोपीन विविध वर्णों की रहती है और वह स्वयं को मिट्टी के रंगों से आभूषित करता है। श्मशान में पुष्प पाकर वह अपने बालों में बांध ले।। ४९।।

इसके बाद वज्रगर्भ ने कहा - अविशुद्ध इन्द्रियों की संख्या छह ही नहीं है। उनके क्षेत्रों को विशुद्ध करने की बात भगवान पहले ही कह चुके हैं (द्रष्टव्य, १.९.१३-१४)। भगवान ने आगे कहा - आंखों के लिए मोहवज्रा है, कानों के लिए द्वेषवज्रिका है, नासिका के लिए मात्सर्यवज्रा है, मुंह के लिए रागवज्रा है, स्पर्श के लिए ईर्ष्यावज्रा है और मन के लिए नैरात्म्ययोगिनी (द्वेषवज्रा) है। इन्द्रियों की विशुद्धि के लिए ये कवच हैं ।। ५०-५२।।

वज्रगर्भ ने कहा - **सन्ध्याभाषा** जो भी हो, भगवान ने निश्चित ढंग से कहा है। योगिनियों के संघ में गुप्त संकेत श्रावकादियों द्वारा बिना सुलझे नहीं रह सकते हैं। स्मित, निष्पलकता, आलिंगन और एकता-अद्वयता इन चारों की क्रिया, चर्या, योग और योगोत्तरों की सन्ध्याभाषा तन्त्र द्वारा भी उल्लिखित नहीं हुई ।। ५३-५४।। तब भगवान ने कहा - वज्रगर्भ, तुम सावधान होकर सुनो। मैं सन्ध्याभाषा को स्पष्ट करता हूँ। मद्य का तात्पर्य मदन (काम) है, बल मांस है, मलयज मिलन है, खेट गति है, शव श्राय (आश्रय) है, अस्थ्याभरण नग्नता है। प्रेङ्खण (भ्रमण) आगति (आगमन) है, कृपीट (गर्भाशय) डमरुक (डूम) है, दुन्दुर (प्रवाह) अभव्य है, कालिञ्जर भव्य है, डिण्डिम (छोटा डूम) अस्पर्श्य है, पद्मभाजन कपाल है, तृप्तिकर भक्ष्य है, मालतीन्धन व्यञ्जन (जडी-बूटी) है, चतुःसम गूथ गोबर है, कस्तूरिका मूत्र है, सिह्लक (लोहबान) स्वयंभू (खून) है, कर्पूर शुक्र है, सालिज महामांस हैं, कुन्दुरु दो का योग है, बोल वज्र है, कक्कोल पद्म है (५५-६०)।

इसी प्रकार **पञ्चकौलिक बुद्धों** का वर्णन भी सन्ध्या भाषा द्वारा किया जा सकता है। डोम्बी वज्रकुल के लिये है, नटी पद्मकुल के लिए है, चण्डाली रत्नकुल के लिए है, ब्राह्मणी तथागतकुल के लिए है, रजकी कर्मकुल के लिए है। ये सिद्धिदायिनी मुद्रायें हैं, उनका शुक्र वज्र है, यही मानकर योगिन् उसे पीता है।। ६१-६२।।

वज्रगर्भ महासत्त्व! सन्ध्या भाषा के संदर्भ में जो कुछ भी मैंने कहा है, उसे सादर ग्रहण करो। जो हेवज्र में अभिषिक्त है, पर सन्ध्याभाषा का प्रयोग नहीं करता उसकी धार्मिक शक्ति और पवित्रता समाप्त हो जाती है। यदि वह बुद्ध भी है पर सन्ध्याभाषा नहीं बोलता तो वह उपद्रवों से, चोरों से, ग्रह, ज्वर अथवा विषभक्षण से मृत्यु प्राप्त कर लेता है। यदि योगिनियां भी सन्ध्याभाषा प्रयोग जानकर भी नहीं करती हैं तो चार पीठों (जालन्धर, ओड्डियान, पौर्णगिरि और कामरूप - भाग १.७.१२) से उत्पन्न होने वाली वे योगिनियां क्षोभित हो जाती हैं।। ६३-६७।।

४. हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थ पटल

इसके बाद वज्रगर्भ प्रमुख सभी देव-देवियों ने संशय और विस्मित होकर वज्रसत्व भगवान से कहा - भगवान, हमारे संशय को दूर कीजिए -

(i) चर्यापटल में गीत और नाट्य का जो उल्लेख आया है वह गीत और नाट्य क्या है? (ii) देवताभिषेक के समय जो द्वेषादि मुद्रण कहा है, वह मुद्रा क्या है और किसका मुद्रण है? (iii) मन्त्रपटल में जो नैरात्म्यादि को बीजक कहा गया है वह बीज क्या है और बीजक क्या है? तथा (iv) हेवज्रकुलपटल में जिन बत्तीस नाडियों की चर्चा आई है उनकी शुद्धि कैसे हो? कृपया इन संदेहों को दूर कीजिए। (१-५)।

भगवान ने उत्तर दिया क्रमशः इन प्रश्नों का पहला **गीत** और **नृत्य** लें-

१) योगिन् कोल्लगिरि पर बैठा है और योगिनी मुम्मुणी क्षेत्र में है। जोर से ड्रम बजता है, अनाहत ध्वनि होती है। यह इसका सूचक है कि दूर स्थित होने पर भी उनमें प्रेम जाग्रत होता है, मतभेद नहीं। हम वहां मिलकर खूब मांस खाते हैं और मदिरापान करते हैं पर किसी तरह का वहां द्वेषभाव नहीं रहता। हम चतुसम, कस्तूरिका सिह्लक, कर्पूर, मालिन्धन (जडी-बूटियां) और शालिज भोजन बडे स्वाद से खाते हैं (६-७)। फिर मिलकर **नृत्य** करते हैं जिसमें शुद्ध-अशुद्ध का ध्यान नहीं रखते। नग्न (निरंशुक) होकर संभोग करते हैं। क्योंकि डोम्बी वहां अस्वीकृत नहीं है। हेरुक रूप में नृत्य करते हुए स्मृति पूर्वक रहते हैं, आरक्त चित्त से समाधि पूर्वक ध्यान करते हैं, वज्रधर्मों द्वारा पद्मनर्तेश्वररूप से, बुद्ध द्वारा वैरोचनरूप से, योगिनियों द्वारा गीत नृत्य पूर्वक गाते और नाचते हैं। इससे गणरक्षा और आत्मरक्षा होती है। जहां आदर पूर्वक गाते हैं, आदरपूर्वक नृत्य करते हैं वहां गणाध्यक्ष (नेता) को अग्रणी बना लेते हैं। वह नेता फिर सुगन्ध का ध्यान करे। पहले लशुन की और फिर गृध्र की गन्ध का ध्यान करे, बाद में कर्पूर और मलयज चन्दन की । अनन्तर वह **गीत** के प्रभाव को देखे। गीत के अन्त में वह हंस, भ्रमर और श्रृगाल के शब्द को सुनेगा उद्यान के बिना भी (८-१४)।

२) **मुद्रा** का अर्थ है चिन्ह, लक्षण जिससे परिवार की पहिचान होती है। यदि कोई साधक गलत परिवार में ध्यान करता है तो उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। परिवार इस प्रकार हैं - द्वेष का परिवार है - वज्रा, शवरी, चौरी और भूचरी। पिशुन का परिवार है - गौरी, चण्डाली और वेताली। राग का परिवार है - वारी, डोम्बी, घस्मरी और खेचरी। तथा ईर्ष्या का परिवार है वज्रडाकिनी (१५-१९)।

३) योगिनियों का **बीज-बीजक** इस प्रकार है - अ) नैरात्म्य आ-वज्रा, इ-गौरी, ई-वारियोगिनी, उ-वज्रडाकिनी, ऊ-पुक्कसी, ऋ-शवरी, ॠ-चण्डाली, ऌ-डोम्बी, ॡ-गौरी-II, ए-चौरी, ऐ-वेताली, ओ-घस्मरी, औ-भूचरी, अं-खेचरी योगिनियों के ये पन्द्रह स्वबीजक हैं (२०-२३)।

४) हेवज्रकुल पटल (१.१.१६-१९) में जिन बत्तीस **नाडियों** का उल्लेख है उनमें से दो नाडियां प्रत्येक योगिनी के साथ जुडी हुई हैं, केवल नैरात्म्या को छोडकर जिसके साथ तीन नाडियां जुडी हुई हैं - ललना, रसना और अवधूति। अन्तिम नाडी मारदारिका छोड देनी चाहिए क्योंकि उसमें षोडशी कला नहीं रहती अर्थक्रिया न होने कारण। पञ्चदश कलात्मक चन्द्र बोधिचित्त का प्रतिनिधित्व करता है (शुक्लपक्ष में पन्द्रह ही चन्द्रकलायें रहती हैं, जो पन्द्रह स्वरों का प्रतीक है और योगिनियां उसके अंश हैं (२४-२५)।

वज्रगर्भ ने कहा - अतः **कर्पूर** (वीर्य) का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि वह सभी योगनियों का उत्पत्तिस्थान है, सहजानन्द स्वभावी है, अक्षयी है, नैरात्म्य स्वभावी है, आकाश जैसा निर्मल है (२७)। भगवान ने इसका समर्थन किया। वज्रगर्भ ने पूछा- **बोधिचित्त** की प्राप्ति कैसे करनी चाहिए? भगवान ने उत्तर दिया - मण्डलचक्रादि उपाय से या अपने स्वयं के प्रयत्नबल से वैवृति और संवृति क्रम पूर्वक उसकी उत्पत्ति होती है (२८-२९)। संवृत स्वरूप कुन्द के समान है और विवृत स्वरूप सुख स्वरूप है, सुखावती में उत्पन्न होता है और 'एवं' कारात्मक है। सुख का रक्षक होने से उसे सुखावती कहा जाता है, वह बुद्धों, बोधिसत्वों और वज्रधारियों का आधार है (३०-३१)।

यही संसार है, यही निर्वाण है। संसार के बिना निर्वाण नहीं होता। संसार रूप, शब्दादि है, संसार वेदनादि है, संसार इन्द्रियां है, संसार द्वेषादि है। ये सब द्वेषादि भाव निर्वाण में समाप्त हो जाते हैं और केवल मोह से संसार का पता चलता है। सम्यक्दृष्टि संपत्र व्यक्ति संसार में रहता है पर उसके लिए यह संसार निर्वाण जैसा ही है क्योंकि वह विशुद्धि से इस स्थिति तक पहुंचा है। यह निर्वाण बोधिचित्त है और विवृति-संवृति रूपक है (३२-३५)। विवृति कुन्द के समान संभोगकायात्मक है।

निर्वाण प्राप्ति के लिए साधक चारुवक्त्रा, विशालाक्षी, रूप-योवन संपत्रा, श्यामा, धीरा, कुलीना, सिंहल-कर्पूरसंभवा, हेवज्र में अभिषिक्ता, सुकेशी प्रिया को मद्य पिलाये और फिर स्वयं पिये, पश्चात् अनुराग पूर्वक स्व-पदार्थ सिद्धि के लिए व्रती साधक मुद्रा के साथ संयोग (संभोग) करे। उस संयोग में उत्पत्र कर्पूर (शुक्र)

को कभी भी न छोडे। यह निर्वाण का संवृत सुख है। वह नैरात्म्य महासुख महामुद्रा में है जो नाभिमण्डल में संस्थित है। वह कर्पूर न हाथ से ग्रहण करे और न शुक्तिका से अथवा शंख से। बल-वृद्धि के लिए उसे अमृत से जिह्वा से ग्रहण करे (३६-४०)।

वह **नैरात्म्या** आदिस्वर 'अ' से चिन्हित है, उत्पन्नक्रम के योग से भगवती प्रज्ञा है, वह न ऊंची है, न छोटी है, न चतुष्कोणात्मक है, न गोल है, वह सभी प्रकार के स्वाद, गन्ध से अतीत (परे) है, सहजानन्दकारिणी है। योगिन् उसी सुख में उत्पन्न होता है, उसी के सुख का उपभोग करता है। उसी के साथ महामुद्रा सुख देनेवाली सिद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रज्ञा में रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्मधातु स्वभाव आदि सब कुछ का उपभोग किया जाता है। वही प्रज्ञा सहजरूपा है, महासुखा है, दिव्ययोगिनी है, महाचक्र है, पञ्चज्ञानस्वरूपिणी है, आदर्शज्ञानरूपा है, समतारूपा है, सुविशुद्धधर्मधातु है, अहंरूपा है, मण्डलाधिप है, नैरात्म्ययोगिनी है और धर्मधातुक है (४१-४७)।

वज्रगर्भ ने कहा - भगवान ने यह तो स्पष्ट किया है कि मण्डल पर ध्यान करने से दैवी भावों का किस प्रकार उदय होता है। अब यह भी स्पष्ट करें कि **मण्डल** क्या है, **संवर** क्या है? भगवान ने उत्तर दिया - जो योगिनी की नाभि में स्थित है, अकार स्वरूप है, जैसे जो बाह्य में नैरात्म्य भावनात्मक है, वैसे ही अन्तर में नैरात्म्य-भावनात्मक है, वह संवर है[१]। देह में संवृत होने के कारण संवर है [१]। वज्र जिस महासुख (संभोग) का अनुभव करता है वह महामुद्रा है और वज्रायतन (योनि) उपायक है। इस अध्यात्मिक समापत्ति द्वारा बाह्यात्मक द्वन्द्व (नैरात्मा और हेरुक का सुरत) निर्दशित है (४८-५०)। चक्र के रूप में देह के बीच त्रिकाय उपलब्ध है और त्रिकाय का यथार्थ ज्ञान महासुखचक्र है। इस प्रकार चार **काय** हैं - निर्माणकाय, धर्मकाय, संभोगकाय और महासुखकाय। ये चारों काय क्रमशः योनि, हृदय, कण्ठ और मस्तक में रहते हैं। निर्माणकाय वह स्थान है जहां से सभी जीवों की उत्पत्ति होती है। चित्त के स्वरूप को धर्म कहते हैं और यह धर्मकाय हृदय में अवस्थित है। संभोग का अर्थ भुञ्जन अथवा आनन्द है जो षट्रसों में उपलब्ध है। इसलिए संभोगकाय का स्थान कण्ठ है। और निष्यन्दफल, विपाकफल, पुरुषकारफल और विमलफल इन चारों फलों के स्थान क्रमशः इस प्रकार हैं - नाभि, हृदय, कण्ठ और मस्तक। भगवती प्रज्ञा कर्मभुक् है, कर्मभोक्ता है। निष्यन्दफल योनिचक्र है जिसमें कर्ता को अपने कर्म का फल भोगना पडता है। विपाकफल में कर्म की अपेक्षा फल बडा होता है। पुरुषकारफल में फल प्रयत्नपूर्वक मिलता है और

---

१. इस पद्य का भाव अधिक स्पष्ट नहीं है। टीकाकार केअनुसार इस प्रकार संभव है - जैसे बाह्य मण्डल में वज्र और कमल एक कर दिये जाते हैं वैसे ही अध्यात्ममण्डल में नाभिचक्र स्थित 'अ' और शिरश्चक्र स्थित 'हँ' का संयोग हो जाता है। यही उनका आध्यात्मिक संभोग है।

विमलफल योग की विशुद्धक्रिया द्वारा प्राप्त होता है (४८-५८)। ये फल क्रमशः योनिचक्र, धर्मचक्र, संभोगचक्र और महाचक्र में प्राप्तव्य हैं।

स्थविरवाद में निर्माणचक्र है क्योंकि वहां निर्माण पूर्वकाल से संबद्ध है। सर्वास्तिवाद को धर्मचक्र में रखा गया है क्योंकि वहां धर्म का सिद्धान्त व्याख्यायित है। संभोगचक्र की सीमा में संविदी है क्योंकि उसका संवेदन कंठ में होता है और महासंघ महासुख में संयोजित है क्योंकि महासुख मस्तक में रहता है (५९-६०)।

निकाय (भिक्षुसंघ) काय है, बिहार उदर है क्योंकि रागादि भावों से मुक्त होने पर वह उदरस्थ हो जाता है, पीला चीवर योनि का आवरण है। माता शिक्षक है, मस्तकाञ्जलि से उसका बन्दन होता है, सांसारिक अनुभव उसका शिक्षापद है, मन्त्र-जपन अहं का ज्ञायक है (६२)। अकार ध्वनि योनिचक्र में और हकार ध्वनि महासुख चक्र मे प्राप्त होती है। इसलिए व्यक्ति भिक्षुवत् नग्न और मुण्डवान् पैदा होताहै मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ। इन तथ्यों से ऐसा लगता है कि सभी प्राणी प्रथमतः बुद्ध होते हैं, दस माह योनिमें रहते हैं अतः वे दशभूमीश्वर हैं। तब नैरात्म्या प्रमुखा सभी देवियाँ, यथा - लोचना, मामकी, पाण्डुरा, तारा, भृकुटी, चुन्दा, पर्णशवरी, अहोमुखा आदि आश्चर्यान्वित हुईं। इस भगवद् वचन को सुनकर ये देवियां मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडीं। तब भगवान ने उन्हें संबोधित किया - तुम लोग पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु हो। मैं तुम्हे ऐसा उपदेश देता हूँ जिसे कोई नहीं जानता। यह सुनकर वे सभी देवियां स्वप्न से जाग्रत-सी हो गईं। मल-दोषों के कारण उनका बुद्धत्व आवृत हो गया है। इस आवरण के दूर हो जाने पर वे निःसंदेह बुद्ध बन जाते हैं। देवियों ने कहा, यह सही है, झूठ नहीं है (६३-७०)।

भगवान ने कहा - जिस प्रकार यदि साधारण व्यक्ति विष-भक्षण करता है तो वह मूर्छित हो जाता है, परन्तु जो वीतरागी और तत्वज्ञानी होता है वह विष के प्रभाव को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार जो निवृत्ति के उपायज्ञ हैं और हेवज्र में परिश्रम करने वाले हैं वे अविद्या, मोहादि बन्धनों से नहीं बंधते (७१-७२)।

कोई भी नारकी, प्रेत, तिर्यंच, देव-असुर, मनुष्य आदि प्राणी अबुद्ध नहीं है। वे अपने-अपने महासुख स्वभाव को जानते हैं। अमेध्यकीटक (गोबर-कीडे) आदि भी स्वभावतः नित्य सुखी हैं क्योंकि वे देवों और असुरों के सुख को नहीं जानते। अनित्य और सास्रव होने के कारण सब कुछ दुःख स्वरूप है। यही महासुख है। बोधिचित्त के अतिरिक्त अन्यत्र चित्त उपलब्ध नहीं होता। चित्त ही संबुद्ध है। यहां तक कि चण्डाल,

चेण्डकार आदि और वे जो मारण आदि में दत्तचित्त हैं वे भी हेवज्र के पास पहुंचकर सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु अज्ञान्ता से रुके हुए वे मूर्ख जो इस गति को नहीं जानते, संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। वज्रगर्भ, जो इस उपाय को जान जाता है, करुणा रूप हेवज्र को समझ लेता है वह इन्द्रियों के विषयों को विशुद्ध कर लेता है और अनुत्तर सुख को प्राप्त कर लेता है (७३-७८)।

वज्रगर्भ ने पूछा - पृथ्वी को **पुक्कसी** कहा जाता है। उसका चिन्ह अक्षोभ्य (द्वेष) क्यों है? चूंकि कर्कशता मोह से संबद्ध है और वह वैरोचन (मोह) है तब मोह (वैरोचन) पृथ्वी का चिन्ह होना चाहिए। अर्थात् श्लोक १६-१७ में पुक्कसी को द्वेष परिवार में रखा है पर १.९.१६ में पुक्कसी को पृथ्वी का विशोधक माना है। अतः पृथ्वी का संबन्ध वैरोचन से है, पुक्कसी से नहीं। ऐसा क्यों? भगवान ने कहा - शरीर के अतिरिक्त चित्त के लिए कोई दूसरा कार्य नहीं है। इसलिए वैरोचन (मोह) चित्त बन जाता है और शरीर का चिन्ह चित्त (अक्षोभ्य) हो जाता है (=वैरोचन =पृथ्वी =पुक्कसी) (७९-८०)।

वज्रगर्भ ने कहा - प्रभु! शवरी अपधातु है और अक्षोभ्य द्रवरूप है तब **शवरी** का चिन्ह अक्षोभ्य होना चाहिए। भगवान ने कहा - चित्त को छोडकर शरीर की कोई अवस्थिति नहीं है अतः चित्त मोह बन जाता है और फिर चित्त (शवरी) को मोह-चिन्हित मान लिया जाता है (८१-८२)। वज्रगर्भ ने कहा - चण्डालिनी को तेजात्मक माना जाता है। उसे रत्न-चिन्हित (पैशून्य) क्यों कहा गया ? उसका चिन्ह तो राग होना चाहिए। भगवान ने कहा - चूंकि राग का रंग रक्त है (राग =अमिताभ - अग्नि = चण्डाली) और रत्नसंभव लाल है। अग्नि भी लाल है, इसलिए चण्डाली (राग) को ईर्ष्या (रत्नसंभव) चिन्हित माना है (८३-८४)। वज्रगर्भ ने कहा - डोम्बिनी वायु है और अमोघसिद्धि वायु-प्रकृतिवाला है तब **डोम्बिनी** को अमोघ चिन्हित होना चाहिए था। भगवान ने कहा - राग को छोडकर ईर्ष्या का उत्पत्ति स्थान और कुछ नहीं है इसलिए डोम्बिनी को रागचिन्हित किया गया है (८५-८६)। रूप कर्कशता है इसलिए गौरी के लिए वैरोचन चिन्ह होता पर उसे अक्षोभ्य (चित्त) चिन्ह दिया गया। इसी तरह चौरी, वेताली और घस्मरी के विषय में भी समझना चाहिए (८७-८८)।

नैरात्म्या ने प्राणियों के लाभ की दृष्टि से हेवज्र से **बलि** के संदर्भ में प्रश्न पूछे। और पदमासन (एवं) पर स्थित हेवज्र ने प्राणियों की रक्षा विघ्नों और कष्टों से करने का संकल्प दुहराया। और मन्त्र पढा - इन्द्र जन...... स्वाहा (८९-९१)। इस बलि का स्वाद लो, सूंघो। यहां फूल, धूप, मांस है। वे हमारे विघ्न और रोग विनाशक बनें। इसके बाद मन्त्र पढा - ओम् अकार.... फल स्वाहा (९३)।

राष्ट्रिय
क्रमांक 15081

यदि योगी सभी प्राणियों की रक्षा के लिए इस बलि से पूजा करते हैं तो प्राणियों को सुख मिलता है और देव संतुष्ट होते हैं। यदि देवों के लिए यह बलि हमेशा दी जाती है तो वशीकरण, अभिचार, रिपुसैन्य विनाश, उच्चाटन, मारण, आकर्षण आदि होता है और शान्ति-सुख मिलता है (९४-९५)।

वज्रगर्भ ने कहा - **खेचरी** और **भूचरी** किस मुद्रा से चिन्हित होना चाहिए? भगवान ने कहा - काय-वाक्-चित्त में भेद से चक्र के बीच त्रिगुह्यात्मक स्थिति होती है और वह चक्र के निम्न, मध्य और ऊर्ध्व भाग में अवस्थित है। अधोभाग में भूचरी है, वह कामचिन्हित (वैरोचन) है। ऊर्ध्वभाग में खेचरी है, राग (अमिताभ) चिन्हित है और वाग्वज्रणी है। मध्यभाग में चित्त है जो नैरात्म्यक है। कुल मिलाकर छः परिवार हैं पर वे भी तीन और पांच प्रकार के हैं - अक्षोभ्य, वैरोचन, रत्नसंभव, अमितप्रभ, अमोघसिद्धि और वज्रसत्व। ये छः परिवार हैं जिनके क्रमशः छह भाव हैं - द्वेष, मोह, पैशून्य, राग, ईर्ष्या, और सुख। शुद्धिक्रम से इनकी भावना होनी चाहिए (९६-१०१)। वज्रसत्व को छोडकर पांच परिवार हो जाते हैं और फिर वही मोह, राग और द्वेष को रखकर तीन रह जाते हैं। परन्तु ये छः और पांच मात्र चित्त में सिमट जाते हैं और अक्षोभ्य द्वेष रूप हो जाते हैं। यह द्वेष का प्रभाव है (१०२-१०३)।

५. हेवज्राभ्युदय पटल

इसके बाद महाराजा वज्री **हेवज्र मण्डल** की व्याख्या करते हैं। चित्तवज्र के बीज से निष्पन्न हेवज्र सुखावती में आसीन, सर्वाकारस्वरूपी और मण्डलेश्वर माना जाता है। उसके सोलह हाथ हैं, आठ मुख हैं, चार पैर हैं, भयानक स्वरूप है, कपालमाला धारी है, पञ्चमुद्रात्मक है। उसके कन्धे से लिपटी नैरात्म्या स्वयं उससे प्रश्न करती है (१-३)।

पन्द्रह परिवारों से आवेष्टित हमारे चक्र के विषय में तो आपने कहा (भाग १, अध्याय ८-९। पर आपका **मण्डल** कैसा है, यह अभी तक अज्ञात है। नैरात्म्या का चुम्बनकर, वज्र को कपाल (कमल) पर फेंककर, उसके स्तनों का मर्दनकर भगवान ने मण्डल का वर्णन किया (५)। चक्र वैसा ही है जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है। वह हार तथा अर्धहार से शोभित है, इसके चार कोण हैं, चार द्वार हैं, वज्र-सूत्रों से अलंकृत है, उसके मध्य मैं तुम्हारे साथ बैठा हूँ, सुन्दरमुखी महारागानुराग और सहजानन्द से संयुक्त हूँ। मेरे आठ मुख हैं, चार चरण हैं, सोलह भुजायें हैं, चारों मारों को मैंने दलित कर दिया है, भय को भी भयानक हूँ। ताण्डवनृत्य करनेवाला हूँ। मस्तक पर वज्र धारण किया है, कृष्णवर्ण वाला हूँ, शरीर धूल घूसरित है, मुख से हुँकार निकालता हूँ, रति संपन्न हूँ, नैरात्म्या के साथ संयुक्त हूँ, महासुखी हूँ, स्वरूपी हूँ, मेरा सामने का मुंह काला है और

दायां भाग कुन्द के समान सफेद है, बायां भाग रक्तवर्ण का है, भयंकर है, मूर्ध मुख विकराल है, शेषभाग भृंग के समान है। उसमें चौबीस नेत्र हैं।

उस नगर में हम दोनों रति-आनन्द के साथ **सुरत-क्रीडा** करते हैं । तब गौरी बाहर निकली बोधिचित्त के परिणाम से और पूर्व द्वार पर बैठ गई। बाद में चौरी निकली जो दक्षिण द्वार पर द्वारपालिका जैसी बैठ गई। बाद में बेताली आई जो मारभंजिका है वह पश्चिम द्वार पर बैठ गई। भयंकर रूपिणी घस्मरी उत्तर द्वार पर, रुद्ररूपिणी पुक्कसी ईशान दिशा में, शवरी आग्नेय दिशा में, चण्डाली नैऋत्य दिशा में और डोम्बी वायव्य दिशा में (१३-१८)।

इसके बाद वज्री महारागवश नैरात्म्या के साथ महासुख में लीन हो गया! तब देवियों ने विविध गीतों से जगाया और चण्डाली ने कहा - हे करुणामयी भगवन्, पुक्कसी, उठो और मुझे बचाओ। महासुख के लिए मेरा आलिंगन करो और शून्यता समाधि छोडो। हे वज्र, तुम्हारे बिना मैं मर जाऊंगी। शर्वरी के कार्य की सिद्धि हो। हे सुरत प्रभो ! जो लोग सुख के लिए अपने शब्दों को बोले वह मैं चण्डाली आपके समक्ष नम्रीभूत हूँ। आपके बिना मैं चारों दिशाओं में किसी को नहीं देख पाती जो प्राणियों को उनके दुःखों से मुक्त करे (१९-२२)। हे इन्द्रजालिक, उठो, मैं तुम्हारे चित्त को जानती हूँ। मैं डोम्बी, चित्त से कमजोर हूँ, करुणा का विनाश मत कीजिए (२३)।

द्रवसमाधिस्थ भगवान की सोलह भुजाओं में स्थित **चिन्ह** हैं - हाथी, अश्व, खर, गौ, उष्ट्र, मनुज, शरभ (सिंह), उतुक (विडाल) दक्षिणाष्ट कपाल भागों में है और पृथ्वी, वरुण, वायु, तेज, चन्द्र, सूर्य, यम, वेश्रवण वामाष्ट कपाल भागों में हैं। नव रसों से युक्त है - श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, भयानक, करुण, अद्भुत, शान्त। तब अँ, हूँ ध्वनियों से **महावज्री** द्रव समाधि से उठ जाते हैं, भूमि पर पैरों को फैलाते हैं, और सुरो-असुरों को तर्जना देते हैं, अँ-हूँ से गँ चँ वँ घँ पँ शँ लँ डँ बीजाक्षरों को उत्पन्न करते हैं (२४-२८)।

मातृचक्र मण्डल में भगवान का ध्यान करना चाहिए। देवियों का वह मण्डल कृष्णवर्णी है, महा भयंकर है और नैरात्म्या को सुखदायी है। **देवियों** का वर्णन इस प्रकार है—

गौरी के दायें हाथ में चाकू और बाये हाथ में मछली रहती है।
चौरी के दायें हाथ में डूम (कृपीत) और बायें हाथ में जंगली सुअर है।
वेताली के दायें हाथ में कछुआ और बायें हाथ में पद्मपात्र है।

वेताली के दायें हाथ में सर्प और बायें हाथ में योगपात्र है।
पुक्कसी के दायें हाथ में सिह और बायें हाथ में परशु है।
शवरी के दायें हाथ में भिक्षु और बायें हाथ में पंखा है।
चण्डाली के दायें हाथ में चक्र और बायें हाथ में हल है।
डोम्बी के दायें हाथ में वज्र और बायें हाथ में तर्जनी है।

ये सभी देवियां दो भुजाओं वाली हैं और अर्ध पर्यंकासन में नृत्य करने वाली हैं। उनके तीन नेत्र हैं, वे ऊर्ध्वकेशी हैं, पञ्च मुद्राओं से विभूषित हैं। गौरी का वर्ण कृष्ण है, चौरी सूर्य के समान है, वेताली तप्तस्वर्ण के समान कान्ति वाली है, घस्मरी मरकत के समान है, पुक्कसी इन्द्रनील के समान है, शवरी चन्द्रमणि के समान कान्तिवाली है, चण्डाली आकाश के समान श्यामवर्ण वाली है, और डोम्बी स्वर्ण रंग वाली है। घौरी आदि देवियों की आसनें इस प्रकार हैं - ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, शिव, यम, कुबेर, नैऋती और वेमचित्रिन् (२९-३७)।

नैरात्म्या ने गाढालिंगन, चुम्बन आदि द्वारा भक्ति पूर्वक भगवान की पूजाकर **मन्त्र** के विषय में पूछा। भगवान ने कहा - हे देवि, मैं उस मन्त्र के विषय में कहूंगा जो स्त्रियों को वश में करने वाला है, दुष्टों को तर्जन करनेवाला है, सर्पों को नष्ट करने वाला है, देवों-असुरों का मर्दन करने वाला है। मैंने बुद्धों और बोधिसत्वों को स्पष्ट वता दिया है जो वज्रसत्व ने किया है और इस मन्त्र से हुआ है। हे देवि, मैं तुम्हारी रक्षा के लिए भयभीत हूँ। ज्वाला-मालाओं से भयंकर मण्डल को बनाकर वज्रगर्भ के अभिषेक के लिए वहां बिन्दु खींचे। दीर्घ स्वर और रुचिकर स्वर में एक हजार जप करने से हेवज्र योग से स्त्रियों को आकर्षित किया जा सकता है। एक लाख जाप करने से साधक कोई भी कर्म कर सकता है (३८-४४)।

वेदों का आद्यक्षर ओंः - अर्धेन्दु से विभूषित, आठ मुख वाला, पिंगवर्णी ऊर्ध्व केशवाला, जिसकी चौबीस आंखें और चार हाथ हैं, जिसका मेघ के समान अत्यन्त काला शरीर है, कपालमालाधारी, अत्यन्त क्रूरचित्त वाला और जिसके दन्त अर्ध चन्द्र के समान हैं - मारो, करो, बांधो, पकडो.... स्वाहा (४५-४७)।

गाढालिंगन चुम्बनों से संतुष्ट होकर देवीने मण्डल के विषय में पूछा। महाज्ञानी शास्ता ने प्रसन्नचित्त होकर स्वयं **मण्डल** बनाया। उस मण्डल के चारों ओर विविध रश्मियां हैं, तोरण और वज्रसूत्रों से विभूषित चार दरवाजे हैं, पांच रंगों से युक्त, आठ कलश हैं। वह मण्डल पांच रत्नों के चूर्णों से निर्मित है, बीच में चावल रखते हैं, नीचे

श्मशान की ईंटें और अंगार। मध्य में अष्टपत्र कमल, कपाल, शुक्लवर्णी तीन रेखायें, ईशान दिशा में सिंह बनाये, आग्नेय दिशा में भिक्षु बनाये, नैऋत्य दिशा में चक्र और वायव्य दिशा में वज्र बनाये, पूर्व द्वार में चाकू, दक्षिण द्वार में डूम, पश्चिम द्वार में कूर्म और उत्तर में सर्प बनाये (४८-५४)। देवियों के ये आठ **चिन्ह** हैं। बीच में वज्रांकित कपाल बनाये। पूर्व दिशा में विजयकलश रखे, उसपर पल्लव हो, वस्त्र ढका हो, भीतर पंचरत्न रखे हों और चावल से भरा हो (५५-५६)। **तत्त्वसंग्रह** में यह मण्डलविधि अधिक स्पष्ट मिलती है।

मण्डल में बारह अथवा सोलह वर्षीय, हार-नूपुर से विभूषित आठ विद्याओं का प्रवेश कराना चाहिए। ये **आठ विद्यायें** हैं - पत्नी, बहिन, पुत्री, भतीजी, भाभी, मौसी, सासु, बुआ (५८-५९)। योगी गाढालिंगनों और चुम्बनों से इनका सन्मान करे, कर्पूर-पान करे और उससे मण्डल का प्रोक्षण करे। योगी उन विद्याओं को भी कर्पूर-पान कराये और शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करे। बाद में वह उनको निर्वस्त्रकर उनकी योनि का बार-बार चुम्बन करे। वे विद्यायें भी उस योगी का सन्मान करें, गायें और नृत्य करें (५७-६३)।

द्वितीय प्रहर में वहां योगी शिष्य को प्रविष्ट कराये। शिष्य की आखों को वस्त्र से ढांककर उसे मण्डल का दर्शन कराये। फिर निर्जन घर में उसका मध्य रात्रि में अभिषेक करे। आचार्यादि के भेद से अभिषेक अनेक प्रकार के कहे गये हैं। योग्य शिष्य प्रशंसा करे और पूजा करे (२.३.१८-२१)। बाद में आचार्य गुह्याभिषेक, प्रज्ञाभिषेक आदि प्रकाशित करे (६३-६७)।

देवीने पूछा - वह **क्षण** कैसा रहता है? भगवान ने उत्तर दिया - न आदि (परमानन्द) है, न अन्त (विरमानन्द) है, न मध्य (प्रथमानन्द) है, न संसार है, न निर्वाण है। वह महासुख (सहजलक्षणात्मक) है जहां न आत्मा है, न पर है, ग्राह्य-ग्राहक वर्जित है। योगी अपने दायें हाथ के अंगूठे (रसना) और बायें हाथ की अनामिका (चतुर्थ अंगुली) से (ललनासे) संभोगचक्र (कंठ) में दोनों लहरों को दबाये (१.७)। परिणामतः अद्वयलक्षणात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है महासुख भरा, कुमारी के साथ संभोग के समान अथवा मूर्ख के स्वप्न के समान। यह परमानन्द का अन्त है और विरमानन्द का प्रारंभ है, शून्य-अशून्य है। इसी को **हेरुक** कहा जाता है (६९-७०)।

६. हेवज्रपटविधान पटल

देवी का गाढालिंगनकर, कपालपर वज्र क्षेपण कर, प्रगाढता से स्तनों को पकडकर, ओठ से उरस्थि भाग का आपीडन कर, कुचों के मध्यभाग में नखक्षतकर संमेलन सुख का रसास्वादन कर पञ्चमुद्रा को प्रकाशित करे (१-२)। गुरु, आचार्य और इष्ट देव के नमन के प्रयोजन से मुकुट धारण किया गया है, गुरु और वज्रधर के विरोध में दुर्भाषित वचनों को न सुनने के लिए कर्ण कुण्डल पहने गये हैं, मन्त्रजपन के लिए हार पहना गया है, प्राणि-बन्ध से मुक्त होने के लिए कंगन और मुद्रा छोडने के लिए मेखला धारण की गई है। शरीर पंच बुद्धों की मुद्रा से चिन्हित होना चाहिए (३-४)।

इसके बाद देवी ने हेवज्र से प्रश्न किया - किस **विधान** से, किस क्रिया से हेवज्र का **पटकार्य** (चित्र बनाना) किया जाना चाहिए (५-६) ? भगवान ने उत्तर दिया - अपनी ही परम्परा का पालन करने वाले चित्रकार द्वारा चित्र बनाया जाना चाहिए और वह चित्र पांच रंगों से बनाया जाये। उस चित्र में शव-केश की कुची (ब्रुश) हो। सूत्र (धागा) और वस्त्र (पट) का निर्माण करने वाला भी अपनी ही परम्परा का पालन करने वाला हो (७-८)। मद्यपानकर मध्यान्ह काल में क्रूर चित्त से कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन निर्जन घर में नग्न होकर अपवित्र पदार्थ का भक्षण करे और सुन्दरी, कृपावती, रूप-यौवन संपन्ना, पुष्पवती साधक-प्रिया की बायीं ओर अपनी मुद्रा रखे (९-११)।

७. भोजन पटल

इसके बाद देवी ने **पुस्तक** के संदर्भ में पूछा। भगवान ने कहा - बारह अंगुल लम्बे-भूर्जपत्र पर मधु की स्याही बनाकर मनुष्यों की अस्थियों से पुस्तक लिखी जानी चाहिए। लिखते समय पुस्तक को या पट को कोई अयोग्य व्यक्ति देख ले तो उसे न इस लोक में सिद्धि मिल सकेगी और न परलोक में। हमारी किसी एक परम्परा में इसे कभी भी दिखाया जा सकता है। यात्रा के समय पुस्तक को वालों में अथवा भुजाओं में छिपा लेना चाहिए (१-४)।

देवी की योनि में लिंग को प्रविष्टकर, बार-बार चुम्बनकर, महासुख पाकर वज्री **भोजन** के लिए प्रवेश करे। गणमण्डल में किया गया भोजन सर्व सिद्धि दायक होता है। यह भोजन श्मशान में गिरिकुञ्ज में, निर्जन नगर में अथवा निर्जन प्रदेश में करना चाहिए। तदर्थ वहां शव, व्याघ्रचर्म अथवा श्मशान में उपलब्ध चिथडों का आसन बनाना चाहिए। गण के मध्य में हेवज्र को और दिशा-विदिशा में योगनियों को प्रतिष्ठित करना चाहिए। व्याघ्रचर्म पर बैठकर पूरे उतसाह के साथ भोजन करना चाहिए, जडी बूटी (मालतीन्धन) तथा मांस (राजशालि, १.७.२१) खाना चाहिए। बार-बार यह

सब खाकर मातृ-देवियों की पूजा करनी चाहिए। माता, भगिनी, भतीजी, सासु आदि का गणमण्डल में सम्मान (संभोग) किया जाना चाहिए। महाभागी शिष्य गुरु के लिए मद्य भरा कपाल भेंट करे और उसे नमस्कार कर स्वयं पिये। पद्महस्त से उस पात्र को ग्रहण करे और वैसे ही उसे दे। फिर साधक वहां बार-बार प्रणाम करते हैं (५-१३)।

८. विनेय पटल

योगिनियों ने पूछा - **महामुद्रा** कैसी है? भगवान ने उत्तर दिया - न वह अधिक लम्बी है, न अधिक छोटी है, न काली है, न गोरी है बल्कि पद्मपत्र के समान काली है। उसकी श्वास सुगन्धित है, प्रस्वेद कस्तूरिका के समान सुगन्धित है, पद्मेन्दु पद्म इन्दीवर, उत्पल के समान क्षण-क्षण में सुगन्ध वितरित करता है, वायसागरु के समान सुगन्धित है। वह धीर है, अचंचल है, प्रियवादी है, मनोरमा है, सुकेशी है, मध्य में त्रिवलियां हैं। उसको प्राप्त कर सहजानन्द रूपिणि सिद्धि हो जाती है (१-५)।

नैरात्म्या ने कहा - भगवन् कैसा **व्रत** करना चाहिए? भगवान ने उत्तर दिया-व्रत ऐसा हो कि मैं जन्म-जन्मान्तरों में इसी परिवार में रहूँ, अनुन्मादी रहूँ, दयालु रहूँ, गुरुभक्त रहूँ, अपने सिद्धान्त पर अडिग रहूँ, हेवज्र का व्याख्याकार रहूँ, धर्म की गंभीरता को स्पष्ट करते हुए वज्र-घंटी बजाऊं और स्त्री के शुक्र का समाहारी बनूँ (६-७)।

नैरात्म्या देवी ने पूछा - दुर्दान्त लोगों को कैसे **शिक्षित** किया जाये? भगवान ने कहा - सर्व प्रथम उन्हें प्रोषध (जनता के बीच स्वीकृति) करना चाहिए और फिर उन्हें दश शिक्षापद दें। बाद में वैभाष्यी शिक्षा दें और फिर सौत्रान्तिकी । तदनन्तर योगाचारी और माध्यमिकी शिक्षा दे। सभी मन्त्रपरम्पराओं को जान लेने के बाद हेवज्र का पालन आरंभ करें। शिष्य निःसंदेह इसे सादर ग्रहण करे (८-१०)।

९. मन्त्रोद्धार पटल

अब मैं ध्यान के द्वारा शरीर के पृथक्करण के विषय में कहूंगा जिसके ज्ञान मात्र से साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जब किसी का मन हेरुक के प्रतिरूप खडा हो जाता है तो बुद्ध भी **ध्यान** के द्वारा निश्चित रूप से नष्ट हो जाते हैं। यह **मारण** दया पूर्वक होता है यह जानकर कि किसी ने गुरु अथबा मुनि अथवा शासन के विरोध में कुछ किया है। यदि किसी को रक्त वमन करते हुए, कंपते हुए अथवा बाल लोचते हुए देखें तो समझ लीजिए कि वह इसका शिकार हो गया। यह समझ लें कि उसके मार्ग में अग्नि रूपी वज्रसुई ने प्रवेश कर लिया। हृदय में अग्नि-बीज देखकर तुरन्त उसे मार

दें। उस तन्त्र में न होतव्य है, न मुद्राबन्ध क्रिया है। पाठार्थ सत्य महातन्त्र ध्यान मात्र से सिद्ध हो जाता है (१-६)।

हे देवि, सुनो, अब मैं **भव-शोधन** का निश्चित विशुद्ध रहस्य कहूंगा। यह **शरीर** ज्वाला-माला (पन्द्रह योगिनियों के स्वभाव) से संयुक्त है, महारत्न है चिन्तामणिरत्न है। यदि वह अप्रतिबद्ध या अज्ञात रहा तो संसार में ही रहना होगा, परन्तु ज्ञात हो जाने पर बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है। यह शरीर पञ्च कामगुणों से युक्त संसार रत्न है जो अविशुद्ध अवस्था में विष के समान है और विशुद्ध हो जाने पर अमृत के समान है (७-९)।

संसार हेरुकाकार है, हेरुक जगत का उद्धारक है। उस **हेरुक** की उत्पत्ति को मैं स्पष्ट करता हूँ - उसकी आंखें दया से रक्तवर्ण वाली हैं, मैत्रीचित्त से उसका शरीर काला है, चार पैर संग्रह वस्तु (धर्मान्तरण) किंवा मार विध्वंसन (१.१०.१५) के प्रतीक हैं, आठ मुंह आठ विमुक्तियां हैं, सोलह भुजायें सोलह शून्यतायें हैं, मुद्राओं से चिन्हित पंचबुद्ध क्रुद्ध और दुष्टों को शिक्षा देने वाले हैं, उसका मांस पुक्कसी (पृथ्वी) का प्रतिनिधित्व करता है, रक्त शवरी (जल) का, शुक्र चण्डाली (अग्नि) का, मद-मज्जा डोम्बी (वायु) का, चर्म सप्त बोध्यंगों का और अस्थिसमूह चतुरार्यसत्यों का प्रतिनिधित्व करता है (१०-१३)।

देवी ने पूछा - वह **मन्त्रोद्धार** (मन्त्र समूह) कैसा है जिससे प्राणी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ? भगवान ने (१६-३७)। इसका जो उत्तर दिया है वह पहले कह दिया गया है। भाग १, अध्याय २ में मन्त्रों की एक लम्बी सूची उपलब्ध है। यहां वर्णाधार पर उनका वर्णन है। भाग २, अध्याय ४. १५-१६ में स्वरक्रम से योगिनिओं की सूची है और व्यंजनक्रम में बुद्धों की। पुनरावृत्ति होने के कारण यह अनुवाद यहां छोड दिया गया है।

१०. जाप पटल

इसके बाद वज्रसत्व ने नैरात्म्या देवी को मन्त्रों की **जपन क्रिया** का स्पष्टीकरण किया। स्फटिक से स्तम्भन का जप करना चाहिए, इसी तरह रक्तचंदन से वशीकरण का, नैरंशुक से मोहन का, अश्व-हड्डी से उच्चाटन का, ब्रह्मास्थि से आकर्षण का, गजास्थि से वर्षाप्राप्ति का, भैंसे की हड्डी से मारण का जप होता है। इसी प्रकार स्तम्भन

के लिए दुग्धपान किया जाता है, वशीकरण में स्वच्छन्दता का आचरण होता है, मारण में सिह्लक (रक्तपान) का, आकर्षण में गोबर का, विद्वेषण में नर रक्त (शालिज) का, उच्चाटन में कस्तूरिका का, मोहन में मूत्र का, अथवा अश्व, कुक्कुट, गौ या हाथी के मांस का प्रयोग होता है (१-५)।

११. सहजार्थ पटल

नैरात्म्या ने हेवज्र से गाढालिंगन पूर्वक प्राणियों के परिवार के बारे में पूछा। मण्डलनायक हेवज्र ने नैरात्म्या के योनि में लिंग रखकर उत्तर दिया - प्रज्ञापारमिते, जिस किसी भी पुरुष अथवा स्त्री की अनामिका पर नौ कोण वाला वज्र है वह अक्षोभ्य कुल का है। इसी तरह वैरोचन का चक्र, अमिताभ का पंकज, रत्नसंभव का महायत्न और अमोघसिद्धि का खड्ग है। जो योगी कृष्णवर्णी है उसका कुल देवता अक्षोभ्य है, जो गौरवर्णी है, उसका देवता वैरोचन है, जो महाश्याम है उसका देवता अमोघसिद्धि है, जो पिंगवर्णी है उसका देवता रत्नसंभव है, जो रक्तवर्णी है उसका देवता अमिताभ है, जो सफेद है उसका देवता वज्रसत्त्व है। पूर्णता प्राप्त योगियों के लिए इष्ट-अनिष्ट जैसी कोई चीज नहीं होती है। तथागतों के ये पांचों परिवार सांवृत सत्य के आधार पर अवस्थित हैं। स्त्रियों के लक्षण भी पुरुषों के लक्षणों के समान होते हैं। उनके परिवार भी सांवृतिक आधार पर हैं (१-९)।

महावज्री ने नैरात्म्या से कहा - उद्यान में निर्जन प्रदेश में अथवा घर के भीतर महामुद्रा को नग्नकर योगी उसकी पूजन करे। उसका चुम्बन कर आलिंगन करे, योनि-स्पर्श करे, अधरपानकर बार-बार उसको ऊपर से नीचे तक काम पूर्वक देखे तो विपुलसिद्धि प्राप्त करता है। पूजन के बाद योगी कर्पूरपान और मद्यपान करे तथा मांस भक्षण करे (१०-१५)।

१२. महातन्त्रराज मायाकल्प पटल

इसके बाद वज्री ने चार **अभिषेकों** के विषय में कहा - वज्र और घण्टा को लेकर आज भी शिष्य के लिए वज्र गुरु का संग्रह (उपयोगी कार्य) करो। जैसे बुद्धों द्वारा अतीत काल में बोधिसत्व अभिषिक्त किये गये वैसे ही मेरे द्वारा बोधिचित्त धारा से तुम गुह्याभिषिक्त हो रहे हो। रतिदा, सिद्धिदा, विश्वरूपा और मनोरमा इस देवी को ग्रहण करो और उसका आदर - सन्मान करो। यह ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, आकाश के समान स्वच्छ है, विरज है, मोक्षप्रापक है, शान्त है। तुम स्वयं अपने पिता हो। यह वज्रपद्माधिष्ठान मन्त्र है - ओं पदम सुखाधारा आदि ... (१-६)।

** ** **

७

वज्रतन्त्र परम्परा पर एक समग्र दृष्टिपात

पिछले पृष्ठों में हमने वज्रतन्त्र परम्परा का इतिहास, दर्शन और साधना क्रम पर विचार किया और उसे हेवज्रतन्त्र तथा योगरत्नमाला से परखा। यहां हम बौद्ध और बौद्धेतर परम्पराओं में तन्त्र का साधारण स्वरूप और उनपर बौद्धधर्म के प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। साथ ही आदान-प्रदान की ओर एक दृष्टिपात भी।

स्थविरवादी बौद्ध साधना और वज्रतन्त्र साधना

बौद्धधर्म की स्थविरवादी साधना में शमथ भावना और विपश्यना भावना महत्त्वपूर्ण हैं। शमथ भावना में साधक गुरू के पास जाकर अभ्यर्थना करता है और गुरू उसके अध्याशय अर्थात् चारित्रगत विशेषताओं के आधार पर चालीस प्रकार के आलम्बनों (कम्मट्ठान) में कोई एक आलम्बन उसे देता है जिसे **परिकर्म भावना** कहा जाता है। धीरे-धीरे साधक उदग्रह भावना, प्रतिभाग भावना और अर्पणा भावना और समाधि के माध्यम से रूपावचर प्रथम ध्यान प्राप्त कर लेता है और फिर इसी तरह अरूपावचर ध्यान की भी उपलब्धि हो जाती है।

ज्ञान की भावना **विपश्यना** भावना है। इसमें सात विशुद्धियां, दस विपश्यना ज्ञान, तीन विमोक्ष और तीन विमोक्षसुख ज्ञातव्य हैं। इससे चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है। उदय-व्यय-ज्ञान से फल समापत्ति हो जाती है और फिर वह स्रोतापत्ति सकृदागामी, अनागामी और अर्हदावस्था को प्राप्त कर लेता है, निरुपधिशेष निर्वाण को भी।

स्थविरवादी दर्शन और साधना का विकास आगे चलकर हीनयानी और महायानी दर्शन और साधना के रूप में हुआ। स्थविरवादी दर्शन जैनधर्म के समान शुद्ध निरीश्वरवादी था पर महायान दर्शन ईश्वरवाद की ओर झुकता गया। **महायान** के चार भेद हैं – १. सौत्रान्तिक, २. वैभाषिक, ३. माध्यमिक या शून्यवादी और ४. योगाचार या विज्ञानवादी। श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान हीनयानी परम्परा में हैं तथा बोधिसत्त्वयान महायानी परम्परा में।

सौत्रान्तिक बाह्यपदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी सत्ता अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नहीं। परन्तु वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) बाह्यार्थ की यथावत् प्रतीति मानते हैं। स्थविरवादी मात्र चित्त-चैतसिकों की क्षणिकता को स्वीकार करते थे, वैभाषिक बाह्य जगत् को भी किञ्चित् क्षणिक मानने लगे, परन्तु सौत्रान्तिक पूर्ण क्षणिकवाद

पर विश्वास करने लगे। इसलिए बहुपदार्थवादी बौद्धदर्शन कालान्तर में क्षणभंगवादी दर्शन बन गया।

हीनयान सम्प्रदाय में प्रथमतः पुद्गल नैरात्म्य के रूप में **शून्यवाद** माध्यमिक बौद्ध दर्शन के बीज मिलते हैं। महायान तक पहुंचते-पहुंचते पुद्गलनैरात्म्य के अतिरिक्त धर्मनैरात्म्य की कल्पना का विस्तार हुआ और शून्यवाद की स्थापना हुई। यही शून्यवाद निःस्वभाववाद बन गया। शून्यवाद के विपरीत विज्ञानवाद का उत्थान हुआ। तदनुसार जगत के पदार्थ शून्य भले ही हों पर शून्यात्मक प्रतीति के ज्ञापक विज्ञान को सत्य पदार्थ अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से इसे योगाचार कहा जाता है। आलयविज्ञान विज्ञानवाद का बहुचर्चित सिद्धान्त है। और योगाचार को अद्वैतवादी माना जाता है। इसी तरह माध्यमिक भी विज्ञानाद्वैतवादी और शून्याद्वैतवादी है। तथागत बुद्ध को भी अद्वयवादी कहा गया है और उसी आधार पर वज्रतन्त्र परम्परा को भी अद्वयवादी स्थापित किया गया है।

महायान साधना में बोधिचित्त द्वारा ६ या १० **पारमिताओं** की साधना की जाती है - दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा। इनमें प्रज्ञापारमिता विशेष महत्त्वपूर्ण है। उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान की भी प्रतिष्ठा इसी से होती है। यहीं साधक पुण्यसंभार और ज्ञानसंभारों को जुटाता है। नैरात्म्य साक्षात्कार के लिए दस **भूमियों** की भी व्यवस्था है - प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। इससे ज्ञान-साधना की जाती है। बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्तिकर त्रिविध कायों द्वारा बुद्धकृत्य करते हैं। इसी परमार्थ भूमि पर वज्रतन्त्र का विकास हुआ है।

वज्रतन्त्र, तन्त्रयान, मन्त्रयान, वज्रयान, उपाययान आदि शब्द समानार्थक हैं। इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। साधना की दृष्टि से **तन्त्र** के चार भेद हैं - क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग। **क्रियातन्त्र** में आन्तरिक ध्यान भावना की अपेक्षा बाह्य शारीरिक क्रिया, पूजा, उपासना आदि की प्रधानता रहती है। धारणी साधना भी इसी के अन्तर्गत आ जाती है। इसमें अनेक तन्त्र संग्रहीत हैं जिनमें संसिद्धि, सुबाहुपरिपृच्छा, ध्यानोत्तर तथा गुह्यसामान्यतंत्र प्रमुख हैं। ये सब मूलतन्त्र हैं।

चर्यातन्त्र का सम्बन्ध समाधि से है। वैरोचन अभिसम्बोधि ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें २६ अध्याय हैं। इसका उत्तरतन्त्र नामक एक और तन्त्र है जिसमें ७० अध्याय है। इसके अतिरिक्त 'वज्रपाणि-अभिषेक तन्त्र' भी प्रसिद्ध तन्त्र ग्रन्थ है।

योगतन्त्र में विशेषतः चार महामुद्राओं की व्याख्या की जाती है - महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा। 'तत्त्व संग्रह' नामक तन्त्र योगतन्त्र का मूलभूत ग्रन्थ है। साधनमाला आदि ग्रन्थ इसी के आधार पर लिखे गये हैं।

अनुत्तर योग तन्त्र का सम्बन्ध वज्रसत्त्व समाधि से है। इसके दो भेद हैं - मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। गुह्यसमाज पितृतन्त्र है और हेवज्रतन्त्र, चक्रसंवर, कालचक्र आदि मातृतन्त्र हैं। इन तन्त्रों में साधना की विविध विधियां बताई गई हैं जो चार भागों में विभक्त हैं - विशुद्धयोग (सहजकाय - प्रज्ञोपाय की साम्यावस्था), धर्मयोग (चित्तवज्र- ज्ञानकाय), मन्त्रयोग (वाग्वज्रसंभोगकाय), और संस्थानयोग। सरहपाद और तान्त्रिक नागार्जुन तन्त्रपरम्परा के प्रारम्भिक आचार्य माने जाते हैं।

तान्त्रिक नय के अनुसार साधना का आधार **महाकरुणा** ही है। वज्रपद की प्राप्ति उसका लक्ष्य होता है। उसका प्रायोगिक आधार है **मण्डल** जिसमें साधक तन्त्रनय के विधानों के अनुसार प्रवेश करता है। यह प्रायः समाधि द्वारा ही निर्मित होता है। जापान में तो मन्त्रनय के आधार पर दर्जनों सम्प्रदाय खडे हो गये।

तान्त्रिक साधना में **बिन्दुसिद्धि** एक विशिष्ट योग है। दीक्षा के बिना उसका अधिकारी नहीं बना जा सकता। पञ्च मकारों के प्रयोग से यहां साधना की जाती है। इनमें मैथुन अन्तिम मकार है जिससे स्पष्ट है कि तान्त्रिकों की दृष्टि में कामशक्ति कामकला स्वरूप है। उन्होंने भोग से योग की प्रणाली को विकसित किया है। बिन्दु का अर्थ है शुक्र। वह केन्द्रशक्ति है जो त्रिकोणात्मक है, इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपा है। बिन्दु शिव स्वरूप है और योनि अथवा त्रिकोण शक्ति स्वरूप है।

बौद्धाचार्यों के अनुसार वाम और दक्षिण **नाडियां** ललना एवं रसना कहीं जाती हैं जिनका सम्बन्ध प्रज्ञा और उपाय से है। वामनाडी का रक्त से और दक्षिण का शुक्र से सम्बन्ध रहता है। इनमें जबतक श्वास-प्रश्वास बहता है तबतक विकल्प अनियंत्रित रूप से चलता रहता है। विकल्पों पर ध्यान केन्द्रित करने से श्वास-प्रश्वास नियन्त्रित हो जाते हैं। मन को केन्द्रित करने के लिए मातृकाओं का उच्चारण किया जाता है, स्वरों का ललना में और व्यंजनों का रसना में ध्यान किया जाता है। तीसरी नाडी अवधूती है जो प्रज्ञा और उपाय के संयोजन की परिचायिका है। नाभि, हृदय, कण्ठ और सहस्त्रार में वह प्रवाहित होती रहती है। इनमें चार कमल हैं जो चार आनन्द के प्रतीक हैं।

जननेन्द्रिय में तीन नाडियां मिलती हैं। ललना और रसना अधोवर्तिनी हैं और अवधूती ऊर्ध्ववर्तिनी है। इन तीनों के केन्द्र में **बोधिचित्त** है, यही शुक्र है, यही महासुख है, प्रज्ञा-उपाय का परिणाम है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र के मिलन से जो अग्नि प्रदीप्त

होती है वह चण्डाली है, नैरात्म्य है। मूलाधार में 'अ' और सहस्रार में 'हं' है। दोनों के मिलने से अहं होता है।

बिन्दु की चंचलता संसार का कारण है। मन की स्थिरता से प्राण और बिन्दु में स्थैर्य हो जाता है। तदर्थ तन्त्र परम्परा में सस्त्रीक दीक्षा का विधान है, वह योगी-योगिनी का क्रीडा-स्थल है जिसे वे बिन्दु स्थिर करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। यहां चार **चक्र** माने गये हैं - निर्माणचक्र (नाभि अथवा योनिस्थित), धर्मचक्र (हृदयस्थित), सम्भोगचक्र (कण्ठस्थित) और महासुखचक्र (मस्तक स्थित)। योनि को ही कुण्डलिनी का आधार माना गया है। स्त्री-पुरुष संयोगजन्य आनन्द को यहां सामरस्य योग कहा जाता है, परमानन्द माना जाता है। बोधिचित्त अथवा शुद्धचैतन्य स्वभाव को **निर्वाण** कहा जाता है । प्रज्ञा शून्यता है, शक्ति है और चण्डाली योग कुण्डलिनी का ही रूपान्तर है। इस दृष्टि से वज्रतन्त्र परम्परा शैव तन्त्र परम्परा के समीप अधिक बैठती है।

योग परम्परा में साधारणतः छः **चक्रों** का वर्णन आता है –

१.	मूलाधारचक्र	-	गुदा के मध्यभाग के पास
२.	स्वाधिष्ठानचक्र	-	लिंगमूल के पास
३.	मणिपूरचक्र	-	नाभि के पास
४.	अनाहतचक्र	-	हृदय के पास
५.	विशुद्धचक्र	-	कंठ के पास
६.	आज्ञाचक्र	-	ललाट में दोनों भ्रकुटियों के पास

इनके अतिरिक्त कहीं कहीं ललनाचक्र (अवान्तर जिह्वा) घंटिका के पास, ब्रह्मरन्ध्रचक्र (मूर्धा के पास जिसे सोमचक्र भी कहते हैं) सुषुम्ना चक्र (सोमचक्र के ऊर्ध्व भाग में) तथा सहस्रार चक्र (परमपद) के भी नाम आते हैं।

वज्रतन्त्र और जैन तन्त्र परम्परा

जैन दर्शन में एक तैजस शरीर है जिसे तेजोलेश्या कहते हैं। इसे तेजोलब्धि भी कहा जाता है। स्वाभाविक तैजस शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता। पर तपोजनित तैजस शरीर शरीर के बाहर निकल सकता है। उसमें अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है जिसे तैजस समुद्घात कहते हैं - तैजस शरीर समूचे शरीर में रहता है पर उसके दो विशेष केन्द्र हैं - मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग। इसी को आभामण्डल

(ओरा) होता है। तैजस शरीर के पीछे एक और सूक्ष्मतर शरीर है कर्मशरीर। कुण्डलिनी जागरण का प्रश्न तेजोलब्धि से जुडा हुआ है। जैन संस्कृति में इसे 'महापथ' संज्ञा दी गई है। तपस्या, औषधि, संगीत, ध्यान आदि के माध्यम से उसे जाग्रत किया जाता है। यहां यह दृष्टव्य है कि जैन तन्त्र अहिंसक परम्परा का पूरी तरह से पालन करता रहा है। उसमें शैव और बौद्ध परम्पराओं के समान न तो पंचमकारों का प्रयोग हुआ है और न मारण-विद्वेषण के प्रयोगों को स्थान मिला है। बौद्धतन्त्र में जैसे तारा देवी को प्रमुखता दी गई है, जैन तन्त्र में पद्मावती को आधार मानकर साधना की जाती है। णमोकार मन्त्र के इर्दगिर्द अनेक मन्त्रों का भी विकास हुआ है पर उनसे आत्मिक शक्ति प्राप्त करने का ही ध्येय रहा है। इस ध्येय की प्राप्ति में साधक पूर्ण सदाचार मय जीवन व्यतीत करता है और रत्नत्रय का भलीभांति पालन करता है। इस दृष्टि से जैन तन्त्र परम्परा अन्य तन्त्र परम्पराओं से बिलकुल अलग है और पूर्ण विशुद्ध है। चाहे वह वैष्णव और वीर शैव परम्परा हो या पाशुपत, या शैव, शाक्त और बौद्ध परम्परा हो, कहीं भी आचार-विचार सम्यक् नहीं रहा। भोग से योग की ओर ही उनका विकास हुआ है जबकि जैन तन्त्र परम्परा सांसारिकता की ओर न मुडकर विशुद्ध आध्यात्मिक दिशा में ही विकसित होती रही है।

वज्रतन्त्र और शाक्त तन्त्र

संस्कृत कोशकारों ने तन्त्र शब्द के अनेक अर्थों की ओर संकेत किया है। साधारणतः उसका प्रयोग शास्त्र अर्थ में हुआ है। इसलिए षष्टि तन्त्र, गौतमतन्त्र, वैनाशिक तन्त्र, पूर्वतन्त्र (मीमांसा), उत्तरतन्त्र (वेदान्त) आदि जैसी शास्त्रीय शाखाओं के नामों से हम भलीभांति परिचित हैं। इन ग्रन्थों में प्रयुक्त तन्त्र शब्द में तन् धातु विस्तार या व्याख्या अर्थ में प्रयुक्त हुई है - तत्री या तन्त्री। आगम शब्द का भी इसी संदर्भ में प्रयोग हुआ है। साधारणतः तन्त्र के पूर्वोक्त दो भेद हैं - क्रियातन्त्र और योग तन्त्र। कहीं-कहीं विद्या और चर्या तन्त्र का भी उल्लेख हुआ है। मन्त्र, दीक्षा, पूजा, अभिषेक, तर्पण, होम, बलि आदि का सम्बन्ध भी तन्त्र प्रक्रिया से है जो अध्यात्म और रहस्य से जुडी रही है। धीरे-धीरे समाज में उसे भौतिकता से जोड दिया गया। वैदिक मन्त्रों में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पंच तान्त्रिक साधनों के शोधन की बात कही गई है। कृष्णानन्द के तन्त्रसार (१६-१७ वीं शती) में स्वतन्त्र तन्त्र, श्यामारहस्य, भैरवतन्त्र आदि का उल्लेख है। जिनमें इन साधनों का प्रयोग मिलता है। इनका प्रयोग होता रहा है षट्कर्मों के लिए- मारण, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, अभिचारण, विद्वेषण।

वज्रतन्त्र परम्परा और उसका देवकुल

प्रारम्भिक काल से ही भूत, पिशाचों से मुक्त होने के लिए और अपने शत्रुओं को नष्ट करने तथा भौतिक साधनों की प्राप्ति के लिए तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग होता रहा है देश विदेशों में। ऋग्वेद (1.154; vii. 59; iv. 40; x. 184) में अनेक स्थानों पर मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के सौभाग्यकाण्ड में तन्त्र-प्रक्रिया दिखाई देती है। कालिकुलार्णवतन्त्र, रुद्रयामल, तान्त्रिक, उपनिषद, यन्त्र चिन्तामणि, कौलशास्त्र, आदि के अतिरिक्त तैत्रेय संहिता (२.३.१), वाजसनेयी संहिता (७.३), कात्यायन श्रौतसूत्र (१०.४.३९), शत्पथब्राह्मण (१.१.१८, २०) आदि वैदिक ग्रन्थ भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। अभिचार, स्त्रीकर्म, पौष्टिक आदि तान्त्रिक क्रिया पद्धतियों का आकलन इन ग्रन्थों में हुआ है।

बौद्ध साहित्य में भी इनके उल्लेख खोजे जा सकते हैं। दीघनिकाय में पंचकामगुणदिट्ठधम्मनिब्बाणवाद का उल्लेख आता है। इसी तरह मज्झिमनिकाय का चुल्लधम्मसमादानसुत्त, कथावत्थु (२३.१-२), चुल्लवग्ग (५.१०.२), तेविज्ज-सुत्त, ब्रह्मजालसुत्त, ललितविस्तर (तेरहवां अध्याय) आदि को भी इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है जहां पंचमकारों के प्रयोग की पृष्ठभूमि दिखाई देती है।

कूर्मपुराण में भट्टोजिदीक्षित के तन्त्राधिकारी निर्णय के अनुसार तन्त्र के उद्भव के उल्लेख मिलते हैं। निर्वाणतन्त्र आदि में भी उल्लेख हैं पर पुराणों का कोई निश्चित समय नहीं है। प्राचीन शिलालेखों में भी तन्त्र के बीज दिखाई देते हैं। पल्लव राजा राजसिंहवर्मन (छठी शती) कालीन शैवागणों में तथा कैलाशनाथ मंदिर शिलालेख में भी तन्त्र का उल्लेख है। शंकराचार्य ने आनन्द लहरी (५.३१) में ६५ तन्त्रों का स्मरण किया है।

बौद्धतन्त्र कदाचित् और भी प्राचीन माने जा सकते हैं। इस संदर्भ में धारणी तन्त्र का पूर्ववर्ती रूप माना जा सकता है। फाह्यान ने ५ वीं शती में ऐसी धारणियों की एक सूची दी हैं जिसे बील ने प्रथम शती की सिद्ध की है। ह्यूनसांग के अनुसार मन्त्रयान की धारणी और विद्याधर पिटक महासांघिक (१-२ री ई. शती) संप्रदाय से संबद्ध थे। अमोघवज्र ने ७४६-७७१ ई. के बीच चीन में रहकर उष्णीषचक्रवर्तीतन्त्र, गरुडगर्भतन्त्र आदि ७७ तन्त्रों का अनुवाद किया। अतीश दीपंकर और पद्मसंभव की गणना कुशल बौद्ध तान्त्रिकों में की जाती है। तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु के बडे भाई असंग ने बौद्धधर्म में तन्त्र परम्परा

प्रारंभ की। आगे चलकर, कहा जाता है, सरह ने बुद्धकपालतन्त्र, लुइया ने योगिनीसञ्चर्या, कम्बल और पद्मवज्र ने हेवज्रतन्त्र, कृष्णाचार्य ने सम्पुटतिलक और ललितवज्र ने कृष्णयमारितन्त्र को प्रस्थापित किया।

सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों का मूल उद्देश्य है निर्वाण प्राप्ति और आत्मा को परमात्मा में विलीन करना। यहां वेदान्तिक ब्रह्म और बौद्ध दर्शन के शून्य को समानार्थक माना जाता है पर सिद्धान्ततः है नहीं। वहां संवृति (व्यवहार) और परमार्थ में भेद है। वैदिक साधना में पुरुष निष्क्रिय रहता है और स्त्री सक्रिय जबकि बौद्ध साधना इससे विपरीत है। जो भी हो, पर दोनों सिद्धान्त मनोविज्ञान परक हैं। वहां नैतिकता का आवरण नहीं है। वह तो निर्वाण प्राप्ति का सीधा और सरलतम उपाय है। यहां वेदान्तिक अद्वैतता को माध्यमिक शून्यता के साथ समन्वय करना भी उचित नहीं होगा। एच.पी. शास्त्री ने प्रतिभास और शून्यता को शिव और शक्ति के साथ बैठा दिया जो दार्शनिक दृष्टि से सही नहीं माना जा सकता। फिर भी यह माना जाता है कि बौद्ध तान्त्रिकता पर वैदिक तान्त्रिकता का प्रभाव है। पर यह भी पूणतः तथ्यपरक नहीं है। कौन प्राचीनतर है, यह निश्चित करना भी सरल नहीं है। शंकराचार्य का ब्रह्म शून्य के समीप आ गया इसलिए शंकराचार्य को प्रच्छत्र बौद्ध कहा जाने लगा। तथ्य यह है कि दोनों पृथक्-पृथक् हैं, भले ही हमें शून्यता में एक अति आत्मा के दर्शन दिखाई देते हैं। वज्रयान में तो शून्यता को वज्र माना गया है और इसी वज्र को ब्रह्म के समकक्ष बैठा दिया है चौरासी सिद्धों ने एक साधारण साधक की आखों में और संयुक्तिक सहज के परिप्रेक्ष्य में।

साधारणतः चित्त, मन और विज्ञान को पर्यायार्थक माना जाता है जो नहीं है। गुह्यसमाजतन्त्र में स्वभाव और हेतु को समानार्थक माना है। उसे वस्तु के साथ नहीं जोडा है। अगेहानन्द भारती ने समन्वय की दृष्टि से 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' (मु. उप.) का स्मरणकर वसुबन्धु की त्रिंशिका को प्रस्तुत किया है - न च संचित अवयवसंहितमात्रादन्यद् विद्यते तदवयवं अपोहसंचितकर-विज्ञानभावात् । इस दृष्टि से कि 'पूर्ण' - अपने भाग से बिलकुल पृथक् नहीं है।

तारा देवी कला के क्षेत्र में लगभग छठी शती में आई कुलाचार, कल्पद्रुमतन्त्र, तन्त्रराजतन्त्र, महाकौलज्ञानविनिर्णय, परमेश्वरतन्त्र आदि कौल तन्त्रों का समय लगभग आठवीं शती माना जाता है। वैष्णवतन्त्रों की भी एक लम्बी परम्परा है शैव तन्त्रों के समान।

इनमें कुलार्णवतन्त्र (२.११७-११८) में पंचमकारों को विहित माना गया है। बौद्धों ने शायद यहीं से उन्हें ग्रहण किया है।

तान्त्रिक सम्प्रदायों में शैव, वैष्णव और शाक्त ये तीन मुख्य माने जाते हैं। इनके कापालिक, लिंगल, नाकुल, वीर, पशु, क्षपणक, कौल, पाञ्चरात्र, आदि अनेक उपसम्प्रदाय हैं। इन तन्त्र सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों में आदान-प्रदान होता रहा है। इसलिए बौद्ध तन्त्र पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इन सभी का प्रभाव दिखाई देता है। इतना स्पष्ट होने बाद बौद्ध देवकुल की यथार्थ स्थिति को समझना सरल हो जायेगा।

तारा देवी वैदिक और बौद्ध, दोनों तान्त्रिक सम्प्रदायों में मान्य है। तारापति शिव का दूसरा नाम है। फेटकारिणी तन्त्र में तारा को उग्रतारा कहा गया है। बौद्ध देवी तारा वस्तुतः नामसाम्य भले ही हो पर बिलकुल अलग है इन सभी से। उग्रतारा जैसा नाम बौद्धदेवी कुल में महाचीनतारा के नाम में भी दिखाई देती है। पर उग्रतारा को नेपाल में शंकरी, शिवपत्नी के रूप में पूजा जाता है। अतः बौद्धतारा एक स्वतन्त्र देवी के रूप में स्वीकारी जाना चाहिए। इसे नील सरस्वती और अक्षोभ्य देवीमूर्धन्या भी कहा जाता है।

हेवज्रतन्त्र में **हेवज्र** को अत्यन्त गुह्य माना है। वह वज्रसत्त्व (प्रज्ञायुक्त), महासत्त्व (काय, वाक्, हृदय से युक्त) और समयसत्त्व का सार है (१.१)। वह अभेद्य है इसलिए वज्र है। हे अर्थात् महाकरुणा, वज्र अर्थात् प्रज्ञा। इस तरह हेवज्र प्रज्ञोपायात्मक है (१.१.५)। तन्त्र के तीन प्रकार हैं - हेतु, फल और उपाय। उसका सामर्थ्य बहुत है - दृष्टि, आकृष्टि, प्रतीक ज्ञान, स्तम्भन, उच्चाटन, सैन्यस्तम्भन आदि। वह हेरुक (देवता मूर्ति भावना) की उत्पत्ति का कारण है (१.१.११०)। हेवज्र का वर्ण नीलारुण, नेत्र रक्तबन्धुक, केश पिंगवर्ण व ऊपर उठे हुए, शरीर पंच मुद्राओं से अलंकृत, दृष्टि क्रुद्ध, व्याघ्रचर्म से शरीर वेष्टित, आकृति सोलह वर्षीय तरुण जैसी, बायें हाथ में वज्रकपाल और खट्वांग, दक्षिण हाथ में कृष्णवज्र है। (विस्तार से देखें, हे. १.१.३.१२-१६ चतुर्थ पटल, २.५.१-३, २.५.४.२८)। वहां श्रीहेरुक का भी अर्थ दिया है। श्री का तात्पर्य अद्वयज्ञान, हे का अर्थ सर्वधर्मशून्यता, रु का तात्पर्य वितर्कमुक्त अवस्था, क अर्थात् अप्रतिष्ठित स्थिति सूचक निर्वाण। इसका स्वरूप वर्णन देखिये - २.९.१०-१३। यहां तथागत के परिवार का भी अच्छा वर्णन है। उनके ५ उत्तमकुलों और ५ मुद्राओं को भी स्पष्ट किया गया है।

इसके साथ ही वज्रा (१.१.२), गौरी (१.१.२), वारियोगिनी, वज्रयोगिनी, नैरात्म्या, खेचरी, भूचरी, चौरी, वेताली, घस्मरी, पुक्कसी, शबरी, चण्डाली, डोम्बी आदि देवियों के स्वरूप का वर्णन है (१.१.३.८-१०, २.५.३०)। कुरुकुल्ला देवी की प्रकृति (१.१.११.०), देवों के राग, द्वेष, मोह परिवार आदि का सुन्दर विवेचन है हेवज्रतन्त्र में (२.४.१५-१९)।

तान्त्रिक साहित्य में कुब्जिकातन्त्र, ब्रह्मायामल, संमोहतन्त्र, कालिविलास-तन्त्र, कर्पूरादिस्तोत्रम्, कौलावलिनिर्णय, साधनमाला, शक्तिसंगम जैसे अनेक और भी तन्त्र ग्रन्थ हैं जिनमें तान्त्रिक देवी-देवताओं का आकलन है।

इन्हीं तान्त्रिक ग्रन्थों से मिलता-जुलता वज्रतन्त्र परम्परा का ग्रन्थ है **साधनमाला** जिसमें बौद्ध देवता कुल का अच्छा विवरण दिया गया है। डॉ. बी. भट्टाचार्य ने मूलतः इसी के आधार पर Indian Buddhist Iconography नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है। इन ग्रन्थों से बौद्ध देवता कुल का अच्छा परिचय मिल जाता है। इसे हम पीछे विस्तार से देख ही चुके हैं। यहां उसी का संक्षिप्तीकरण है। शाक्त परम्परा को समझने के बाद वज्रतान्त्रिक देवताकुल पर दृष्टिपात करना सरल हो जायेगा।

प्रारम्भिक बौद्धतन्त्र में ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, नाग, यक्ष आदि वैदिक देवता बुद्ध की पूजा करते दिखाई देते हैं। बोध गया, सांची, भारहुत, अमरावती आदि नगरों में प्राप्त रेलिंग्स में इनका अंकन हुआ है। मथुरा, सारनाथ, ओदन्तपुरी, नालन्दा, विक्रमशिला, अजन्ता, ऐलोरा, काठमाण्डु आदि स्थानों में प्राप्त बौद्ध मूर्तियां भी इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है।

यहां हम विशेष रूप से वज्रतन्त्र परम्परा में मान्य बौद्ध **देवता कुल** के बारे में विशेष विचार करेंगे। इसका प्रारंभ इन्द्रभूति काल (७००-७५० ई.) से हुआ है। इसके पूर्व किसी भी महायानी साहित्य में पंचध्यानी बुद्धों का नामोल्लेख नहीं हुआ, भले ही उनका विकास धीरे-धीरे होता रहा हो। ये **पंच ध्यानी बुद्ध** हैं - वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमिताभ, और अमोघसिद्धि। वज्रसत्त्व का भी नाम आता है छठे ध्यानीबुद्ध के रूप में। पर वह वस्तुतः पांचों का पुजारी है, वज्र और घण्टा उसके हाथ में है। ये बुद्ध स्तूप के चारों ओर स्थापित किये जाते हैं और वैरोचन का स्थान उसके भीतर रहता है। इन ध्यानी बुद्धों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

१. अमिताभ

अमिताभ प्रमुख ध्यानी बुद्ध हैं। नेपाल में इन्हें चतुर्थ ध्यानी बुद्ध माना जाता है। इनका रंग लाल, राजकीय चिन्ह कमल, मुद्रा समाधि, वाहन दो मयूर, बुद्धशक्ति पाण्डरा, बोधिसत्त्व पद्मपाणि है। **अवलोकितेश्वर** भी अपने पन्द्रह प्रकारों के साथ अमिताभ के बोधिसत्त्व हैं - १) षडक्षरा लोकेश्वर-रंग सफेद, मुद्रा अञ्जलि, चार हाथ, चिन्ह कमल, २) सिंहनाद-रंग सफेद, आसन महाराजलीला (अर्धपर्यंक), वाहन सिंह, आभूषण के बिना हाथों में कृपाण और सर्प लपटा त्रिशूल, ३) खसर्पण - रंग सफेद, मुद्रा वरद, चिन्ह कमल, आसन ललित साथ में तारा, सुधनकुमार, भृकुटी, और हयग्रीव, ४) लोकनाथ - रंग सफेद, मुद्रा वरद, चिन्ह कमल, आसन ललित, साथ में आठ देव- मैत्रेय, क्षितिगर्भ, वज्रपाणि, खगर्भ, विष्कंभिन्, सामन्तभद्र, मञ्जुघोष, गगनगञ्ज, चार देवियां - धूपा, पुष्पा, गन्धा, दीपा, चार रक्षक - वज्रांकुशी, वज्रपाशी, वज्रस्फोटा, वज्रघण्टा, ५) हालाहल - रंग सफेद, हाथ छः, मुखस्थिति तीन, शक्ति प्रज्ञा, ६) पद्मनरतेश्वर - मुखस्थिति एक, हाथ अठारह, कमल सहित, आसन अर्धपर्यंक, रंग लाल, मुद्रा सूची, वाहन पशु, शक्तियां आठ, ७) हरिहरि हरिवाहन लोकेश्वर - रंग सफेद, हाथ छः, वाहन - सिंह, गरुड या विष्णु, ८) त्रिलोक्यवशंकर - रंग सफेद, हाथ चार, शक्ति - तारा और भृकुटी, हाथ दो, चिन्ह कमल, मुद्रा कमल, १०) मायाजालक्रम अवलोकितेश्वर - मुखस्थिति पांच, आसन प्रत्यालीढ, हाथ बारह, रंग नीला, हाथों में डमरू, खट्वांग, वज्र, वाण, कपाल आदि, ११) नीलकण्ठ- रंग पीला, मुद्रा समाधि, आसन वज्रपर्यंक, चिन्ह - मणि, हाथों में कपाल, आभूषण विरहित, १२) सुगतिसन्दर्शन लोकेश्वर - रंग सफेद, हाथ छः, मुद्रा अभय, १३) प्रेतसंतर्पित लोकेश्वर - रंग सफेद, हाथ छः, मुद्रा वरद, १४) सुखावती लोकेश्वर- मुखस्थिति तीन, आसन ललित, हाथ छः, शक्ति तारा, रंग सफेद, १५) वज्रधर्म लोकेश्वर - रंग सफेद (लालिमा लिये), वाहन मयूर। नेपाल, बंगाल, आदि में इन सभी अमिताभ ध्यानी बुद्धों की मूर्तियां मिलती हैं।

मञ्जुश्री भी एक प्रधान बोधिसत्त्व देवता माने जाते हैं। सुखावती व्यूह में सर्वप्रथम उनका उल्लेख हुआ है। बाद में फाह्यान, ह्यूनसांग आदि ने भी उनका विवरण दिया है। सारनाथ, मगध, बंगाल, नेपाल आदि में इनकी मूर्तियां पायी जाती हैं। स्वयंभूपुराण में मञ्जुश्री का विस्तृत वर्णन मिलता है। उन्हें चीन का माना जाता है। कोई उन्हें अमिताभ से जोडता है तो कोई अक्षोभ्य से। अतः यह भी कहा जा सकता है कि वे एक स्वतन्त्र देवता रहे हैं। फिर भी हम उन्हें अमिताभ से जुडा अधिक मानते हैं। उनकी प्रतिमा जीभ और मुकुट पर रहती है। पहली वाक् है और दूसरी वागीश्वर कहलाती है।

मञ्जुश्री की १४ विभिन्न नाम से प्रतिकृतियां मिलती हैं - वागीश्वर, मञ्जुवर, मञ्जुघोष, अर्पचन, सिद्धैकवीर, वाक्, मञ्जुकुमार, वज्रानंग, वादिरात, नामसंगीति, धर्मधातु - वागीश्वर, स्थिरचक्र, मञ्जुनाथ और मञ्जुवज्र। साधारणतः मञ्जुश्री अपने हाथों में कृपाण और पुस्तक लिये रहते हैं। इन सभी के अलग-अलग रंग, मुद्रायें, वाहन, हाथ, आसन, पोषाक आदि उत्कीर्ष मिलते हैं।

साधनमाला में इनके अतिरिक्त दो और देवताओं के नाम मिलते हैं जिन्हें अमिताभ कुल का कहा जाता है। वे है - महाबल और सप्तशतिक ह्यग्रीव। ये दोनों लाल रंग के हैं, भयंकर हैं, वज्र और दण्ड लिये हैं, प्रत्यालीढ आसन में हैं।

अमिताभ ध्यानी बुद्ध की तीन **देवियां** हैं - कुरुकुल्ला, भृकुटी और महासितवती। कुरुकुल्ला की मुखस्थिति एक ही है पर हाथ दो, चार, छह और आठ हैं जिन्हें क्रमशः तारोद्भव कुरुकुल्ला, ओड्डियान कुरुकुल्ला, हेवज्रक्रम कुरुकुल्ला और कल्पोक्त कुरुकुल्ला। वशीकरण से इस देवी का अधिक संबन्ध है। उसका वाहन, शव, कामदेव आदि हैं, आसन अर्धपर्यंक, वज्रपर्यंक आदि हैं और रंग लाल है। अमिताभ की शक्ति पाण्डरा और बोधिसत्त्व पद्मपाणि हैं।

२. अक्षोभ्य

अक्षोभ्य ध्यानी बुद्ध का नाम अमितायु सूत्र में सर्वप्रथम तथागत के रूप में आता है जिसका चीनी अनुवाद ३८४ और ४१७ ई. के बीच हुआ। नेपाली बौद्धतन्त्र में उन्हें द्वितीय क्रमांक पर रखा गया है। उनका रंग नीला, मुद्रा भूमिस्पर्शी, चिन्ह वज्र, वाहन गजयुगल, बुद्धशक्ति लोचना और बोधिसत्त्व वज्रपाणि हैं। इनका देवताकुल सर्वाधिक बडा है। आकृति और कृत्य भयंकर हैं, त्रिनेत्र, निकली हुई लम्बी जीभ, गले में कपाल माला, मृगचर्म और सर्प लपेटे हैं। अक्षोभ्य के **नव देव** हैं - चण्डरोषण, हेरुक, बुद्धकपाल, संवर, हयग्रीव, रक्तयमारि, कृष्णयमारि, जम्भल और उच्छुष्म जम्भल। इनमें **हेरुक** विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनके दो या चार हाथ, रंग नीला, आसन अर्धपर्यंक, वाहन शव, चिन्ह वज्र और कपाल हैं, आंखें लाल हैं, अस्थि कुण्डल पहने हैं, हाथों में खट्वांग, कृपाण आदि हैं। अक्षोभ्य की शक्ति लोचना और बोधिसत्त्व वज्रपाणि हैं।

अक्षोभ्य का **देवीकुल** भी लम्बा है। देवों के समान वे भी भयंकर हैं। उनकी संख्या ग्यारह है - महाचीन तारा (उग्रतारा), जांगुलि, एकजटा, विद्युज्जालाकराली, पर्णशवरी, प्रज्ञापारमिता, वज्रचर्चिका, महामन्त्रानुसारिणी, महाप्रत्यंगिरा, ध्वजाग्र-केयूरा, वसुंधारा, नैरात्म्या। साधारणतः इन सभी के साथ शव,

कपाल, कर्तरी, खट्वांग कृपाण, चक्र, परशु, त्रिशूल, आदि तत्त्व जुडे हैं। अनेक हाथों में उनकी शोभ है, रंग लाल पीला, सफेद, हरा है, मुखस्थितियां भी बारह तक हैं।

३. वैरोचन

नेपाली बौद्धधर्म में वैरोचन को प्रथम ध्यानीबुद्ध माना गया है। उनका रंग सफेद, चिन्ह चक्र, मुद्रा धर्मचक्र, वाहन नक्र युगल है। साधनमाला के अनुसार उनका मात्र देवीकुल है, देवकुल नहीं। वैरोचन मन्दिर के तथागत हैं इसलिए उनकी देवियां भी मन्दिर के भीतर रहने वाली हैं। ये **देवियां** पांच हैं उनमें मारीचि मुख्य है जिसके आर्यमारीचि, मारीचिपिचुवा, उभयवराहानन मारीचि, दशाभुजसित मारीचि, वज्रधात्वीश्वरी मारीचि जैसे भेद हैं। इन के रूपों की मुखस्थितियां छः तक हैं। वे भयंकर हैं, अनेक हाथ हैं। उन हाथों में वज्र, कपाल आदि हैं। इसके अतिरिक्त देवियां हैं - उष्णीषविजया, सितातपत्रा अपराजिता, महासाहस्त्रमर्दनी, और वज्रवाहारी। वैरोचन की शक्ति वज्रधात्वीश्वरी और बोधिसत्त्व सामन्तभद्र हैं।

४. अमोघसिद्धि

नेपाली बौद्धधर्म में इन्हें पंचम ध्यानीबुद्ध माना जाता है। उनका रंग हरा, मुद्रा अभय, चिन्ह विश्ववज्र और वाहन गरुड युगल है। कभी पीछे सर्पफण भी रहता है। इनकी सात **देवियां** हैं - खदिरवणी तारा, वश्यतारा, षड्भुज सिततारा, धनदतारा, पर्णशवरी, महामायूरी, वज्रश्रृंखला। इन देवियों के अनेक हाथ और अनेक मुख हैं। अमोघसिद्धि की शक्ति आर्यतारा और बोधिसत्त्व विश्वपाणि है।

५. रत्नसंभव

नेपाली बौद्धधर्म में इन्हें तृतीय ध्यानी बुद्ध माना जाता है। इनका रंग पीला, मुद्रा वरद, चिन्ह मणि, वाहन सिंहयुगल है। रत्नसंभव का आहरण अपेक्षाकृत बाद में हुआ है। इसलिये इनका देवकुल बहुत छोटा है। मात्र दो देव और दो देवियां हैं। दो **देव** हैं - जम्भल। दो **देवियां** हैं - महाप्रतिसरा और वसुधारा। रत्नसंभव का बोधिसत्त्व रत्नपाणि और शक्ति मामकी है।

इन पांचों ध्यानी बुद्धों के सामुदायिक रूप से जंबल और महाकाल नामक दो देवों का उद्भव हुआ है। इनके हाथों में कपाल और कर्तरी रहते हैं, आकृति भयंकर हैं। पांचों के समुदाय से चार देवियों का भी उद्भव हुआ है - वज्रतारा, प्रज्ञापारमिता, मायाजालक्रम कुरुकुल्ला और सिततारा।

६. वज्रसत्त्व

नेपाल के वज्राचार्यों ने पुरोहित के रूप में वज्रसत्त्व को छठा ध्यानी बुद्ध मान लिया है। पर उसे स्तूप में स्थान नहीं दिया गया पंच ध्यानी बुद्धों के समान, बल्कि स्वतन्त्र मंदिर बनाये गये उसकी पूजा के लिए। त्रिचीवर के स्थान पर वह राजकुमार की पोषाक पहने हैं, मुकुट भी धारण किये हुए हैं। हाथों में वज्र, घण्टा और कपाल लिये ध्यानासन में बैठे है। इनका देव है जम्भल और देवी है चुन्दा। वज्रसत्त्व का बोधिसत्त्व घण्टापाणि और शक्ति वज्रसत्त्वात्मिकी है।

इनके अतिरिक्त पंचरक्ष मण्डल की पांच **देवियां** हैं - महाप्रतिसरा, महासाहस्त्रप्रमर्दनी, महामन्त्रानुसारिणी, महामायूदी, और महासितवती। चार ध्यानी बुद्धों के समुदाय से **वज्रतारा** का उद्‌भव माना जाता है। साधनमाला में तारा नाम से अनेक देवियों का उल्लेख मिलता है।

अन्य देवकुल

वज्रतन्त्र परम्परा में कुछ देवों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। उनका किसी ध्यानी बुद्ध से सम्बन्ध नहीं है। ऐसे देवों में गणपति, विघ्नान्तक, वज्र हुंकार, भूतडामर, वज्रज्वालानलार्क, त्रैलोक्यविजय, परमश्व, नामसंगीति। इसी तरह की कुछ देवियां भी हैं। जैसे सरस्वती, महा-सरस्वती, वज्रवीणा सरस्वती, वज्रशारदा, आर्य सरस्वती, वज्रसरस्वती, अपराजिता, वज्रगांधारी, वज्रयोगिनी, गृहमातृका, गणपतिहृदया।

जहां तक मर्त्य बुद्धों का प्रश्न है, **गौतम बुद्ध** एक ऐतिहासिक व्यक्तत्वि थे जिन्होंने बौद्धधर्म की स्थापना की छठी शताब्दी ई. पू. में। हीनयानी और महायानी बौद्ध यह मानते हैं कि उनके बत्तीस महालक्षण और अस्सी अनुलक्षण थे। इसके साथ ही उनकी तीन मानसिक शक्तियां दश बल, अठारह आवेणिक धर्म और चार वैशारब्दन जैसी विशेषतायें भी जुडी हुई रहती हैं।

बाद में हीनयान में **चौबीस** भूतकालीन बुद्धों की कल्पना का विकास हुआ। महायानियों ने भी बाद में बत्तीस नामों की सूची प्रस्तुत की जिसमें अन्तिम **सात** नाम **मानुषी बुद्धों** के नाम से बहुत प्रचलित हैं। वे हैं - विपश्यिन्, सिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि, कश्यप और शाक्यमुनि। इनमें अन्तिम बुद्ध ऐतिहासिक हैं। इन सात बुद्धों की सात मर्त्य शक्तियां हैं - विपश्यन्ती, शिखिमालिनी, विश्वंधरा, ककुद्वती, कण्ठमालिनी, महिधरा, यशोधरा। इसी तरह सात मर्त्य **बोधिसत्त्च** हैं - महामति, रत्नधर, आकाशगंज, शकमंगल, कनकराज, धर्मधर और आनन्द। इसके साथ

ही मैत्रेय को भावी बुद्ध के रूप में स्वीकारा गया है। इन सभी की मूर्तियां भारतीय बौद्ध कला और साहित्य में उपलब्ध हैं।

तन्त्र - पीठ

तान्त्रिक साहित्य में तान्त्रिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थानों को 'पीठ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। एक पौराणिक कथा है कि दक्ष प्रजापति ने एक यज्ञ किया पर उसमें शिव और उनकी पत्नी सति को निमन्त्रित नहीं किया। सति फिरभी उसमें संमिलित हुई पर उसे बडा अनादर झेलना पडा। फलतः उसकी मृत्यु हो गई। शिव ने क्रोधित होकर दक्ष का यज्ञ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बाद में उन्मत्त अवस्था में सति के शव को कंधे पर रखकर नृत्य करते हुए घूमते रहे। ब्रह्मा, विष्णु और शनि ने अपने योग से उस शव में प्रवेश कर उसे इधर-उधर गिरा दिया। शव के टुकडे जहां-जहां गिरे वहां वहां 'पीठ' स्थापित हो गये। उन्हीं को शाक्त तीर्थ भी कहा जाने लगा (देवी भागवत पुराण, ३०; कालिका पुराण, १८) इस पौराणिक कथा को तथागत बुद्ध के अस्थियों पर निर्मित स्तूप के साथ जोडा जा सकता है।

तान्त्रिक साहित्य में चार तन्त्र-पीठों का नाम आता है जिनसे महादेवियों का सम्बन्ध रहा है। वे हैं - कोल्हापुर में महालक्ष्मी, शोलापुर के पास भवानी, मतपुर में रेणुका, और अहमदनगर में योगेश्वरी। चतुष्पीठतन्त्र (१२ वीं शती) के आधार पर सिरकार ने बौद्धों की चार पीठों का उल्लेख किया है - आत्मपीठ, परपीठ, योगपीठ और गुह्यपीठ। इनमें गुह्यपीठ का सम्बन्ध वज्रतन्त्र परम्परा से है जहां वज्रसत्त्व योगनियों के साथ संभोगक्रीडा करते थे। हेवज्रतन्त्र के छोमापीठ पटल में ऐसे चार पीठों का उल्लेख है - जालन्धर, ओड्डियान, पौर्णगिरि (मलय) और कामरूप। मालव, सिन्धु और पाटलिपुत्र को उपपीठ कहा जाता था। यहां क्षेत्र, उपक्षेत्र, ग्रामान्त, नगरान्त, उपपीळव, श्मशान और उपश्मशान का भी उल्लेख है। इसी तरह के उल्लेख कालिका पुराण (६४.४३-४५) और कुब्जिका तन्त्र में भी आते हैं। ये पीठादि स्थान मिलन केन्द्र थे योगी-योगनियों के।

मन्त्र परम्परा

तन्त्र परम्परा के साथ मन्त्र परम्परा भी अविच्छिन्न रूप से जुडी हुई है। मन्त्र का सम्बन्ध मनन और चिन्तन से रहा है। ऋग्वेद में ऐसे अनगिनते मन्त्रों का उल्लेख है। पालिपिटक परित्त मन्त्रों से मिलते-जुलते हैं। धारिणी भी मन्त्र जैसी ही हैं। वैदिक उद्धरण को भी मन्त्र कहा जाता रहा है। इस दृष्टि से उदान और त्रिशरण को मन्त्र की

परिधि में लिया जा सकता है। अन्तर यह है कि ये सार्थक पंद हैं पर मन्त्र में अर्थ खोजना बडा कठिन है। उनके ह्री हीं आदि बीजाक्षर वस्तुतः अर्थहीन होते हैं।

उपनिषद् परम्परा में जिसप्रकार 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' का उच्चारण किया जाता है उसी प्रकार वज्रयान में 'ओम् शून्यता-ज्ञान-वज्र-स्वभावकोऽहम् ' की पुनरावृत्ति की जाती है। ये सब संक्षिप्त रूप हैं·। धारणी और कवच भी वस्तुतः ऐसे ही हैं। गुरु के सन्निध्य से ही मन्त्र-सिद्धि की जाती है । इन मन्त्रों में रहनेवाले बीजाक्षरों के विषय में कुछ निश्चित कहना तो कठिन है पर हां, इतना अवश्य है कि वे कभी इष्ट देव के नाम पर, कभी भावनात्मता के आधार पर, ध्वनि के आधार पर प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणतः 'फट् ' बीजाक्षर आक्रमणात्मक है, वषट् या वौषट् किसी शक्ति को शमन करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी तरह कृष्ण के लिए क्रीं, मदन के लिए क्लीं, लक्ष्मी देवी के लिए श्रीं का प्रयोग हो सकता है। इसे अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। ह का अर्थ हर (शिव), र का अर्थ प्रकृति और बिन्दु दुःखशामक का प्रतीक है। इन बीजों को सन्धा या सन्ध्याभाषा के संदर्भ में इस प्रकार देखा जा सकता है -

ओम्	=प्रणव, तार, सेतु	क्लीं	=कामबीज, मदन, रतिपति
ह्रीं	=मायाबीज		
रं	=वह्नि, रक्त	क्रीं	=आद्य, कालि-बीज
हूँ	=कूर्च (ढेर)	श्रीं	=लक्ष्मीबीज
ऐं	=वह्निजाया	हुं	=वर्म (योद्धा)
फट्	=अस्त्र	ऐं	=योनिबीज

बौद्धतन्त्र परम्परा में 'ओं हूँ फट् ' का प्रयोग प्रायः ध्यानी बुद्धों की पूजा अथवा कुरुकुल्ला देवी की पूजा के समय किया जाता है शून्यता को स्वीकार करने के उद्देश्य से। वैदिक परम्परा में इसका प्रयोग काली, दुर्गा के लिए बली देते समय किया जाता है। इसी तरह 'ओं आः हूँ' मन्त्र बौद्ध परम्परा में मूल मन्त्र-सा है।

पारम्परिक दृष्टि से मन्त्रों का विभाजन न्यास, हृदय, पीठ आदि भेद से किया जाता है पर ये भेद उतनी स्पष्टता नहीं ला पाते। महानिर्वाणतन्त्र के टीकाकार पं. जगन्मोहन तर्कालंकार ने उनका विभाजन **हादि** और **कादि** रूप में किया है। ह से प्रारंभ होने वाले वैदिक मन्त्र हादि और क से प्रारंभ होने वाले मन्त्र कादि हैं। हादि मन्त्र मुक्ति

प्राप्त कराने वाले होते हैं और कादि मन्त्र भौतिकता देने वाले। यह भेद बौद्ध परम्परा में नहीं दिखाई देता।

अगेहानन्द भारतीने भी मन्त्रों का विभाजन दो भागों में किया है - औपचारिक या क्रमसंगत (Formal) तथा भौतिक (Material) औपचारिक या क्रमसंगत मन्त्रों में कुछ ऐसे होते हैं जिनमें बीजाक्षर अपरिवर्तित रहते हैं (Symmetrical) जैसे "ओं फट् स्वाहा ।" ये संसार रोग को दूर करने वाले होते हैं। बौद्धमन्त्रों की अपेक्षा वैदिक मन्त्र ऐसे अधिक हैं। इसी श्रेणी में समरूप (Isomorphemic) और विषमरूप (Heteromorphemic) वाले मन्त्र होते हैं । समरूप हैं "ओं ह्रीं क्लीं स्वाहा" और विषमरूप हैं - "ह्रीं ह्री ऐं क्लीं स्वाहा ।" प्रथम में भावनात्मकता अधिक होती है इसलिए उसमें जप कम होते हैं और दूसरे में भावनात्मकता कम होती है इसलिए जप अधिक होते हैं ।

कुछ भौतिक मन्त्रों में बीजाक्षर सार्थक होते हैं जैसे नमः शिवाय। कुछ न्यास, प्रतिष्ठा आदि मन्त्र होते हैं जो मिश्रित हैं। साधनमाला आदि बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों में 'तुत्तारे तुरे' मन्त्र तारादेवी के लिए मिलता है।

बौद्धतन्त्र में 'ओं आः हुँ' मूलमन्त्र है जो अभिज्ञात्मक है, उपार्जनात्मक नहीं। तिब्बती परम्परा में यह अधिक मान्य है। ये बीजाक्षर काय, वाक्, चित्त के प्रतीक हैं और वैरोचन, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य ध्यानी बुद्धों के प्रतीक। तिब्बती परम्परा में ही "ओं मणिपद्मे हुँ" मन्त्र बडा लोकप्रिय है। कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनमें योगनियों के नाम जुडे रहते हैं जैसे "ओं वज्रपुष्पे हूँ'। वज्रधात्वीश्वरी, हेरम्बा, वज्रसरस्वती, एकजटा, पण्डाखासिनी, तारिणी आदि देवियाँ मन्त्रों में जुडी हुई हैं।

मन्त्र-तन्त्र परम्परा में **दीक्षा** एक आवश्यक तत्त्व है जिसमें साधक स्वयं को अध्यात्म के लिए समर्पण कर देता है। मन्त्र और तन्त्र में भी गुरु द्वारा दीक्षा दी जाती है और फिर उसका अभिषेक भी किया जाता है। बौद्धतन्त्र परम्परावादी ग्रन्थ प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि (पृ. ३) में शिष्य अपनी महामुद्रा के साथ गुरु के पास पहुंचकर दीक्षा प्रदान करने की अभ्यर्थना करता है और गुरु उसकी अधिकारिता का परीक्षण कर उसे दीक्षित करता है।

सन्ध्याभाषा वस्तुतः मन्त्र-तन्त्र का ही एक अभिन्न अंग है। कुछ विद्वानों ने सन्धाभाषा शब्द का प्रयोग किया है पर अब अधिकांश विद्वान सन्ध्याभाषा शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं जिसका अर्थ है सांकेतिक भाषा। हेवज्रतन्त्र के द्वितीयकल्प के तृतीयपटल में भी सन्ध्याभाषा (गुह्यभाषा) शब्द का ही प्रयोग हुआ है। यह पूरा पटल इस

दृष्टि से उपयोगी है। इसका नाम ही हेवज्रतन्त्रनिदान सन्ध्याभास है। इसमें संवर, एवं वज्रसाधना, मण्डल, चक्र, आयतन, चर्या, संयभाभाव आदि को स्पष्ट करते हुए सन्ध्याभाषा को स्पष्ट किया है जिसका प्रयोग संकेत या गुह्य रूप में योगनियों के संघ में होता था (५२-६७)। वहां कहा है कि मद्य का तात्पर्य मदन (काम) है, बल मांस है, मलयज मिलन है, खेट गति है, शव आश्रय है, अस्थ्याभरण नग्नता है। पाठक इसे विस्तार से मूल भाग में देख लें। तन्त्र परम्परा में सन्ध्याभाषा का प्रयोग एक अनिवार्य शर्त है। इसमें गुप्त संकेतों से अपने अभिप्राय की अभिव्यक्ति की जाती है। जो इनका प्रयोग नहीं करता उसकी पवित्रता और धार्मिक शक्ति समाप्त हो जाती है। इसे हमने प्रतीक पद्धति पर विचार करते समय स्पष्ट किया है। इसका प्रयोग संभोग के समय अथवा अभक्ष्य भक्षण के समय अधिक किया गया है। सन्ध्याभाषा के बहाने अपनी इन्द्रिय-वासना के पूर्ति वज्रतन्त्र परम्परा में अधिक हुई है। शाक्त परम्पर में भी सन्ध्याभाषा का प्रयोग हुआ है।

वज्रतन्त्र में मन्त्रयान और सहजयान में भेद कम किया गया है। सन्ध्याभाषा का प्रयोग भी यहीं हुआ है। **सहजयान** के तीन मार्ग हैं - अवधूती, चण्डाली और डोम्बी या बंगाली। अवधूती में द्वैतज्ञान रहता है, चण्डाली में उसका रहना आवश्यक नहीं है। पर डोम्बी में केवल अद्वैत रहता है। हेवज्रतन्त्र में भी इनका विवेचन मिलता है।

वैदिक तन्त्र बौद्धतन्त्र से प्रभावित है या बौद्ध तन्त्र वैदिक तन्त्र से, कहना कठिन है। पर बौद्ध मूर्तिकला के अध्ययन से ऐसा लगता है कि दोनों संप्रदायों में आदान-प्रदान हुआ है। वज्रतन्त्र परम्परा ने शक्ति के रूप में प्रज्ञापारमिता को स्वीकारकर गणपतिहृदया, अपराजिता, तारा, लोचना, नैऋत्या आदि अनेक देवियों को स्वीकार किया है जो गणेश आदि वैदिक देवताओं पर पैर रखकर नृत्य करती हुई दिखाई देती हैं।

वज्रयोग

बौद्धतन्त्र में प्रज्ञा (शून्यता) और उपाय (करुणा) की अद्वयात्मकता महासुख का कारण है। हेवज्रतन्त्र के दशम् पटल में स्वसंवेद्यज्ञान को प्रज्ञा और उपाय से मिश्रित माना है, वह अनादिनिधन है, धर्मधातु है, देहव्यापक है, आत्मा रूप है (८-१२)। सभी शरीरों में निस्तरंग आत्मा रहता है। वज्र और कमल के योग से, उनके कठिन स्पर्श से पृथ्वी उत्पन्न होती है, शुक्र के प्रवाह से जल उत्पन्न होता है, घर्षण से तेज, गमन से वायु और सुख से आकाश धातु की उत्पत्ति होती है। यहां महाधातुओं में संमिलित होने के कारण सुख अन्तिम तत्त्व नहीं है। अन्तिम तत्त्व है सहज स्वभाव जो प्रज्ञा और उपाय से

उत्पन्न होता है। योगी करुणा और उपाय से युक्त होता है और योगिनी प्रज्ञा (मुद्रा) और शून्यता संवलित होती है। योगिनी में कारण तत्त्व नहीं रहता (३५-४३)।

यहां उपाय पुरुष है, सक्रिय है विधेयात्मक है जबकि प्रज्ञा स्त्री है, निषेधात्मक है और निष्क्रिय है। यह वैदिक तन्त्र के बिलकुल विपरीत है जहां स्त्री सक्रिय रहती है और पुरुष निष्क्रिय। हेवज्रतन्त्र में दोनों की अद्वयावस्था का अनेक स्थानों पर वर्णन है। उदाहरण के तौर पर द्वितीयकल्प के ग्यारहवें मण्डल में कहा है कि हेवज्र ने नैरात्म्या की योनि में लिंग रखकर उससे कहा - उद्यान में, निर्जन प्रदेश में अथवा घर के भीतर महामुद्रा को नग्नकर योगी उसकी पूजन करे। उसका चुम्बन करे, आलिंगन कर योनि स्पर्श करे, अधरपान कर बार-बार उसे काम-पूर्वक देखे और फिर संभोग करे तो विपुलसिद्धि प्राप्त होती है। पूजन के बाद योगी कर्पूरपान और मद्यपान करे तथा मांस भक्षण करे (१०-१५)। इसी तरह का वर्णन हेवज्रतन्त्र के भोजनपटल (२.७.५-१३) में, सर्वतन्त्र मुद्रण पिण्डार्थ पटल (२.४.३६-४०) में, सन्ध्याभासपटल (२.३.४०-४९) में, योगिनीचक्र पटल (१.८.१-७) में, छोमापीठ पटल (१.७.१-१८) में, चर्या पटल (१.६.७-९) में, देवता पटल (१.३.४-९) में है, अनंगवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि (३८-४०) में है, गुह्यसमाजतन्त्र और साधनमाला आदि में भी है। वैदिक तन्त्र में अर्धनारीश्वर की कल्पना भी शायद इसी प्रकार के दर्शन से उद्भूत हुई है।

इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट है कि वज्रतन्त्र परम्परा शाक्त परम्परा के समान संभोग से योग की ओर झुकी हुई है। इसे वामाचार कहा जाता है जहां पंच मकारों का भरपूर प्रयोग होता है साधना की आड में। वज्रतन्त्र परम्परा में पंच मकार शब्द के स्थान पर पंच तत्त्व शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। हेवज्रतन्त्र के समान रुद्रमाला, कुलाचार आदि वैदिक तन्त्र ग्रन्थों में भी दिव्य, वीर और पशु भावपूर्वक पंच मकारों का खुलकर प्रयोग हुआ है। अन्तर कदाचित् यह है कि वैदिक तान्त्रिक शुक्र को छोड देते हैं पर कुशल वज्रतान्त्रिक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपना शुक्र (बोधिचित्त) का त्याग न करें (निष्पीड्य कमले वज्रं बोधिचित्तं नोत्सृजेत् - ज्ञानसद्धि)। वैसे यह आवेक्षण भी निर्विवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि हेवज्रतन्त्र में दसों स्थल ऐसे हैं जहां शुक्रत्याग का संकेत दिखाई देता है। जो भी हो, प्रज्ञा और उपाय की समरसता तो है ही और इसी को वज्रयोग कहा गया है।

इसी वज्रयोग के साथ ओम् की अवधारणा भी जुडी हुई है। अतः उसपर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

बौद्धधर्म में ओम् की अवधारणा

ओम् (प्रणव) की अवधारणा भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। वह मन्त्र साधना से जुडा हुआ दर्शन है। उपनिषदों में ओम् और ओंकार शब्दों की विशद व्याख्या उपलब्ध है। वहां उसे परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है (छा. १.११, बृ. ३.९.१, ५.१.१, ई. १७, क. १.२.१५); ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् (मु. २.२.६), ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः, (ध्यानबिन्दूपनिषद् - ९), ओम् इति ब्रह्म. (तै. १८)। मैत्रायणी उप. में ओं तथा प्राण की एकता को 'योग' कहा है। छा. उप. के प्रारंभ में ओं ब्रह्म का प्रतीक प्रतीत होता है। नारद पुराण (पूर्वभाग, प्रथम पाद) के अनुसार ओम् का अकार, उकार और मकार क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का प्रतीक तथा अर्धमात्रा निर्गुण परब्रह्म परमात्मा स्वरूप है। पुराणों में ओंकार के स्थान पर प्रणव शब्द का भी प्रयोग हुआ है (वायु. २०-३०, मत्स्य. २४-५१; ८५-६; ब्रह्मा. २.१३.१३७)। छान्दोग्योपनिषद् (१.१.२-५) में ओंकार को 'उद्गीथ' की संज्ञा दी गई है जो सामवेद के उद्गाता पद के साथ सम्बद्ध है (अ. वे. ११.७.५, १५.३.८)।

ओंकार मन्त्र का अंग है और मन्त्र मनन, चिन्तन और त्राणन द्योतक हैं। ऋग्वेद और परवर्तीकाल में सूक्त या ऋचा को मन्त्र कहा जाता था (ऋ. १.३१.१३, १.४०.५, २.३५-२, अ.वे १५-२.१, तै.सं. १.४.४.१ आदि), पर यहां ओंकार दर्शन का जन्म नहीं हुआ। उसका जन्म तो उपनिषद् परम्परा से हुआ लगता है। पुराणों में तो उसका प्रयोग वहुविध हुआ है (ब्रह्मा. २.२८-९१, २.३२.६८, वायु. ५९-६१, मत्स्य. १४५-६२-३)। योगसूत्र में 'प्रणव' को ईश्वरवाचक माना है।

बौद्ध परम्परा में मूल रूप से ओंकार की अवधारणा दिखाई नहीं देती। पालि-पिटक में परित्राण सूत्र की चर्चा अवश्य आती है। बाद में धारणियों का उल्लेख मिलने लगता है। ऐसा लगता है, ओंकार की अवधारणा मन्त्र-तन्त्र परम्परा से शुरू हुई है। इस समय तक वैदिक परम्परा में ओंकार साधना का प्रचलन हो गया था और जैन परम्परा में भी णमोकार मन्त्र के माध्यम से इस साधना का विकास प्रतिफलित हो चुका था। यही कारण है कि बौद्ध परम्परा में ओंकार शब्द का प्रयोग लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी से पहले दिखाई नहीं देता।

बौद्ध तान्त्रिक परम्परा का प्रारम्भ परम्परानुसार तो तथागत बुद्ध ने ही आन्ध्रप्रदेश के धान्यकूट पर्वत पर किया था जो ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यसंगत नहीं कहा जा सकता। गुह्यसमाजतन्त्र का समय विवादग्रस्त अवश्य है पर मेरी दृष्टि में वह छठी-सातवीं

शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं होना चाहिए। इसी को हम बौद्धतन्त्र परम्परा का आद्य ग्रन्थ कह सकते हैं। यहां 'मन्त्र' शब्द मनन और त्राणन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

बौद्धतन्त्र मुख्यतः चार प्रकारका है - क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग। क्रियातन्त्र में धारणी सम्बन्धी सभी तन्त्र संमिलित हैं। चर्यातन्त्र में समाधिचर्या की प्रधानता रहती है। योगतन्त्र में महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा इन चार मुद्राओं की व्याख्या की गई है। और अनुत्तर तन्त्र में वज्रसत्त्व समाधि की चर्चा की गई है। इस तन्त्र के दो भेद हैं - मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। गुह्यसमाज, मंजुश्री तन्त्र आदि पितृतन्त्र हैं और हेवज्र, चक्रसंवर, कालचक्र आदि ग्रन्थ मातृतन्त्र हैं। ओंकार की अवधारणा इन्हीं तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित हुई है।

ओंकार में 'ओं' बीजाक्षर है। साधारण व्यक्ति के लिए बीजाक्षर निरर्थक-से लगते हैं पर होते हैं वस्तुतः वे बडे सार्थक। उनसे आत्मशक्ति या देवताओं को उत्तेजित किया जाता है। इसलिए ये बीजाक्षर आत्मिक विशुद्धि और प्रेरणोत्पादक माने जाते हैं।

हेवज्रतन्त्र में 'ओं' बीजाक्षर को आद्य और अनुत्पन्न माना है - ओं अकारो मुखं सर्वधर्माणां आद्यनुत्पन्नत्वात् - (१.२.०)। इसे बोधिचित्त भी कहा जाता है। इसी प्रसंग में यहां १८-२० मन्त्रों का उल्लेख हुआ है जो ओं से ही प्रारम्भ हुए हैं। ये मन्त्र स्तम्भन, उच्चाटण, विद्वेषण, आकर्षण, मारण, अभिचारण आदि से सम्बद्ध हैं। आगे वर्षायन विधि, मेघास्फाटन विधि, वज्रकर्तरि विधि, देवतास्फाटन विधि आदि अनेक प्रसंगों पर प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का आकलन हुआ है। इसी तरह और अन्य पटलों में अनेक मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इन सभी मन्त्रों का प्रारंभ 'ओं' से होता है और समाप्ति स्वाहा से।

इन मन्त्रों की जप प्रक्रिया और सिद्धि वैदिक मन्त्रों और उनकी जप प्रक्रिया से कोई विशेष भिन्न नहीं लगती। फिर भी उनको बौद्धधर्म का आवरण तो पहनाया ही गया है इसलिए ओंकार की साधना एक विशिष्ट बौद्ध तान्त्रिक साधना है - ओंकारं बुद्धकायाग्रयं आःकारं वाक्पथं तथा। यहां ओंकारवेत्ता को मुनि कहा गया है। माण्डूक्योपाद नामक एक सिद्ध व्यक्ति का नाम बौद्ध तान्त्रिक परम्परा में बडा लोकप्रिय है। संभव है, यहां उसी को मुनि कहा गया हो। यहां यह भी संभव है, गौडपादीय माण्डूक्योपनिषद्कारिका का प्रभाव बौद्धतन्त्र पर रहा हो। अथवा यह भी अन्वेषणीय है कि बौद्धतन्त्र से वह कहां तक प्रभावित रहा है। त्रियानवादी बौद्ध परम्परा का मूल उद्देश्य निर्वाण-प्राप्ति है। उसके पांच मार्ग हैं – १. सम्भारमार्ग, २. प्रयोगमार्ग,

३. दर्शनमार्ग जहां नैरात्म्य का साक्षात्कार होता है, ४. भावना मार्ग, जहां क्लेशादि का प्रहाण होता है, तथा ५. वज्रोपम समाधि मार्ग जिसके दूसरे क्षण में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। एकयानवादी परम्परा में बोधिसत्त्वयान ही एकमात्र यान है जो महाकरुणा के वश से अपनी अर्थसिद्धि के लिए मोक्ष को भी प्राप्य नहीं मानता।

महायानी साधना का प्रारम्भ बोधिचित्तोत्पाद से होता है जिसे हेवज्रतन्त्र में "ओंकार साधना" नाम दिया गया है। यह साधना नैरात्म्यविषयक होती है जिसे शून्यता विषयक विपश्यना भी कहा जाता है। परमार्थ या शून्यता को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाला ज्ञान समाहित ज्ञान कहलाता है तथा घट, पट आदि सांवृतिक वस्तुओं को जानने वाला ज्ञान पृष्ठलब्धज्ञान कहलाता है। बुद्धावस्था से पूर्व समाहित ज्ञान रहता है और उसके बाद पृष्ठलब्धज्ञान होता है। परन्तु साधक समस्त पदार्थों को मायावत् जानता है।

प्रज्ञा और उपाय को क्रमशः ललना और रसना कहा जाता है जो क्रमशः वायीं और दायीं नाडियां हैं। प्रज्ञा का उच्चारण 'अ' स्वर से (आलि) तथा उपाय का उच्चारण 'क' व्यंजन (कालि) से होता है। हेवज्रतन्त्र में कहा गया है कि जिस तरह 'अं' स्वर उत्पत्ति विहीन है उसी तरह ओम् स्वरूप धर्मशून्यता की भी कहीं से उत्पत्ति नहीं होती। आलि वज्रसत्त्व है, क्रम है पर चण्डा प्रज्ञा है, ओम् है।

वज्रतन्त्र परम्परा में 'ओं आः हूँ' का उच्चारण वज्रजप है जो एक प्रकार का प्राणायाम है। इन तीनों शब्दों का सम्बन्ध क्रमशः पदार्थ की उत्पत्ति, रक्षण और विनाश से है। इसी प्रकार 'ओं मणिपद्मे हुँ' जैसे मन्त्रों की भी तान्त्रिक व्याख्या की गई है। 'एवं' के समान पद्म का सम्बन्ध योनि से है और मणि का शिश्न से। तान्त्रिक बौद्धधर्म में यह मन्त्र संभोगक्रिया से संवद्ध है।

तान्त्रिक नागार्जुन कहते हैं "ओं आः हूँ" वर्णो को योगी मस्तक, ग्रीवा और हृदय में गुंजित करे। स्वर की प्रकृति प्रज्ञा है, और व्यंजन की प्रकृति उपाय और अर्धस्वर 'य' आदि की प्रकृति मिश्रित है। अतः आः प्रज्ञा, हूँ उपाय और ओं (य र ल व) मिश्रित तुर्यातीत है। ये तीनों तत्त्व हैं काय् वाक्, चित्त या चन्द्र, सूर्य, अग्नि। श्वास लेकर ओं का उच्चारण करे, आः कहकर श्वास को अन्दर रोके और हूँ कहकर उसे बाहर निकाले। ये तीनों वर्ण निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय के प्रतीक हैं। ओं (हृदय) वैरोचनमन्त्र है, आः अमिताभ मन्त्र है तथा हूँ अक्षोभ्य मन्त्र है।

यहां ओंकार को धर्मकाय माना गया है और धर्मकाय का हेतु परमार्थसत्य का ज्ञान है जिसे ज्ञानसम्भार कहा जाता है। बुद्धकाय के रूपकाय का हेतु बोधिचित्तोत्पाद तथा महाकरुणा आदि है जिन्हें पुण्यसम्भार कहा गया है। ओंकार साधना में यह प्रज्ञागत

साधना और उपायगत साधना, दोनों सम्मिलित हैं। यहां यह दृष्टव्य है कि बोधिचित्तोत्पाद तथा महाकरुणा से संबलित शून्यताज्ञान धर्मकाय का असाधारण हेतु है तथा रूपकाय का सहकारी प्रत्यय है। अन्तर यह है कि पारमितायान में रूपकाय का असाधारण हेतु बोधिचित्तोत्पाद और षट्पारमितायें मात्र हैं पर तन्त्रयान में रूपकाय का असाधारण हेतु गम्भीर तथा विशिष्ट उपाय होता है। इसमें पारमितायान की साधना में बुद्धत्व प्राप्ति में अनेक जन्म लग जाते हैं जबकि वज्रतन्त्र परम्परा में एक जन्म में ही बुद्धत्व प्राप्ति हो सकती है। इस गंभीर साधना में शमथ स्वरूप देवमण्डल योग का अभ्यास ही रूपकाय का असाधारण हेतु है, शून्यता ज्ञान तो उसका सहकारी प्रत्यय है। अन्त में दोनों अद्वैत हो जाते हैं। फलतः धर्मकाय तथा रूपकाय की प्राप्ति हो जाती है। इस संदर्भ में वज्रपंजर के प्रथम परिच्छेद का यह श्लोक उद्धरणीय है --

शून्यता चेदुपायः स्वानैवं बुद्धो भविष्यति।
हेतुफलयोरन्यात्वादुपायः शून्यता न हि।।

योगरत्नमाला में आचार्य शान्तरक्षित का अनेक बार ससम्मान उल्लेख हुआ है। उनका तत्त्वसंग्रह बौद्धदर्शन का सर्वमान्य ग्रन्थ है। तिब्बत में उन्हें बोधिसत्त्व के नाम से जाना जाता है। तान्त्रिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाला उनका तत्त्वसिद्धिप्रकरण ग्रन्थ वहुत उपयोगी है। वज्रतन्त्र साधना की दृष्टि से यहां ओंकार साधना के लिए पंच मकारों का प्रयोग उन्मुक्त रूप से हुआ है शाक्त परम्परा के समान। इसमें कहा गया है कि राग, द्वेष और मोह ये तीनों विष होते हैं असमता से सेवन करने पर। यदि समता पूर्वक उनका सेवन किया जाये तो वे अमृतमय बन जाते हैं। धर्मनैरात्म्य का ज्ञान होने से बोधिसत्त्व उन रूपादि विषयों में किसी भी तरह अभिनिविष्ट नहीं होता समयोगी होने के कारण। शील परिवर्त में तो यहां तक स्पष्ट किया है कि बोधिसत्त्व दश कुशल कर्मों से भी च्युत हो सकता है। जैसे कोई कामुक स्त्री बोधिसत्त्व के लिए प्राणत्याग करे तो कामसेवन करके भी उसका प्राण बचाना चाहिए। इसी प्रकार किसी महापापी का वध भी करना पडे तो वह दुर्गति का कारण नहीं है बल्कि महापुण्य का उत्पादक होता है। यहां एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। केतकी पुष्प गन्ध हस्ती द्वारा खाये जाने पर कस्तूरी सदृश बन जाता है। पर वही पुष्प साधारण हाथी द्वारा खाये जाने पर अशुचिमय हो जाता है। इसी तरह रागादि भी चित्त की विशेषता से विशुद्ध सन्तति वालों के लिए विशिष्ट फल की उत्पत्ति कराते हैं -

अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घां ।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृहणत बोधिचित्तसंज्ञम्।।

पुण्येनकायः सुखितः पाण्डित्येन मनः सुखि।
तिष्ठन् परार्थ संसारे कृमालुः केन खिद्यते।।

हेवज्रतन्त्र तो धर्मकाय (ओम्) की आड में इससे भी दस कदम आगे बढकर कहता है कि हेवज्र नैरात्म्या के साथ सुरति-संभोग करते हैं और कहते हैं कि वज्रसाधक मण्डल में पत्नी, बहिन, पुत्री, भतीजी, भाभी, मौसी, सासु और बुआ को निर्वस्त्र कर उनकी योनि का बार-बार चुम्बन करे और संभोग करे, गाये और नृत्य करे। इसी से महासुख की प्राप्ति होती है (हेवज्राभ्युदय पटल, २.५.५७-६३, २.७.५-१३)। एक अन्यत्र स्थान पर कहा गया है कि साधक को प्राणिबध करना चाहिए, असत्य बोलना चाहिए, परस्त्री सेवन करना चाहिए। उसे इन्द्रियों पर संयमन करने की आवश्यकता नहीं है। उसे मांसादि सब कुछ भक्षणीय है और निष्कंप चित्त से सभी स्त्रियां रमणीय हैं (२.३.४१-४२, २.४.८-१४)।

तान्त्रिक अनुष्ठान में वज्रसाधक 'हूँ' का उच्चारण करता है और उस पर चिन्तन करता हुआ निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय में पहुंच जाता है। पुण्यवर्धिनी ज्ञानमाला नामक ग्रन्थ में हेवज्रतन्त्र के समान पंच ध्यानी बुद्धों का पंचामृतों (शोणित, वीर्य, मानव मांस, मूत्र और पुरीष) से सम्बन्ध निर्दिष्ट है। साधक 'ओम्' का उच्चारण करता है और पंचामृतों पर ध्यान केन्द्रित करता है। यहां कपाल जैसे पात्र का भी उल्लेख है जिससे साधक दुग्ध, मांस, रक्त, मत्स्य खाता-पीता है।

वज्रतन्त्र परम्परा की ओम् साधना में इन सब को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। उनके साथ आध्यात्मिकता भले ही जुडी हुई हो पर साधारण जनता और साधारण योगी भ्रष्ट हुए बिना नहीं रहते। बौद्धधर्म के पतन के कारणों में यह भी एक निश्चित कारण रहा है।

वज्रतन्त्र परम्परा किंवा ओंकार साधना जापान में भी बडी लोकप्रिय हुई है। वहां बीसों सम्प्रदाय इस परम्परा में प्रस्थापित हुए हैं। श्री खनयो त्सोनडुस ने उनमें से 'त्रिङ्मा' सम्प्रदाय का 'नवक्रमिक व्यवस्था' शीर्षक से जो विवरण दिया है वह बौद्ध तान्त्रिक साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय के अनुसार नौ यान हैं - समुदय नामक तीन यान (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्त्व), आन्तरिक तपस्यावेदक तीन यान और गुह्यवशीकरण तीन उपाययान। इनसे वज्रकाय की प्राप्ति होती है।

इसी तरह सी. आर. लामा का 'तिब्बती त्सोद्साधना (आत्मोत्सर्ग पद्धति) पर छः प्रज्ञापारमिताओं का प्रभाव तथा तान्त्रिक योगसाधना' आलेख भी इस दृष्टि से उपयोगी है। इस सम्प्रदाय की संस्थापिका तिब्बत की प्रसिद्ध साधिका माचिग् लवडोन है जिसे साधक डाकिनी स्वरूप मानते हैं। उन्होंने साधक को बारह प्रकार के कर्तव्यों का निर्देश दिया है जिसे हम साधक की बारह श्रेणियां कह सकते हैं।

इन श्रेणियों में पंचम साधना में प्रज्ञापारमिता की साधना की जाती है जो धर्मकायस्वरूपा है। महामाता का शरीर प्रकाश से परिपूर्ण है। उनके मूर्ध, कण्ठ और हृदय स्थान से क्रमशः सफेद, लाल और नील रंग के 'ओम् अः हूँ' नामक तीन अक्षरों के प्रकाशित होने पर स्वयं महामाता स्वरूप ज्ञानसत्त्व का आह्वान होता है। ये तीनों क्रमानुसार सर्व जिनों के काय स्वरूप 'ओम् ', वाक् स्वरूप 'अः' और चित्त स्वरूप 'हूँ' के रूप में प्रकाशित होता है। अर्थात् साधक माचिग् लवडोन के ललाट में श्वेत रंग का ओम्, कण्ठ में लाल रंग का 'आः', हृदय स्थान पर नील रंग के 'हूँ' का ध्यान करता है। इस प्रकार ध्यान स्थिर होने पर फट् कहना चाहिए। इससे माचिग् के ललाट से प्रकाश निकलता है जो सभी प्राणियों के ललाट में प्रविष्ट हो जाता है।

दसवीं साधना तक पहुँचते-पहुँचते साधक शरीर को अमृत स्वरूप मानकर पूजने लगता है। साधक 'ओं अः हूँ' इन तीन अक्षरों को उच्चारित करता है। विद्याज्ञान डाकिनी का रूप धारण करके बायें हाथ के कपाल में शरीर के टुकडे-टुकडे करके डालता है। साधक के 'ओं' शब्द (धर्मकाय और चित्त की अद्वैतता) उच्चारित होने से तथागत का आशीर्वाद अमृत नील रंग के प्रकाश रूप कपाल में प्रवेश करके वस्तु को अमृत बना देता है। तथागत के वाक् से 'अः' (सम्भोगकाय) अद्वैत का सूचक है और 'हूँ' का उच्चारण उच्चरित चित्त का सूचक है। इनका जप साधक तब तक करता रहता है जबतक उसका यह विचार दृढ नहीं होता कि कपाल की सम्पूर्ण वस्तु अमृतमय हो गई है। इसके बाद साधक 'हा हो ही' का जप करता है जिससे सारी पूजा-सामग्री एकत्रित हो जाती है। इससे साधक भूत-प्रेतों का आह्वान करता है और अपने शरीर के टुकडे-टुकडे कर उन्हें समर्पित कर देता है।

बौद्धतन्त्र में ओंकार अथवा प्रणव की अवधारणा ने कितना विकास किया यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जाता है। इतना विकास न वैदिक परम्परा में हुआ है और न जैन परम्परा में। जैन परम्परा तो विशुद्ध अहिंसक और संयमी परम्परा रही है इसलिए उसमें तो 'ओं' का इतना दूरगत विकास संभव ही नहीं था। हां, शाक्त तन्त्र परम्परा किसी सीमा तक साथ बैठ सकती है।ओम् का अंकन बौद्ध, जैन, और वैदिक शिल्प में भी हुआ है। बौद्ध अभिलेख यहां विशेष उल्लेखनीय हैं।

वज्रतन्त्र परम्परा पर यह **निष्कर्ष** रूपसे एक संक्षिप्त दृष्टिपात है जिससे पाठक यह समझ सकता है कि थेरवादी साधना और वज्रतन्त्र साधना में क्या अन्तर है साध्य और साधन की पवित्रता की दृष्टि से। यहां हमने हेवज्रतन्त्र और उसकी परम्परा पर विशेष रूप से विचार किया है और पाया है कि वज्रतन्त्र परम्परा ने बौद्ध सिद्धान्तों का अकल्पनीय विस्तार किया और उन्मुक्त भोग से योग की ओर स्वच्छन्द यात्रा की। यह यात्रा उसके पतन का भी एक कारण बनी।। आचार्य रजनीश की भी साधना वस्तुतः वज्रतन्त्रसाधना रही है।

हेवज्रतन्त्र तथा अन्य बौद्ध तन्त्र परम्परा के आधार पर वज्रतन्त्र का यह स्वरूप हमारे सामने आया। इस स्वरूप को स्पष्ट करने में हेवज्रतन्त्र पर लिखी **व्याख्यायें** भी काफी सहायक सिद्ध हुई हैं। कहा जाता है, काण्ह की योगरत्नमाला के अतिरिक्त भद्रपद, नारोप, टंकदास, रत्नाकरशान्ति, धर्मकीर्ति और वज्रगर्भ ने हेवज्रतन्त्र पर टीकायें लिखी थीं। इनमें वज्रतन्त्र की व्याख्या सर्वाधिक विस्तृत है। इसे प्रज्ञाकरकीर्ति ने नेपाल में मैत्रेय (११ वीं शती) से प्राप्त की थी। प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में वज्रगर्भ ने पद्य दिये जिनमें समूचे अध्याय के सारांश का संकेत कर दिया। उसके अनुसार हेवज्रतन्त्र के दो भाग हैं और ७५० पद्य हैं। यह उसके मूल रूप (३२ भाग तथा ५,००,००० श्लोक) का संक्षिप्त रूप है। चीनी परम्परा और बूस्तन भी उसे बृहदाकार बताते हैं। पर समस्या यह है, जैसा स्नेलग्रोव ने संकेत किया है, कि सभी व्याख्यायें एक जैसे रूप को ही स्वीकार करती हैं। तारानाथ की यह कल्पना तब सही लगती है कि कम्पल और सरोरुह ने हेवज्रतन्त्र को इसी रूप में प्रस्तुत किया। पर दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि साधनमाला जैसे ग्रन्थों में हेवज्रतन्त्र का संक्षिप्त रूप आकलित है। उदाहरणतः उसका २२८ वां भाग हेवज्रतन्त्र के प्रथम भाग के अध्याय तीन और आठ का संक्षिप्त रूप है। साधनमाला की सारी नैरात्म्य साधनायें हेवज्रतन्त्र से संबद्ध लगती हैं। २२९ क्रम के प्रारंभिक पद्य हेवज्रतन्त्र के द्वितीय भाग के पटल आठ के पद्य ६-७ का पूर्णतः अनुकरण करते हैं। अन्य बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में भी इसी प्रकार हेवज्रतन्त्र को खोजा जा सकता है। इसे यदि हम सही मान लें तो यह असम्भव नहीं कि हेवज्रतन्त्र का मूल रूप अपने पूरे विस्तार के साथ अभी भी किसी भण्डार में सुरक्षित रखा हो अथवा अग्नि देव को समर्पित कर दिया गया हो। यह तथ्य तब और भी सबल हो जाता है जब हम हेवज्रतन्त्र के ही प्रथम कल्प के ग्यारहवें पटल के बारहवें पद्य में "विस्तीर्ण हेवज्रतन्त्र" का उल्लेख कुरुकुल्ला साधना के संदर्भ में पाते हैं - संक्षिप्तं पूर्वमुद्दिष्टं विस्तरेण कल्पद्वादशः। साधनमाला में इस देवी की अनेक साधनाओं का वर्णन भी है । वज्रगर्भ ने हेवज्रतन्त्र को कदाचित् मूलतन्त्र मानकर उसका संक्षिप्तीकरण ७५० पद्यों में किया है । नारोप ने वज्रगर्भ के ही आधार पर अपनी व्याख्या लिखी है। सरहपा का दोहाकोश हेवज्रतन्त्र का ही अनुगमन करता दिखाई देता है।

परिपूर्ण एकत्ववाद सिद्धान्त की अभिव्यक्ति के लिए रहस्यवादी तत्त्व की दार्शनिक प्रक्रिया आवश्यक होती है। तदर्थ वह ऐन्द्रियक अनुभव को अस्वीकार भी कर सकता है। इस अस्वीकृति में विरोधात्मक स्वर भी दिखाई देने लगता है। इस स्वर

को एकयान, निःस्वभावता और शून्यता जैसे सिद्धान्तों को विकासात्मक रूप में पहचाना जा सकता है। माध्यमिक और योगाचार के सिद्धान्त भी इसी रूप में दृष्टव्य हैं। माध्यमिकों के लिए स्वभाव और उत्पाद अययार्थ हैं, निर्वाण और संसार में कोई भेद नहीं है। यहां तान्त्रिकता का सम्बन्ध माध्यमिकों से अधिक रहा है।

हेवज्रतन्त्र के भागं एक के पंचम पटल में तत्त्व के संदर्भ में विषयवस्तु की ओर संकेत किया है और स्वरूप, दृष्टा, स्वाद आदि का निषेध किया है। मूल माध्यमिक कारिका भी इसी तथ्य को पुष्ट करती है। वहां यह भी कहा गया है कि परिनिष्पन्न अवस्था में चित्त चित्तता रूप में प्रतिभासित होता है और चैतसिक परतन्त्र तथा विकल्पित लगता है। नागर्जुन ने भी इसी को सिद्ध किया है। योगी निर्वाण की बात सोचता है पर वह संसार में रहता है और उसे यह संसार भ्रान्ति के अलावा कुछ नहीं दिखता। यह तथ्य जब गले उतर जाता है तो अद्वयावस्था, सहजावस्था या बोधिचित्त की प्राप्ति हो जाती है। इसके लिए मण्डल की साधना करनी पडती है (हेवज्र. २.३.२८)। पटादिकों में देवताओं का स्थापन किया जाता है मन्त्रोच्चारणपूर्वक और कुण्डस्थापन कर ओं पूर्वक अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है (२.१)।

हेवज्रतन्त्र वज्रगर्भ और बुद्ध के बीच संवाद पूर्वक "एवं मया श्रुतम्" से प्रारंभ होता है। यहां एवं के अनेक वज्रतन्त्रात्मक अर्थ किये गये हैं (२.३.१-३)। निर्माणचक्र संभोगचक्र, धर्मचक्र और महासुखचक्र के माध्यम से अहं और ममकार जल जाता है और साधक प्रभास्वरमय समाधि में प्रतिष्ठित हो जाता है (१.१.१५.०)। यहीं धर्मकाय (प्रज्ञा पारमिता से संबद्ध), संभोगकाय (महासत्त्व बुद्धों का काय महासंभोगरस से पूर्ण), निर्माणकाय (त्रिधातु में गमन करने वाले समय सत्त्वों का काय) तथा महासुखकाय का वर्णन है (२.४.५१-५३)।

शून्यता बोधि (१.१.३), ध्यान प्रक्रिया (छोमापीठ पटल), अध्यात्म और बाह्यमण्डल, स्वसंवेदन ज्ञान (आत्मा) (१.१.१०; २१; २.५; २.३.; ३.५), वज्रसाधना प्रक्रिया (२.३.१), सहज बोधिप्रज्ञात्मक और उपायात्मक, चार आनन्द (१.१.८.२५-४०; २.११.१०-१५), बोधिचित्त प्राप्ति प्रक्रिया (२.३; २.४-३०-३९; २.४.३६-४०; २.३.२९-३०), मन्त्र-धारणा (१.२), अभिषेक (१.१.१०.१५; २.३.११७), नाडी जगत (२.४.२०-२५), योगी चर्या (१.१.६.१-४-२६; १.१.७; १.१२-१३; १.१.७, १०), प्रतीक प्रयोग (१.१.८.२०; २-३.५२-६७), शून्यता (१.१.५.१-२; १.१.९; २.२) आदि विषयों का वर्णन है।

देवियों में वज्रयोगिनी, वज्रा, गौरी, वारियोगिनी, नैरात्म्या, खेचरी, भूचरी, चौरी, वेताली, घस्मरी, पुक्कसी, शवरी, चण्डाली, डोम्बी, कुरुकुल्ला, और देवों में पंच ध्यानी बुद्ध, हेवज्र, हेरुक, आदि का विशेष विस्तार से वर्णन है (हे. १.१.१८; १.१.२; १.१.३.८-१०; १.१.८; १.१२-१९; १.१.११.; २.४.१५-१९; २.५-३०; १.१.५; १.१.१-१०; १.१.३.१२.१६; २.५.४-२८; २.५.१-३; १.१.५-८; १.१.५.१३-१४; २.९.१०-१३; १.१.१२.८-११)। इसमें बोधिचित्त की प्राप्ति साधक का मुख्य उद्देश्य रहता है।

वज्रयान में बोधिचित्त का रूप वही है जो मैत्रेय और असंग के योगाचार में है। वह एक सतत् प्रवाह है चित्त का जो हेतु और कार्य के रूप में परिवर्तन होता रहता है वह अनादि है। विज्ञान से उसका सम्बन्ध है। इसकी विशुद्धि के आधार पर दस भूमियों का वर्णन आता है। उसके बाद ही सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। प्रश्न है, बोधिचित्त कहां रहता है ? तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रायः यह कहा गया है कि देव अकनिष्ठ स्वर्ग में रहते हैं, पर अन्यत्र मिलता है कि वे सर्वज्ञ बोधिचित्त से निम्नकोटि के होते हैं। भूमियां केवल महायानियों के लिए हैं, हीनयानियों के लिए नहीं। हीनयान में निर्वाण प्राप्त होने पर वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है, वह सारे प्राणियों केनिर्वाण के लिए नहीं ठहरता जबकि महायान में वह तदर्थ रुकता है। शान्तरक्षित ने कहा है - अकनिष्ठपुरे रम्ये शुद्धावास-विवर्जित। बुद्ध्यन्ते यत्र संबुद्धा निर्मितस्त्विह बुध्यते। कमलशील ने इसकी व्याख्या में कहा है कि अकनिष्ठपुर के ऊपर महेश्वर भवन है जहां बोधिसत्त्व सर्वज्ञता प्राप्त करता है। वज्रयान के अनुसार बोधिचित्त बोधिसत्त्वयान के अनुसार वर्णित है गुह्यसमाजतन्त्र में । उसमें योगाचार के समान बाह्यधातु पर विवेचन है। वहां बाह्य संसार जादू के समान अस्तित्वहीन है - चराचरं तत् सर्वं प्रतिभासमात्रे विचारेण प्रतिभासोपमं मायास्वप्नसदृशम् .... साधनमाला - पृ. १३९। हेवज्रतन्त्र में भी बोधिचित्त का इसी प्रकार वर्णन है।

प्रतीकवादी अद्वैतवाद के साथ ही बोधिचित्त को अभिव्यक्त करने वाला शुक्र भी उल्लेखनीय है जिसे संवृति और विवृति के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। स्त्री-पुरुष के संभोग रूप में परिणत उसका सांसारिक रूप है। हेवज्र इसी दृष्टि से नैरात्म्या का आलिंगन करता है जो निर्वाणप्राप्ति का उद्देश्य अपने हृदय में अंकित किये हुए हैं। यही बोधिचित्त महासुख है, स्वसंवेद्य और सहज है। शशि, सूर्य, अक्षोभ्य, कर्पूर, सिह्लक आदि शब्दों का भी प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है जिसे हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। बोधिचित्त ही संसार का बीज है, मण्डल का केन्द्र है। आली (स्वर) और काली (व्यंजन) तथा अनुस्वार क्रमशः नैरात्म्या (कमल) वज्र और बिन्दु को

अभिव्यक्त करते हैं। मण्डल भी निर्वाण और संसार का प्रतीकात्मक चित्रण है, निर्वाण के रूप में, संसार की अभिव्यक्ति है।

हेवज्रतन्त्र वज्र परिवार से सम्बद्ध है। हेवज्र उसका शीर्ष भाग है। इसे कहीं कहीं "योगिनीतन्त्र" भी कहा गया है। नैरात्म्या उसका मध्यभाग है। अन्य सभी देव-देवियां इन्हीं के आसपास घूमते रहते हैं। मण्डल एक स्तूप का रूप है जो उन सभी के संयुक्त संमेलनजन्य महासुख का प्रतीक है। समाहितयोग और निरन्तरयोग से उसकी प्राप्ति होती है। "ओं हेरुक स्वभावात्मको S हम्" की भावना वहां सन्निहित रहती है। प्रज्ञा और उपाय की यह अद्वैत स्थिति है। इसी अद्वैतभाव से बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है। योगी का शरीर इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है एक साधन के रूप में। इसी संदर्भ में त्रिकाय सिद्धान्त का भी परिमार्जन हुआ है स्वभादिककाय या सहजकाय को जोडकर। पंचमकारमय कापालिक साधना भी इसी में आकण्ठमग्न है जहां मैथुन का विशेष सहारा लिया गया है। इसी को प्रज्ञापारमिता साधना भी कहा जाता है। यही शक्ति साधना भी है। आचार्य रजनीश ने भी इसी साधना का प्रयोग किया है। इस साधना ने निःसंदेह एक उन्मुक्त यौन संपर्क का द्वार खोला है साधना की पृष्ठभूमि में, जो बौद्धधर्म के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ है।

हेवज्रतन्त्र की विषय-सामग्री का यह एक संक्षिप्त विवरण है जिस पर हम पीछे विस्तार से विचार कर चुके हैं। इसी के आधार पर हमने वज्रतन्त्र परम्परा का मूल्यांकन किया है।

बौद्धतन्त्र भारत में लग्नभग १६०० वर्षों तक अच्छी हालत में रहा पर मुसलिम आक्रमणों के कारण वह छिन्न-भिन्न होने लगा।

पाल काल तक बौद्धधर्म अस्तित्व में था। लगभग ८ वीं शती तक सारनाथ, नालन्दा, विक्रमशिला और वज्रासन (बोधगया) में समृद्ध बौद्ध केन्द्र थे जहां सेकडों बौद्ध साधु अपनी साधना में लीन दिखाई देते थे। लगभग इसी समय तिब्बत में बौद्धधर्म नेपाल से पहु चा जहां शान्तरक्षित और कमलशील जैसे बौद्धाचार्यों ने पहुंचकर बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार-प्रसार किया। यहां ज्ञानेन्द्र, शीलेन्द्ररक्षित, वैरोचनरक्षित, विमलमित्र, बुद्धगुह्य, शान्तिगर्भ, विशुद्धसिंह आदि विद्वानों ने बौद्धग्रन्थों को तिब्बती भाषा (भोट) में अनुदित किया। अनुवादकों में जिनमित्र, धर्मताशील, ज्ञानसेन प्रमुख हैं।

११ वीं शताब्दी तक आते-आते बौद्धधर्म तिब्बत में विकृत हो गया। आचार्य ज्ञानप्रभ दीपंकर श्रीज्ञान ने वहां जाकर उसे व्यवस्थित किया। बोधिपथप्रदीप आदि अनेक ग्रन्थ लिखे और कालचक्र, माध्यमिकरत्नप्रदीप आदि ग्रन्थों की टीकायें एवं

अनुवाद भी किये। दीपंकर के बाद सोमनाथ (१०२७ ई.), गयाधर (१०७४ ई.), स्मृति ज्ञानकीर्ति (१२०४ ई.), शान्तिप्रभ (१०५५ ई.) आदि विद्वानों ने बौद्धग्रन्थों का अनुवादकर भोट भाषा और साहित्य को समृद्ध कर दिया। प्-छव्-पा ने चतुःशतकशास्त्र (आर्यदेव), माध्यमिकावतारभाष्य (चन्द्रकीर्ति), अभिधर्मकोशटीका आदि ग्रन्थों का सफलता पूर्वक अनुवाद किया।

१२ वीं शताब्दी के अन्त तक बौद्धधर्म भारत से लुप्त-सा हो गया! इसी समय तिब्बत में रिन्-छेन्-गुब् (१२९०-१३६४ ई.) ने उपलब्ध ग्रन्थों का क्रमानुसार संग्रह किया। इस संग्रह को दो भागों में विभाजित किया गया। स्क-ग्युर (कन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन और स्तन्- ऽ ग्युर् (तन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन से भिन्न दर्शन, काव्य, ज्योतिष तथा अनुवाद आदि ग्रन्थ। प्रथम भाग कन्जुर में १३ भाग विनय से संबद्ध थे, २१ खण्डों में प्रज्ञापारमिता दर्शन को स्पष्ट किया गया, ४४ खण्डों में महायान सूत्रों की व्याख्या की गई और बुद्ध-बोधिसत्त्व, त्रिकाय, आलयविज्ञान आदि सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया तथा अन्तिम २२ खण्ड तन्त्र परम्परा से संबद्ध हैं।

द्वितीय भाग तन्जुर में बौद्धाचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों का संकलन हुआ है। अतः वह बुद्धवचन नहीं है। उसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में सूत्रों पर व्याख्यायें हैं और द्वितीय भाग में तन्त्रों पर व्याख्यायें संकलित हैं। प्रथम खण्ड में १३७ खण्ड हैं जबकि द्वितीय खण्ड में ८६ खण्ड हैं। ये दोनों भाग परस्पर सम्बद्ध हैं और श्रुति परम्परा पर आधारित हैं। इनकी यथार्थता संदिग्ध है पर स्वयंसिद्ध सत्य की दृष्टि से यह भी कहा जाता है - यत् किञ्चित् मैत्रेय सुभाषितं तद् बुद्धवचनम् (अध्याशय संचोदन सूत्र)। इसके बावजूद तान्त्रिक प्रवृत्ति बौद्धधर्म के पतन काल की ओर संकेत तो अवश्य करती है। पर तिब्बत पहुंचकर उसका विकास भी दिखाई देता है। विकास के रूप में उसकी तान्त्रिकता में अमानवीय और अव्यवहरणीय तत्त्वों ने प्रवेश कर लिया। सिद्धि प्राप्त करने के लिए मद्य, मांस, मुद्रा, मधु, मैथुन रूप पंच मकारों का सेवन विहित माना गया जिसे सर्व साधारण समाज ने स्वीकार नहीं किया। इस तान्त्रिक परम्परा ने बौद्धधर्म के आचार-विचार को भ्रष्ट कर दिया।

ई. सन् १९७२ में हमारी पुस्तक "बौद्ध संस्कृति का इतिहास" प्रकाशित हुई थी। उसके ग्यारहवें परिवर्त के पृ. ४०० पर हमने बौद्धधर्म के पतन के कारणों का मात्र विनम्र उल्लेख किया था। उन कारणों में अन्यतम कारण देशद्रोह और भ्रष्टाचार भी थे। यह पुस्तक काफी लोकप्रिय हुई और अनेक विश्वविद्यालयों में संदर्भ ग्रन्थ के रूप में

आज भी सन्निविष्ट है। इन्हीं तथ्यों को हमने अपने एक और अन्य ग्रन्थ "भारतीय संस्कृतिला बौद्धधर्माचे योगदान" (नागपूर विद्यापीठ द्वारा १९७८ में प्रकाशित) में भी स्पष्ट किया है। केन्द्रीय सरकार द्वारा यह ग्रन्थ सन् १९८० में पुरस्कृत भी हुआ था। पतन के कारणों की मीमांसा करते हुए बाबसाहेब डॉ. अम्बेडकर ने भी इन कारणों का उल्लेख् किया है। इन्हीं कारणों को हमने विस्तार से अपनी पुस्तक "भारतरत्न डॉ. अम्बेडकर और बौद्धधर्म" (सन् १९९१ में प्रकाशित) में तटस्थता पूर्वक विस्तार से सप्रमाण चर्चा की है। अन्य विद्वानों ने भी इसका पूरा समर्थन किया है। ऐतिहासिक संशोधन के क्षेत्र में पक्षपात, साम्प्रदायिक और धार्मिक उन्माद का वस्तुतः कोई स्थान नहीं है। इसी आधार पर यदि निष्पक्ष मीमांसा की जाये तो यह स्पष्ट आभास होता है कि **हेवज्रतन्त्र परम्परा** इन कारणों में से एक अन्यतम कारण तान्त्रिक शिथिलाचार पर विशेष प्रकाश डालता है। समूची वज्रतन्त्र परम्परा भी इसकी साक्षी है कि बौद्धधर्म जैसा प्रगतिशील सार्वजनीन और जाति-वर्ग विहीन आचारनिष्ठ धर्म किस प्रकार महाकरुणा के नाम पर पंच मकारों के प्रयोग से घिर गया और वैदिक शक्ति साधना से प्रभावित हो गया। संसार के कल्याण के नाम पर इन्द्रिय-वासना को परिपुष्ट करने के लिए इस आध्यात्मिक तान्त्रिक साधना का दुरुपयोग अधिक हुआ है।

वज्रतन्त्र (वज्रयान) परम्परा की यह एक सामान्य पृष्ठभूमि है। इस आधार पर हम बौद्ध तन्त्र को समझ सकते हैं। इस बौद्ध तन्त्र के गुह्यतत्त्वों और दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में गुह्यसमाजतन्त्र, हेवज्रतन्त्र और साधनमाला जैसे प्राचीन बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। गुह्यसमाजतन्त्र पर Alex Wayman ने अच्छा कार्य किया है। साधनमाला पर भी काम हो चुका है। हेवज्रतन्त्र को प्रकाश में लाने का श्रेय D. L. Snellgrove को जाता है जिन्होंने १९५९ ई. में रोमन लिपि में अंग्रेजी अनुवाद के साथ उसे आक्सफोर्ट युनिवर्सिटी से प्रकाशित कराया था। उसके बाद G. W. Farrow तथा I. Menon द्वारा संयुक्त रूप से किया गया पञ्जिका के साथ उसका अंग्रेजी अनुवाद मोतीलाल बनारसीदास ने १९९२ ई. में प्रकाशित किया। इस बीच बौद्धतन्त्र पर वेमन, दासगुप्ता, भट्टाचार्य आदि जैसे विद्वानों के अंग्रेजी में दसों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी में अभी तक कोई अच्छा ग्रन्थ बौद्धतन्त्र पर प्रकाश में नहीं आया था। हां, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का "बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य" ग्रन्थ स्मृति प्रकाशन इलाहाबाद से सन् १९८३ में अवश्य प्रकाशित हुआ जिसमें हेवज्रतन्त्र

का उपयोग कापालिक साधना को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया गया है। मान्य विद्वान ने तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य (ना. प्र. सभा, १९५८) में भी इस साधना पर विचार किया है। यहां हमने इन सभी ग्रन्थों के आधार पर तथा हेवज्रतन्त्र को विशेष रूप से सामने रखकर बौद्धतन्त्र को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साथ ही हम सरहपा के दोहाकोश पर भी यथास्थान दृष्टिपात करते चले हैं। उसके महत्त्व को देखते हुए हमने उसे परिशिष्ट में सानुवाद संग्रहीत भी कर दिया है। उपयोगिता की दृष्टि से हेवज्रतन्त्र की भूमिका को हम पृथक् रूप से **"वज्रतन्त्र साधना"** शीर्षक से प्रकाशित भी कर रहे हैं। यहां हेवज्रतन्त्र को समझने के लिए उस पर लिखी काण्हकृत योगरत्नमाला भी साथ ही सम्पादित है। आशा है, इससे इस कमी की पूर्ती हो जायेगी।

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत संस्करण D. L. Snellgorve के संस्करण पर आधारित है जो उन्होंने १९५९ में Oxford University Press, London से प्रकाशित किया था। इस हेवज्रतन्त्र की एक प्रति काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना में भी है। वहां के निदेशक ने उसकी फोटोस्टेट कापी भेजकर हमारा सहयोग किया। कापी सुन्दर, सुवाच्य और पूर्ण है। संपादन में प्रयुक्त प्रतियों का विवरण इस प्रकार है –

क. यह प्रति प्रोफेसर Giuseppe Tucci, Rome के पास सुरक्षित है, यह प्रति मूलतः नेपाल की है।

ख. यह प्रति केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में आरक्षित है - क्र. १३४०.

ग. यह प्रति एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता के पास है - क्र. ११३१७.

त. तिब्बतन अनुवाद - Narthang Kanjur.

च. चीनी अनुवाद, पीकिंग, क्र. ८९२.

प. काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना में सुरक्षित प्रति

टीकाएँ

फ. G. W. Farrow और I. Menon द्वारा संपादित तथा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, १९९२.

यो. काण्हकृत योगरत्नमाला प्रति - केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, क्र. १६९९. पुरानी बंगाली लिपि में लिखित।

त. तिब्बती प्रति - Narthang Tenjur, rgyud, xvi - 1-739

पा. केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, १६९९. तथा एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, क्र. ११३१७

प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने और उसकी भूमिका **"वज्रतन्त्र : साधना"** के लिखने में उपर्युक्त ग्रन्थों का भरपूर उपयोग हमने किया है। इसलिए उनके लेखकों तथा अन्य लेखक विद्वानों के प्रति हम अपनी विनम्र कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। साथ ही उन प्रिय शिष्यों को भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने हमें अपने निष्पक्ष निष्कर्ष को पुष्ट करने लिए वज्रतन्त्र परम्परा के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। हम तो स्वस्थ अध्ययन परम्परा में विश्वास करते आये हैं। प्रतिक्रिया विहीन 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' की हमारी दृष्टि रही है। निष्कर्ष कभी अन्तिम नहीं होते। चिन्तन की खिडकियां हमेशा खुली रहनी चाहिए। उन पर यदि धर्म, जाति आदि के पूर्वाग्रहों से दूषित परदे जड दिये गये तो इतिहास पंगु हो जाता है।

आ. भन्ते सम्धोंग रिन्पोचे, उपकुलपति तिबेतन शोध संस्थान, सारनाथ (वाराणसी) तिब्बती बौद्ध परम्परा के एक विश्रुत विद्वान साधक हैं और हमारे पुराने मित्र भी। इसलिए हेवज्रतन्त्र का प्रस्तुत संस्करण उनकी विद्वत्ता के लिए सादर समर्पित है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के माध्यम से मानव संसाधन मन्त्रालय, भारत सरकार ने जो आर्थिक सहयोग दिया है उसके लिए भी हम अत्यन्त आभारी हैं।

कस्तूरबा वाचनालय के पास,
गांधी चौक, सदर
नागपुर - ४४० ००१.
फोन नं. ५४१७२६
दि. १.१.१९९६

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग,
नागपुर विश्वविद्यालय,
नागपुर - महाराष्ट्र

** ** **

संदर्भ ग्रन्थ- सूची

अद्वयवज्रसंग्रह - सं. हरप्रसाद शास्त्री, बडौदा, १९२७.

अद्वयसिद्धि - सं. शेंडजे, बडौदा, १९६४.

अभिधर्मकोष - सं. राहुल सांकृत्यायन, काशी, सं. १९८८.

अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता - सं. राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८८८.

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प - सं. गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम, १९२१.

An Introduction to Tantric Buddhism – Dr. Shashibhusana Dasgupta, Calcutta, 1950.

An Introduction to Buddhist Esoterism – Dr. Vinayatosh Bhattacharya, Oxford, 1932.

कर्पूरादिस्तोत्र - Tantric Texts Vol. IX, edited by Aurthur Avalon, London 1922.

कौलज्ञाननिर्णय - सं. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता १९३४.

गुह्यसमाजतन्त्र - सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, बडौदा, १९३१.

ज्ञानसिद्धि - डॉ. बी. भट्टाचार्य, बडौदा, १९२९.

डाकार्णव - सं. नगेन्द्र नारायण चौधरी, कलकत्ता, १९३५.

तत्त्वसंग्रह - शान्तिरक्षित विरचित - सं. डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, बडौदा, १९३७.

तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य - नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, वाराणसी, १९५८.

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि - डॉ. गोपीनाथ कविराज, पटना, १९६३.

दीघनिकाय - सं. जगदीश काश्यप, वाराणसी, १९५६.

The Introduction to Buddhist Iconography – Dr. Vinayatosh Bhattacharya, Calcutta, 1963.

The Tantric Tradition – Agehananda Bharati, London, 1965.

The Hevajratantra – D.L. Snellgrove, Oxford, 1959. G.W.Ferrow & Menon, Delhi, 1992

दोहाकोश	-	सिद्ध सरहपाद कृत - सं. रा. सांकृत्यायन, पटना, १९५७.
दोहाकोश	-	सं. डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपूर, १९८७.
प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि	-	Teed Vajrayana Works डॉ. बी. भट्टाचार्य, बडौदा, १९२९.
बौद्धधर्म के विकास का इतिहास	-	डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, लखनऊ, १९६३.
बौद्धसंस्कृति का इतिहास	-	डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपुर - १९७४.
मज्झिम निकाय	-	सं. डॉ. जगदीश काश्यप, वाराणसी, १९५६.
महानिर्वाणतन्त्र	-	हरिहरानन्दनाथ भारती, कलकत्ता, १८८४.
मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति	-	सं. पाउसित, पइट्सवर्ग, १९०३.
वज्रसूची	-	अश्वघोष विरचित, सं. सुजीत कुमार मुखोपाध्याय, शान्तिनिकेतन, १९५०.
श्री चक्रसंभारतन्त्र	-	सं. K. D. Dup. London, 1919.
फदपण	-	सं. तारानाथ विद्यारत्न, लण्डन, १९४१.
साधनमाला	-	डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, बडौदा, १९२८.
सिद्ध साहित्य	-	धर्मवीर भारती, इलाहाबाद, १९५५.
सेकोद्देशटीका	-	नाडपाद विरचित, सं. केरेल्ली, बडौदा, १९४१.
		Mystic Tales of Lama Taranath, Calcutta, 1944.
Studies in the Tantras	-	Dr. Prabodhchandra Bagachi, Calcutta, 1939.
बौद्ध गान ओ दोहा	-	सं. म. म. हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता.
नाथ सम्प्रदाय	-	डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद, १९५०.
बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य	-	डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, इलाहाबाद, १९८३
		The Buddhist Tantras by Alex Wayman, New York, 1973.

अवलोकितेश्वर-गुण-कारण्ड-व्यूह - सं. सत्यव्रत समभ्रमी, कलकत्ता, १८७३.

Introduction to Tantrashastra by Akalon Arthur, Madras, 1956.

Dectine to Buddhism in India and its causes by Prabodh Chandra Bagachi, Calcutta, 1921.

विविध तन्त्र संग्रह - सं. आ.एम. चटर्जी, कलकत्ता, १९८१.

The Goods of Northern Bhuddhism by Getty, Alice.

पंचमकार तथा भावमय - पं. देवीप्रसाद कुलसंघशेखर, इलाहाबाद, १९५४.

Principles to Tantric Buddhism by Gowinda, Lama Anagarika, Kalinporg, 1950.

गुप्त साधनातन्त्र - पं. बलदेवप्रसाद मिश्रा, बम्बई, १९५३.

Comparation to critical study of Mantrashstra, Ahamedabad by M.B. Jhakeri.

कौलावलिनिर्णय - ज्ञानानन्द परमहंस, कलकत्ता, १९२८.

ज्ञानसिद्धि - इन्द्रभूति विरचित - सं. बी. भट्टाचार्य, बडौदा, १९२९.

महेश्वरतन्त्र - सं. कृष्णप्रियाचार्य.

Theory and Practice of Mandala by Tucci, London, 1961.

The Bhuddhism to Tibet or Lamaism, London, 1865.

योगिनीतन्त्र - पं. कन्हैयालाल मिश्र, बम्बई, १९५७.

मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य - डॉ. शिवशंकर अवस्थी शास्त्री, वाराणसी, १९६६.

** ** **

हेवज्रतन्त्र

तथा

योगरत्नमाला

(हेवज्र-पञ्जिका)

१. वज्रगर्भ संबोधिकल्प

१. सर्वतथागत काय-वाक्चित्त हेवज्रकुलपटल (१, ६९), २. मन्त्रपटल (३, ७८), ३. देवतापटल (७.७९), ४. देवताभिषेक पटल (९, ८२), ५. तत्त्व पटल (१०, ८२), ६. चर्यापटल (१२, ८५), ७. छोमापीठ पटल (१४, ८७), ८. योगिनीचक्र पटल (१७, ९०), ९. विशुद्धिपटल (२२, ९७), १०. अभिषेक पटल (२४, ९८), ११. दृष्टि वज्रगर्भसंबोधिपटल (२८, १०३).

२. महतन्त्रराजमायाकल्प

१. होमनिर्णय प्रतिष्ठा पटल (३०, १०४), २. सिद्धिनिर्णय पटल (३२, १०४), ३. हेवज्रसर्वतन्त्रनिदान-सन्ध्याभास पटल (३७, १०९), ४. हेवज्रसर्वतन्त्र-मुद्रणपिण्डार्थ पटल (४४, ११३), ५. हेवज्राभ्युदय पटल (५३, १२०), ६. हेवज्रपटविधान पटल (५९, १२४), ७. भोजन पटल (६०, १२४), ८. विनेय पटल (६१, १२५), ९. मन्त्रोद्धार पटल (६२, १२५), १०. जाप पटल (६६, १२७), ११. सहजार्थ पटल (६७, १२७), १२. महातन्त्रराज मायाकल्प पटल (६८, १२८).

श्री-हेवज्रमहातन्त्रराजा

प्रथमः कल्पः

१. हेवज्रडाकिनी - जालसंवर - वज्रगर्भाभिसंबोधिः

प्रथमः पटलः

सर्वतथागतकायवाक्-चित्त हेवज्र -वज्रकुलपटलः प्रथमः

ओं नमः श्रीहेवज्राय

एवं [१] मया श्रुतम् [२] । एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागत-कायवाक्-चित्त-हृदय[३] वज्रयोषिद् [४] - भगेषु [५] विजहार । तत्र भगवान् [६] आह - सर्वतथागत-काय-वाक्-चित्तहृदयं भट्टारकं [७] गुह्यातिगुह्यतरं [८] अहो वज्रगर्भ साधु साधु महाकृप-महाबोधिसत्त्व [९] {बोधिसत्त्वस्य} [१०] वज्रसत्त्वस्य महासत्त्वस्य समयसत्त्वस्य {ज्ञानसत्त्वस्य} [१०] हृदयं हेवज्रसंख्यं श्रृणु .

वज्रगर्भ उवाच -

वज्रसत्वो[११] भवेत् कस्मात् महासत्त्वो[११] भवेत् कथम् ।
समयसत्त्वो[११] भवेत् केन, कथयतु भगवान् मयि ।। १ ।।

भगवान्[१२] आह -

अभेद्यं वज्रमित्युक्तं[१३] सत्त्वं[१४] त्रिभवस्यैकता[१५] ।
अनया प्रज्ञया युक्त्या वज्रसत्त्च[१६] इति स्मृतः ।। २ ।।
महाज्ञानरसैः पूर्णो[१७] महासत्त्वो[१८] निगद्यते।
नित्य [१९] समयप्रवृत्तत्वात् समयसत्त्वो[२०] ऽभिधीयते [२१] ।। ३ ।।
[बोधिचर्यासमासेन बोधिसत्त्वो निगद्यते।
प्रज्ञाज्ञानसमायोगा [२२] ज्ज्ञानसत्त्वास्तथागतः [२३]]

वज्र गर्भ उवाच

<u>हेवज्रन्तु</u> भवेत् केन ईदृशं नामसंग्रहम् ।

---

१. संगीतिं सूचयति, २. मयैव श्रुतं, न परम्परया. ३. क. ख. हृदय शब्दो न विद्यते. ४. क. योगी. ५. ख. भग. ६. हेवज्रमूर्तिः वज्रधरः, भगा ऐश्वर्यादयो गुणा विद्यन्ते यस्य स भगवान् , ७. क. भमुद्राकारम्, ख. मुद्राकारम् ८. गुह्यकरम् ९. क - सत्त्वा, १०. ग. इत्यस्मिन्नेव प्राप्तम् ११. - सत्त्व. १२. ग. भवान् १३. सर्वधर्माणां शून्यताः १४. अर्थक्रियाकारित्त्वं १५. कायवाक्चित्तानि तेषां अद्वैधीभावः; क. त्रिभवमेकता १६. धर्मकायो. १७. क. पूर्ण्णं. ख., ग. पूर्ण. १८. बुद्धानां संभोगकायः १९. ग. नित्यं २०. यथार्थ-विनेयोपायैः नानाकारैस्त्रिधातुगमनं समयः, समयसत्त्वः निर्माणकायः २१. क. .ख. सत्त्वाभिधीयते. २२. ग. योगात् २३. ग प्रतौ एव प्राप्यते.

हेकारेण किमाख्यातं वज्रेणापि किमुच्यते[२४] ।।४।।

भगवान् आह

हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च[२५] भण्यते ।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं[२६] तन्मे[२७] निगदितं श्रृणु ।। ५।।
दृष्ट्याकृष्टि[२८] महाच्छोमं सामर्थ्यं बहुविधं विधुः ।
स्तम्भनोच्चाटनं चैव सैन्यस्तम्भाभिचारुकम् ।। ६।।
योगिनीनां यथान्यायं[२९] उत्पत्तिस्थितिकारणं ।
सामर्थ्यं ज्ञानविज्ञानं देवतानं यथोदयम् ।। ७।।
प्रथमं तावद्भवेदेकं[३०] हेरुकोत्पत्तिकारणं ।
भावेनैव[३१] विमुच्यन्ते वज्रगर्भमहाकृपा[३२] ।।८।।
बध्यन्ते भावबन्धेन मुच्यन्ते तत्परिज्ञया ।
भावं भाव्यं भवेत् प्राज्ञा[३३] अभावं च[३४] परिज्ञया[३५] ।। ९।।
देहस्थं च[३६] महाज्ञानं सर्वसंकल्पवर्जितं।
व्यापकः सर्ववस्तूनां देहस्थो ऽपि न देहजः ।। १०।।

वज्रगर्भ आह - हे भगवन. ! वज्रदेहे कतमा नाड्यः ? भगवान् आह - द्वात्रिंशन् नाड्यः ।

द्वाचिंशद् बोधिचित्तावहा महासुखस्थाने श्रवन्ते । तासां मध्ये तिस्रो[३७] नाड्याः प्रधानाः । ललना, रसना, अवधूती चेति ।

ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे[३८] ग्राह्यग्राहकवर्जिता ।। ११।।
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी ।
प्रज्ञाचन्द्रावहाख्याता ऽवधूती[३९] सा प्रकीर्तिता ।। १२।।
अभेद्या सूक्ष्मरूपा च दिव्या वामा तु वामिनी[४०] ।
कूर्मजा भावकी सेका दोषा विष्टा च मातरी[४१] ।। १३।।
शवरी शीतदा चोष्मा ललनावधूती[४२] रसना ।
पर्वणा कृष्णवर्णा च सुरूपिणी[४३] सामान्या हेतुदायिका ।। १४।।

---

२४. सर्वत्र - 'तथा किमुच्यतें' इति प्राप्तम् । २५. क प्रतौ 'च' न विद्यते. २६. तच्च त्रिधा - हेतु तन्त्रं, फलतन्त्रं, उपायतन्त्रं च. २७. वज्रधरस्य. २८. ग् - आकृष्टिर्. २९. क. वचोन्यायं. ३०. ख. भावयेत् त. प्रथमं भावयेदेकं ३१. पञ्चस्कन्धलक्षणात्मकशरीरेणेव. ३२. क. महाकृपः ३३. क. ख. प्रज्ञो, ग. प्रज्ञं, त. प्राज्ञा. ३४. ख. अभावस्य. ३५. पञ्चस्कन्धा-नुत्पादलक्षणतया परिज्ञया. ३६. क. ख. प्रतयोश्च नास्ति. ३७. सर्वत्र 'त्रीणी' वर्तते. ३८. क. ख. मध्यदेशे तु. ३९. क. ख. अवधूती. ४०. ग. वाहिनी. ४१. ग. मातरा. ४२. क. ख. ललना अवधूती, ग. ललना चावधूतिका. ४३. सर्वत्र 'स्वरूपिणी' वर्तते.

वियोगा प्रेमणी सिद्धा पावकी सुमनास्तथा।
त्रैवृत्ता कामिनी गेहा चण्डिका मारदारिका ।। १५।।
वज्रगर्भ उवाच - एता द्वात्रिंशन्नाड्यो[४४] भगवन् कीदृशाः ?

भगवान् आह -

त्रिभव[४५] परिणताः[४६] सर्वा ग्राह्यग्राहकवर्जिताः ।
अथवा सर्वोपायेन भवलक्षणकल्पिताः ।। १६।।
संवरभेदाश्च[४७] कथ्यते - आलि[४८]-कालि[४९] चन्द्र- सूर्य-
प्रज्ञोपाय- धर्म- संभोग- निर्माण- महासुख- काय- वाक्चित्तम् ।

एवंमया -

एकारेण लोचनादेवी वंकारेण मामकी स्मृता।
मकारेण पाण्डुरा च याकारेण तारणी स्मृता[५०] ।।१७।।

निर्माणचक्रे[५१] पद्मं चतुःषष्टीदलं । धर्मचक्रे अष्टदलं । संभोगचक्रे षोडशदलं, महासुखचक्रे द्वात्रिंशद्दलं, चक्रसंख्याक्रमेण व्यवस्थापनं । चत्वारः क्षणाः - विचित्र - विपाक - विमर्द विलक्षणाश्चेति। चत्वार्य अंगाणि[५२] - सेवा - उपसेवा - साधना - महासाधनाश्चेति। चतुरार्यसत्यानि - दुःख - समुदय - निरोध - मार्गाश्चेति।[५३] चत्वारि तत्त्वानि - आत्मतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं देवतत्त्वं ज्ञानतत्त्वं चेति । चत्त्वार आनन्दाः - आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति । चत्वारो निकाया[५४] - स्थावरी, सर्वास्तिवादः संविदी महासंघी[५५] चेति । चन्द्र-सूर्य- आलि-कालि षोडशसंक्रान्ती[५६]- श्चतुः[५७] षष्टीदण्डो[५८] द्वात्रिंशन्नाडी चत्वारः प्रहारा एवं सर्वे चत्वारः ।

चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति[५९] पंचतथागतान्[६०]।
दहति च लोचनादीः दग्धे हं सर्वते शशी[६१] ।।१८।।

सर्वतथागत कायवाक्चित्त हेवज्रकुलपटलः प्रथमः ।

---

४४. क. नाड्याः ४५. त्रयो भवाः सर्वधर्माः कायवाक्चित्त - संग्रहीतत्वात् तत्परिणतास्तत्स्वभावाः ४६. क. पो निणता. ४७. बाह्यानां औदारिकाणां अध्यात्मगतं यो योगी निश्चनुयात्. तत् तेषां संवरं संवृतत्वात्. ४८. अकारादि षोडशस्वरा आलिः. ४९. क-कारादि चतुस्त्रिंशद्व्यञ्जनानि. कालिः ५०. क. ख. ग. त. याकारेण च तारणी ५१. वामावर्तेन अ क च ट त प य शः । वरटकेओंकारम् । हृदि अधोमुखाष्टदलपद्मं। कोणदलेषु चतुर्षु - य र ल वाः । दिग्दलेषु आ ई ऊ ए चत्वारः । वरटके हूँकारं अधोमुखम्। कण्ठे षोडशदलं कमलं ऊर्ध्वमुखं मध्यस्थितं दिग्दलेषु चतुर्षु वामावर्तेन अ इ उ ए वरटके ओंकारम्। मूर्धनि द्वात्रिंशद्दलकमलं वरटके ऽधोमुखं हूँकारम्। ५२. केवलं ग प्रतौ. ५३. क. ख. मार्गः, ग. मार्गश्चेति. ५४. भिक्षुसंघः ५५. ग. महासंघीश्चेति. ५६. ख. ग. संक्रान्तिः ५७. सर्वत्र चतुषष्टि. ५८. ग. दण्डाः ५९. क. ख. दहती ६०. पञ्चस्कन्धानः ६१. बोधिचित्तम्

मन्त्रपटलो द्वितीयः

मन्त्रपटलं[१] व्याख्यास्यामः

(१) सर्वभौतिक बलिमन्त्रः । **ओं**-अकारो मुख[२] - सर्वधर्माणां आद्यनुत्पन्नत्वात् - ओं अः हूँ फट् स्वाहा ।

(२) तथागतानां बीजम् बुँ अँ ज्रीं[३] खँ हूँ[४] ।

(३) हेवज्रस्य हृदयं - ओं देव पिचु वज्र हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

(४) सर्वमन्त्रपदाः - ओंकारादि - स्वाहान्ता हूँ फट् कार - विदर्भिताः ।

(५) पुरक्षोभमन्त्रः - ओं अ क च ट त प य श स्वाहा

(६) योगिनीनां बीजम् - अ आइ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ।

(७) द्विभुजस्य - ओं त्रैलोक्याक्षेप हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

(८) चतुर्भुजस्य - ओं ज्वलज्वलभ्यो हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

(९) षड्भुजस्य - ओं किटि वज्र हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

(१०) कायवाक्चित्ताधिष्ठानमन्त्रः-ओं आः हूँ ।

(११) भूमिशोधनमन्त्रः ओं रक्ष रक्ष हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

(१२) स्तम्भनम् - ओं हूँ स्वाहा ।

(१३) वश्यम् - ओं ओं स्वाहा ।

(१४) उच्चाटनम् - ओं खँ स्वाहा ।

(१५) विद्वेषणम् - ओं ज्रीं स्वाहा ।

(१६) अभिचारुकम् - ओं बुँ स्वाहा ।

(१७) आकर्षणम् - ओं हूँ स्वाहा ।

(१८) मारणम् - ओं घुँ स्वाहा ।

---

१. परमार्थमनन्तात् जगतत्राणनाच्च मन्त्रः । २. सर्वत्र 'मुख' वर्तते. त. मुखं., ३. क. बुँ, आँ जीं; ख. बुँ आँ ज्रिं; ग. बुँ आँ ज्रीं, बुँ अं ज्रिं. ४. ग. तदन्तरे विद्यते ऽत्र देवीनां तु लाँ माँ पाँ ताँ वँ ।

(१९) ओं कुरुकुल्ले ह्रीः स्वाहा ।

(२०) **वर्षायनविधिः**

ओं - आः- फु ः कारं अनंतप्रतिकृतिं कृत्वा पञ्चामृतेन [५] स्नापयेत्। कृष्णपुष्पेणार्चयेत् । हस्तिमदेन शिरो लेपयेत् । शरावद्वयेन संपुटीकृत्य स्थापयेत्। कृष्णगोक्षीरेण पूरयेत् । कृष्णकुमारी - कर्तितसूत्रेण वेष्टयेत् । वायव्यां दिशि पुष्करिणी[६] कृत्वा तं अनन्तं स्थापयेत् । तस्यास्तटे मण्डलं वर्तयेत् । कृष्णरजः श्मशानांगारेण सितरजो नरास्थिचूर्णेन पीतराजो हरितलक्तेन रक्तरजः श्मशानेष्टकेन हरितरजश्चौर्यपत्र - नरास्थि[७]- चूर्णाभ्यां नीलरजो नरास्थिश्मशानांगार[८] - चूर्णाभ्यां रजोभिर् एभि र्मण्डलं वर्तयित्वा श्मशानसूत्रेण संसूच्य त्रयहस्तं मण्डलं त्रयांगुष्ठादिकम् [९]। तन्मध्ये ऽनन्ताक्रान्तं हेवज्रं लिखेत् । अष्टास्यां चतुश्चरणं भुजषोडशभूषितं चतुर्विंशतिनेत्राढ्यम्। पश्चाद् आचार्यो ऽध्यात्म - क्रूरचेतसा मन्त्रं जपेत् विजने देशे।

ओं घुरु घुरु घुडु घुडु मस मस घट घट घोटय घोटय अनन्तक्षोभकराय नागाधिपतये हे-हे-रु-रु-क सप्तपातालगतान् नागान् कर्षय कर्षय वर्षय वर्षय गर्जय गर्जय फुः फुः फुः फुः फुः फुः फुः फुः हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

यदि न वर्षन्ति[१०] तदा एतेन मन्त्रं विपरीतेन जपेत् । वर्षन्ति। यदि न वर्षन्ति तदा मूर्धा स्फुटति यथार्जकस्येव मञ्जरी । वर्षायनविधिः ।

(२१) **मेघास्फाटनविधिः** [१३]

मेघानां स्फाटनं [११] वक्ष्ये । श्मशानकर्पट उपविश्य मन्त्रजपेन स्फाटयेत् [१२] ।

ओं आर्यश्मशानप्रियाय हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा ।

(२२) **वज्रकर्तरिविधिः**

परसैन्यविनाशाय खटिकासाधनं वक्ष्ये[१४] । खटिकां पिष्ट्वा पञ्चामृतेन कुठारच्छिन्नाय सार्धं वतिकां कारयेत् । मन्त्रः -

ओं वज्रकर्तरि हेवज्राय हूँ हूँ हूँ फट्। सिद्ध्यर्थं कोटिं जपेत् ।

पूर्वसेवां लक्षं जपेत् । तां साध्यकमण्डलुग्रीवां वेष्टयेत् । वेष्टयित्वा भञ्जयेत्। सर्वे शत्रवः शिरोहीना भवन्ति। इति वज्रकर्तरिविधिः।[१५]

---

५. दधि, दुग्ध धृत, गोमूर्त, गोमय, = अध्यात्मिकेन. ६. ग. पुष्किरिणीं ७. क. ग. पत्रान्नस्थि, ख. शब्दोऽयं नास्ति. ८. ग. अंगानि, ९. कर्तव्यम् १०. क. वरिसांति ११. ग. स्फुटनं १२. ग. स्फुटयेत्. १३. ग. स्फुटन. १४. क. कुठारक्षिन्नाया. १५. क. वज्रकलिविधिः; ख. वज्रकुटाच्छास्ति चरय्यया.

(२३) **देवतास्फाटन[१६]विधि :**

देवान् स्फाटयितुकामेन तिलकं साधनीयम्। ब्रह्मबीज[१७] पुष्पसाधितं कुठारछिन्नामिश्रितं सूर्यग्रासे अक्षोभ्येन पिष्येत्[१८]। पिष्ट्वा प(र)शुं संस्करेत्। तं पादेनाक्रम्य मन्त्रं जपेत्।

ओं वज्रकुठार पाटय पाटय हुँ हुँ हुँ फट् स्वाहा।

कोटिं जप्य तिलकं वन्दयेत्। यं च लगति स स्फुटति।देवतास्फाटन-विधिः[१९]।

(२४) **तापाज्वलनविधिः**

तापज्वलं कर्तु-कामेन। अर्कदले विषराजिकारवणचित्रकरसेन शत्रो र्नाम लिखेत्। तुषाग्नौ निक्षिपेत्। मन्त्रं अयुतं जपेत्।

ओं हेवज्र ज्वल ज्वल शत्रून् भ्रुँ हूँ हूँ फट् स्वाहा।
अयुतजपेन सिद्ध्यति।

(२५) **मद्यं उद्गीरणविधिः**

मद्यं उदगिरितुकामेन[२०] साध्यस्य नाभौ मं-कारं भावयेत्। मं-कार-निष्पन्नं मद्योदरं विभावयेत्। वांतिकुर्वन्[२१] दृश्यते। मद्यं उद्गिरति।

(२६) **प्रमादां वशीकरणविधिः**

प्रमादां वशीकर्तुकामेन अशोकाष्टम्यां अशोकतलं गत्वा रक्तवस्त्रं परिधाय मदनफलं[२२] भक्ष्येत् कामाचिकारसेन तिलकं वन्द्य[२३] मन्त्रं जपेत्।
ओं ह्रीः[२४] अमुकी मे वशीभवतु स्वाहा। अयुतजापेनागच्छति।

(२७) **चन्द्रसूर्य-विधारणविधिः**

चन्द्रसूर्यौ[२५] वशीकर्तुकामेन शालिपिष्टकमयं चन्द्रार्कं कृत्वा वज्रोदके[२६] निक्षिपेत्। मन्त्रं जपेत्।

ओं चन्द्रार्के[२७], मा चल मा चल तिष्ठ तिष्ठ हेवज्राय हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा।सप्तकोटिं जपेत्। तिष्ठते। चन्द्रसूर्यं[२८] रात्रिंदिवाविशेषकं[२९] भवति। इति चन्द्रसूर्य विधारणविधिः।

---

१६. ग. स्फुटयितुं. १७. पलाशबीजं. १८. क. विषयेत् १९. ग. स्फुटयितु २०. क. उद्भिरितु- २१. क. वांतिकुर्वन; ग. वांतिकुर्वन्तं २२. क. मंदनहन २३. क-ख. वंदे २४. ग. ओं करकर्णे अमुकी मे ह्रीः वशीभवतु। क-ख. ओं अमुकी मे ह्रीः वशीभवतु. २५. क. ख. चन्द्रसूर्यौ, ग. चन्द्रसूर्य. २६. ग. वज्रोदकेन. २७. ग. चन्द्रार्के २८. क. ख. चन्द्रसूर्यो, ग. चन्द्रसूर्यन् २९. क. ख. अविशेषको, ग. अविशेषो.

(२८) **वज्रज्योतिषो नष्टद्रव्यान्वेषण विधिः**

ओं नग्रा नग्रा इत्यनेन मन्त्रेण विकालवेलायां[३०] कुमार्यार्थाय साधनार्थं चक्षुष्य अष्टोत्तरशतेनाभिमन्त्र्य पुष्पधूपदीपानां पञ्चोपचारेण संपूज्य[३१] निमन्त्रयेत् । चतुर्दश्यां अष्टम्यां वा प्रभातकाले कलशादिकं संस्थाप्य तैलं अलक्त[३२] करसं चानेनैव मन्त्रेणाष्टोत्तरशतवारान् अभिमन्त्रयेत् । पश्चाद् अभिमन्त्रितालक्तकरसेन मन्त्रिणो वृद्धाङ्गुष्ठं मक्षयित्वा तैलेनापि स्नाप्य कुमार्यान्[३३] दर्शयेत् । वद केन मम द्रव्यं अपहृतं इति । तत्र सा कथयति । अमुकेनेति । वज्रज्योतिषो नष्टद्रव्यान्वेषणविधिः।

(२९) ओं वेडुया इत्युक्ते हस्ती पलायते ।

(३०) ओं मर्मा मर्मा इत्युक्ते व्याघ्रा पलायते ।

(३१) ओं तेलिया तेलिया इत्युक्ते गण्ढा पलायते ।

(३२) इलि मिलि फूः फूः इत्युक्ते सर्पः पलायते ।

(३३) धनपाल-वैनेय-हस्तेन हस्तं दर्शयेत् । श्वा पलायते ।

(३४) वज्रा गौरी च वारी च वज्रडाकी नैरात्मिका ।
भूचरी खेचरी - योगात् स्तम्भनादि करेद्[३४] व्रती[३५] ।

मन्त्रमटलो द्वितीयः

तृतीयः पटलः

देवतापटलः

देवतापटलं व्याख्यास्यामः

प्रथमं भावयेन मैत्रीं द्वितीये करुणां तथा[१] ।
तृतीये भावयेन् मोदं[२] उपेक्षां सर्वशेषतः ।।१।।

तस्मात् पुनरपि

प्रथमं शून्यता बोधिं द्वितीयं बीजसंग्रहम् ।
तृतीयं बिम्बनिशष्पत्तिं चतुर्थन्न्यासमक्षरम्[३] ।।२।।

---

३०. = यो. अष्टम्यां चतुर्दश्यां वा ३१. क. संपूज्यं, ख. संपूज्ये ३२. क. अरक्षक, ख प्रतौ शब्दोऽयं नास्ति ३३. क. ख. कुमार्य्या ३४.क. कदे, ख. कूर्य्याद., ग. करेद् ३५. ग. योगी

---

१. क. ख. करुणां विभावयेत् २. क. ख. मुदितां, ३. = मृदुयोगसमाधिः

रेफेन्न[४] सूर्यं पुरतो विभाव्य तस्मिन्नाभौ[५] हूँ भवविश्ववज्रम् ।
तेनैव वज्रेण विभावयेच्च प्राकारकं पञ्जरबन्धनञ्च ।। ३।।
प्रथमं भावयेन्मृतकं[६] धर्मधात्वात्मकं विदुः ।
योगी तस्योपरि स्थित्वा हेरुकत्वं[७] विभावयेत् ।। ४।।

ततः

स्वहृदि भावयेत् रेफं तद्भव्यं सूर्यमण्डलं ।
तत्रैव हूँ-कृतिं चैव प्रज्ञोपायस्वभावकम् ।। ५।।
कृष्णवर्णं महाघोरं हूँकारं वज्रसंभवं ।
वज्रवरटकमध्यस्थं हूँ - तत्त्वं विभवयेत् ।। ६।।

पुनः

हूँ-कारपरिणतं दृष्ट्वा द्वेषात्मकं[८] विभावयेत् ।
वज्रजन्म-महाकृष्णं नीलपंकजसन्निभम् ।।
अथवा नीलारुणाभं च भावयेच्छन्दया खलु ।। ७।।
व्योम्नि भट्टारकं दृष्ट्वा वज्रजन्ममहाकृपं ।
पूजयेदष्टदेवीभिः सर्वालङ्कारधारिभिः ।। ८।।
चौरी मृगलाञ्छनधर्त्री गौरी मार्तण्डभाजनं[९] ।
वेताली वारिहस्ता च भैषज्यधर्त्री घस्मरी ।। ९।।
पुक्कसी[१०] वज्रहस्ता च शबरी रसधरी तथा ।
चण्डाली डमरूं वाद्य[११] एताभिः पूज्यते प्रभुः ।।
डोम्ब्यालिङ्गितकंधरो महारागानुरागितः ।। १०।।
चन्द्रालि[१२] - कालि[१३] - मार्तण्डं बीजं[१४] मध्यगतं[१५] भवेत् ।।
स एव सत्त्वे[१६] इत्याहुः परमानन्द-स्वभावको[१७] ।। ११।।
विस्फुरन्ति स्वदेहभिः गगनमण्डलच्छादकाः ।
संहार्यानयेद् धृदये[१८] योगी द्वेषात्मको भवेत् ।। १२।।
नीलारुणाभवर्णेन रक्तबन्धुकनेत्रवान् ।

४. = अग्निवर्णेन. ५. ग. रभौ. ६. मृतको हि निरात्मकः ७. आत्मानं ८. ग. द्वेषात्मनं. ९. क. भाञ्जनम्. १०. क. ग. पुक्कशि. ११. क. दमनुकं वादयेत्. ग. दमनुं वादे, ख. नात्र अंशो ऽयं । १२. य. अकारादिपञ्चदशस्वरा आलि, १३. ककारादि चतुश्त्रिंशदव्यञ्जनानि कालिः । आलि = परिणत-चन्द्रः, कालिः परिणत-सूर्यः। १४. क. ख. ग. बीज- त. हरिन्यल = आवर्ता. १५. ग. मध्यगते. १६. क. ख. ग. सत्त्वं. १७. क. ग. स्वभावकम्. १८. क. अनये हृदयं.

पिङ्गोर्ध्वकेशवर्तश्च [१९] पञ्चमुद्रेणाल ङ्कृतः ।। १३ ।।
चक्री कुण्डल कण्ठी च हस्ते रूचक मेखला ।
पञ्चबुद्ध्याविशुद्धया च एता मुद्राः प्रकीर्तिताः ।। १४ ।।
क्रुद्धदृष्टि र्व्याघ्रचर्मा स [२०] द्विरष्टवर्षाकृतिः ।
वामे वज्रकपालं च खट्वाङ्गं चापि वामतः ।।
दक्षिणे कृष्णवज्रं च हूँ कारोच्चारणत्मकः ।। १५ ।।
श्मशाने क्रीडते नाथे [२१] ऽष्टयोगिनीभिः परिवृतः ।।
श्वसतीत्यनया युक्त्या शमशानेत्यभिधीयते ।। १६ ।।

चतुर्भुजश्चतुर्मारनिर्जित [२२]-विशुद्धितः । पूर्वोक्तवर्णरूपो हूँभवः प्रथमवामभुजे नरकपालं देवासुराणां रक्तेन पूरितं प्रथमदक्षिणभुजे वज्रं शेषद्विभुजाभ्यां प्रज्ञालिङ्गितः [२३] । वज्रवाराही प्रज्ञाभगवद्रूपिणी [२४] षड्भुजस्त्रीमुखो [२५] वामं रक्तं दक्षिणं चन्द्रारुणाभं प्रथमं नीलं, नग्नोः पूर्वोक्तवर्णरूपो [२६]। भुजानां षट्पारमिताविशुद्धिः । प्रथमवामभुजे त्रिशूलं प्रथमदक्षिणभुजे वज्रं वामद्वितीयभुजे घण्टा दक्षिणद्वितीय भुजे कर्तिः । शेषद्विभुजाभ्यां वज्रश्रृङ्खलासमापन्नः [२७] । यद्वद् भगवान् तद्वत् प्रज्ञा सव्यावसव्ये [२८] कर्तृकपालं, त्रैधातुकात्मक-मृतकाक्रान्तः ।

सर्वतथागतकाय वाक्चित्त हे वज्रदेवता-पटलस्तृतीयः

चतुर्थपटलो

देवताभिषेकपटलः

देवताभिषेकपटलं व्याख्यास्यामः

स्वहृदि स्वबीजाद् रश्मिं [१] निश्चार्य कृष्णदीप्तया [२] अङ्कुशाकारया त्रैधातुकव्यवस्थितान् बुद्धान् आकृष्याष्टमातृभिः संपूज्यानुनाययति ।

"ओं अभिषिञ्चन्तु मां सर्वतथागता" इति । तै बुर्द्धै हेरुकाकाररूपैः पञ्चामृतभृतैः [३] पञ्चतथागतात्मकैः कलशैः पञ्चभिरभिषिच्यते [४] अभिषिच्यमाने [४]

१९. क. पिङ्गलोद्ध्वकेशव्रतमा च, ख. पिङ्गधकेशवतमा च; ग. पिङ्गाध्वकिशवतमा च. २०. क. - चर्मावरो द्वि,; च.- चर्मा द्वि. गः नास्त्थ्यत्र अंशोऽयम् ।२१. क. नाथः अष्ट, ग. फ. नाथो ऽष्ट २२.क. ग. - भुज. २३. ग. प्रज्ञालिङ्गितं. २४. क. भवेत् रूपिणी; ख. भवाद्रूपिणी, ग. भगवान् रूपिणी. २५. क. ग. षड्भुजं त्रिमुखं. २६. सर्वत्र वर्तते नग्नं रूपं. २७. क. समापत्य; ख. ग. सांपत्य. २८. फ. सव्यापसव्ये.

१. क. रस्मी, ख. रश्मिन् ; ग. रश्मी २. सर्वत्र दीप्तितया प्राप्यते. ३. ग. पञ्चामृतभृतः, ४. क. ग. अभिषिञ्च्य - , ख. अभिसिच्य-

पुष्पवृष्टि र्भवति । दुन्दुभिशब्द उच्चलति[५] कुङ्कुमवृष्टि र्भवति। रूपवज्रादिभिः संपूज्यते। वज्रगीत्यो[६] लोचनाधिभि र्गीयन्ते। अभिषिच्यमाने[४] मूर्ध्नि स्वकुलेशो भवति । एतेन हेरुको निष्पत्रः त्रिसंध्याधिष्ठान-भावनां विभाव्यो[७] त्तिष्ठेत् । देवता-मूर्त्या स्थातव्यम् अभिषेकपटलश्चतुर्थः ।

पञ्चमपटलस्तत्त्वपटलः

अथ तत्त्वपटलं व्याख्यास्यामः । स्वरूपेण

नास्ति रूपं न द्रष्टा च न शब्दो नापि श्रोता च ।
न गन्धो नापि घ्राता च न रसो नापि रसकः ।
न स्पर्शो नापि स्पृष्टा च न चित्तं नापि चित्तिकम्[१] ।।१।।
जननीं[२] भगिनीं चैव पूजयेद् योगवित् सदा ।
नटी[३] च-रजकीं वज्रां चण्डालीं [४] ब्राह्मणीं तथा ।
प्रज्ञोपायविधानेन [५] पूजयेत् तत्त्ववत्सलः[६] ।।२।।
सेवितव्याः प्रयत्नेन यथा भेदो न जायते[७]।
अगुप्ते[८] क्रियते दुःखं व्याडचौराग्निभूचरैः ।।३।।
मुद्राः[९] पञ्चकुलानीति कथ्यते मोक्षहेतुना ।
वज्रेण[१०] मुद्र्यतेऽनेन[११] मुद्रा तेनाभिधीयते ।।४।।
वज्र पद्म[१२] तथा कर्म [१३] तथागत-रत्नैव च ।
कुलानि पञ्चविधान्याहुरुत्तमानि महाकृपा ।।५।।
वज्रे डोम्बी भवेन मुद्रा पद्मे नर्ती तथैव च ।
कर्मणि रजक्याख्याता[१४] ब्राह्मणी च तथागते ।।६।।
रत्ने चण्डालिनी ज्ञेया पञ्चमुद्रा विनिश्चिताः ।

५. ग. उच्चरति. ६. सर्वत्र गीत्या वर्तते. ७. क. ग. भावना भाव्यो-; ख. भावनां भाव्यम, त. भावनां विभाव्य

१. भावानां निःस्वभावत्वम् नागार्जुनपादैः सिद्धम्. २. इदानीं अध्यात्मिकयोगमाहः ३. सर्वत्र वर्तते इयं पंक्तिः- नटीमी च राजकीमी वज्रामी चण्डालामी ब्राह्मणीमी तथा। ४. निहतमानत्वात चण्डाली. ५. नैरात्म्या प्रज्ञा, उपायो हेवज्रः ६. तत्त्ववित् सदा. ७. भेदे दृष्टादृष्टदोषः; स्पर्शेन्द्रयविज्ञानं राजकी. रसविज्ञानं नटी, श्रवनेन्द्रियविज्ञानं वज्री, घ्राण चण्डाली, चक्षु ब्राह्मणी, प्रज्ञेत्यादि सर्वधर्मशून्यता. ८. ग. अगुप्तं. ९. सर्वत्र मुद्रापञ्च वर्तते. १०. वज्रं अभेद्यं ज्ञानं तेनानेन मुद्रयते महासुखं ज्ञायते. ११. क. मुद्रयते ऽनेनादि, ख. मुद्ये नेदने, ग. मुभ्रते नेति; त. वज्रेण मुद्र्यते ऽनेनैव । १२. ख. वज्रं-पद्मं. १३. सर्वत्र कर्म्म विद्यते. १४. क. ख. कर्मरजकी समाख्याता, ग. कर्म रजकी सदा ख्याता.

तथागतकुलं चैतत् संक्षेपेनाभिधीयते ।। ७।।
तथतायां गतः श्रीमान् आगतश्च तथैव च ।
अनया प्रज्ञया युक्त्या तथागतो ऽभिधीयते ।। ८।।
कुलानि षड्विधान्याहुः संक्षेपेण तु पञ्चधा।
पश्चाच्च त्रैविध्यं यान्ति, कायवाक्चित्तभेदनैः[१५] ।।९।।
कुलानां[१६] पञ्चभूतानां पञ्चस्कन्धस्वरूपिणां।
कुल्यते गण्यते ऽनेन कुलमित्यभिधीयते ।। १०।।
नास्ति भावको न भावो स्ति मन्त्रन्नास्ति न देवता ।
संस्थितौ[१७] मन्त्रदेवौ च निःप्रपञ्चस्वभावतः ।।११।।
वैरोचनाक्षोभ्यामोघश्च रत्नारोलिच्च सात्विकः[१८] ।
ब्रह्मा विष्णुः शिवः सर्वो विबुद्धस्तत्त्वमुच्यते ।। १२।।
ब्रह्मा निर्वृतितो बुद्धः विष्नाद् विष्णुरुच्यते ।
शिवः सदा सुकल्याणात् सर्वः सर्वात्मनि स्थितिः ।। १३।।
सत्सुखत्वेन[१९] तत्त्वं च विबुद्धो बोधनात् रतेः ।
देहे संभवती[२०] त्यस्माद् देवते ति निगद्यते ।। १४।।
भगवो ऽस्यास्तीति बुद्धस्य भगवानिति कथ्यते ।
भगानि षड्विधान्याहुरैश्वर्यादिगुणाखिलाः ।।
अथवा क्लेशादिमाराणां भञ्जनाद् भगवानिति ।। १५।।
जननी भण्यते प्रज्ञा जनयति यस्माज्जगत्[२१] ।
भगिनी ति तथा प्रज्ञा विभागं दर्शयेद्यथा ।। १६।।
रजकीति दुहिता च नर्तकी च प्रकथ्यते ।
रञ्जात् सर्वसत्वानां रजकी ति तथा स्मृता ।।१७।।
गुणस्य दुहनात् प्रज्ञा दुहिता च निगद्यते ।
नर्तकी भण्यते प्रज्ञा चञ्चलत्वान् महाकृपा ।
अस्पर्शा भगवती यस्मात् तस्मात् डोम्बी[२२] प्रकथ्यते ।।१८।।

---

१५. ख. ग. भेदेन. १६-१७. क. प्रतौ त्रिपंक्त्यः न विद्यन्ते; पञ्चभूते मन्त्रदेवौ, ख. प्रतौ नास्ति एका पंक्तिः द्वितीया त्वशुद्धा। १८. क. रत्नालौलिकसान्धिकः १९. क. सत्सुखे तेन. २०. ख. त. संभवति यस्मात्. २१. क. ख. जगज्जिनम्; जगत् जनम् ; २२. क. ख. डोम्बी तस्मात्.

जल्पनं जपमाख्यातं मालिकाल्योः प्रजल्पनात् ।
मण्डलं पादलेखः स्यान्मलनाद् मण्डल[२३] मुच्यते ।।१९।।
करस्फोटो भवेन्मुद्राङ्गुल्यामोटनं तथा ।
तद् ध्येयं चिन्तितं यच्च ध्येयं यस्माद्विचिन्तनम् ।। २०।।
पितरि प्राप्तं यत् सौख्यं तत् सुखं भुज्यते स्वयम्।
मरणं येन सुखेन तत् सुखं भुज्यते स्वयम् ।
मरणं येन सुखेन तत् सुखं ध्यानमुच्यते ।। २१ ।।

तत्त्वपटलः पञ्चमः

षष्ठ-पटलः

चर्यापटलः

अतः[१] परं प्रवक्ष्यामि चर्या[२] पारंङ्गतं वरम्।
गम्यते येन सिद्धान्तं हेवज्रे सिद्धि हेतुना ।। १।।
भावकेत[३] विधर्तव्यं कर्णायो र्दिव्यकुण्डलम् ।
शिरसि चक्री धर्तव्या हस्तयो रूचकद्वयम् ।। २।।
कट्यां वा मेखलं चैव पादयो र्नूपरन् तथा ।
बाहुमूले च केयूरं ग्रीवायामस्थिमालिका ।। ३।।
परिधानं व्याघ्रचर्म भक्षणं दशार्धामृतम् ।
हेरुकयोगस्य पुंसो विहारः पञ्चवर्णेषु ।। ४।।
पञ्चवर्णसमायुक्त मेकवर्णन्तु कल्पितं ।
अनेकेनैकवर्णेन यस्मात् भेदो न लक्ष्यते ।। ५।।
एकवृक्षे श्मसाने वा भावना कृथ्यते शुभा ।
मातृगृहे तथा [३a] रम्ये[४] ऽथवा विजने प्रान्तरे ।। ६।।
किञ्चिदुष्मे [५] तु संप्राप्ते चर्यां कर्तुं यदीष्यते[६] ।

---

२३. महासुखं ज्ञानं लाति गृहणातीति मण्डलं । पादांगुष्ठयोर् दृढाकुञ्चनं मलनान् मण्डलं मुच्यते ।

---

१. क. ख. अथः २. सर्वत्र चर्यापरमिति विद्यते। ३. क. यो. चर्यायोगिना इत्यर्थः ३a. क. ख. त. तथा रात्रौ, ग. तथारण्ये. ४. क. अर्धरात्रौ विभोग्य, ख. अर्धरात्रौ विशेषतः। ५. यो. समाधितन्त्रजा प्रभावाः इत्यर्थ. ६. क. कर्तु च दुधता., ख. कर्त्यं ययदीयते.

सिद्धिं गन्तु यदीच्छास्ति[७] चर्यया त्वन्यया चरेत् ।। ७।।
चारुवक्त्रं विशालाक्षीं रूपयौवन-मण्डितां ।
नीलोत्पलश्यामाङ्गीं [८] च स्वाभिषिक्तां कृपावतीम् ।।
वज्रकन्यामिमां ग्रह्य चर्यां कर्तुं विवुध्यते[९] ।।८।।
वज्रकुलाभावात् स्वेष्टदेवकुलेन क्रीयते ।
अथवान्यकुलोद्भवा[१०]
बोधिबीजनिक्षेपेण संस्कृतां गृह्णीयात्[११] ।।
यदि गीतं[१२] गीयतानन्दात् तर्हि वज्रान्वितं परम्[१३]।। ९।।
यद्यानन्दे समुत्पन्ने नृत्यते मोक्षहेतुना ।
तर्हि वज्रपदे नाट्यं कुर्याद योगी समाहितः ।। १०।।
अक्षोभ्यश्चक्री रूपेणामिताभः कुण्डलात्मकः ।।
रत्नेशः कण्ठमालायां हस्ते वेरोचन स्मृतः[१४] ।। ११।।
मेखलायां स्थितो ऽमोघः प्रज्ञा खट्वांङ्गरूपिणी ।
डमरूपायरूपेण योगी[१५] द्वेषविशुद्धितः [१६] ।।१२।।
मन्त्र विशुद्ध्या [१७] स्थिता गीता नर्तना भावना स्मृता ।
तस्माद् गीतञ्च नाट्यञ्च कुर्याद्[१८] योगी सदा सदा ।। १३।।
भक्षितव्यं तु भैषज्यं पातव्यं वारि नित्यताम्।
जरामृत्यु र्न बाध्येत्[१९] रक्षाभूतः सदा भवेत्।। १४।।
चौर्यकेशाकृतां [२०] मुकुटीं[२१] तत्र हूँ-भवो[२२] योजयेत् ।
पञ्चबुद्धकपालानि धर्तव्यं योगचर्यया ।। १५।।
पञ्चाङ्गुलकपालखण्डं मुकुट्यां [२३] ध्रियते सदा ।
कचडोरीं[२४] द्विवेता च प्रज्ञोपायस्वभावतः ।।
भस्मकेशपवित्रञ्च [२५] योगी विहरति चर्यया।। १६।।
जापो डमरूकशब्दः[२६] प्रज्ञाखट्वाङ्ग[२७] भावना ।
जाप्यं भाव्यं भवेदेतत् वज्रकपालचर्यया।। १७।।

---

७. क. यदिच्छान्ति, ८. क. नीलोत्पलश्यामा, ख. त. ना ऽ त्र वर्तते ९. क. कर्तुं यदिष्यते, ख. कर्तुं त्त वस्यते. १०. ग. अथवा चानुकुलोद्भवां ११. क. ग. संस्कृतां गृह्य, ग. संगृह्य, १२. सर्वत्र 'गीतं गीयते' ति प्राप्नोति. १३. क. तत्परं १४. ग. मतः १५. क. डमरूकोपाययोगी, ख डमरूकोपायरूपेण योगी । तथा च हेवज्रपिण्डार्थटीका दृष्टव्य खट्वांगो १६. हेवज्रविशुद्धिः १७. सर्वत्र विशुद्ध्या वर्तते. १८. सर्वत्र कुरुते उपलभ्यते. १९. क. ख. बाधेत्. २०. यो. उद्बद्धकेशः २१. सर्वत्र माकुटी वर्तते. २२. सर्वत्र भव; क. भवो हेवज्रमूर्ति इत्यर्थः। २३. क. मुकुट्या. ख. मुकुटा. २४. यो. केशरज्जुः २५. यो. केशयज्ञ २६. क. ख. डमरूकाशब्द; ग. डमरूकाशब्दं। २७. सर्वत्र खद्वाङ्गवर्तते.

लोभं मोहं भयं क्रोधं व्रीडाकार्यञ्च वर्जयेत् ।
निद्रामात्मानमुत्सृज्य चर्यां कुर्यान्न[२८] संशयः ।। १८ ।।
शरीरं दानं दत्वा च पश्चाच्चर्यां समारभेत्।
भागाभागविचारेण [२९] तस्मात् दानं न दीयते ।।१९।।
भक्ष्यं भोज्यं तथा पानं यथा प्राप्तं तु भक्षयेत् ।
ग्रहणं नात्र कर्तव्यं[३०] इष्टानिष्टविकल्पतः ।। २० ।।
भक्ष्याभक्ष्यविचारन्तु पेयापेयं तथैव च।
गम्यागम्यन्तथा मन्त्री विकल्पन्नैव कारयेत् ।। २१ ।।
सिद्धिलब्धो ऽपि यः शिष्यः संयोगज्ञानावभासकः ।
अभिवन्दयति गुरुं सिद्धो ऽवीच्यात्याज्यहेतुना ।। २२ ।।
शिक्षा दीक्षा विनिर्मुक्तो लज्जकार्यं तथैव च ।
सर्वभावस्वभावेन [३१] विचरेद् योगी महाक्रमः ।। २३ ।।
होमत्यागतपो - तीतो मन्त्रध्यान-विवर्जितः ।
समय[३२] - संवर - विनिर्मुक्तश्चर्यां कुरुते सुयोगवान् ।। २४ ।।
शक्रतुल्यो ऽपि यो दैत्यः पुरतो भवति [३३] निश्चितं ।
भयं तत्र न कुर्वीत सिंहरूपेण पर्यतेत् ।। २५ ।।
करुणा पीयते नित्यं सर्वसत्त्वार्थ- हेतुना ।
योगपानरतो योगी नान्यपानेन मज्जनम्[३४] ।। २६ ।।

चर्यापटलः षष्ठः

सप्तमः पटलः

छोमापीठपटलः

अथ छोमापटलं[१] व्याख्यास्यामः
येन विज्ञायते भ्रात भगिनी च न संशयः ।। १ ।।
अङ्गुलीं दर्शयेद्यस्तुत्वागतमित्युक्तंभवेत्[२] ।

२८. क. ख. चर्या क्रियते; यो. ग. चर्या क्रियेन. २९. यो. योग्यायोग्य विचारं अपहाय ३०. क. ख. ग्रहमत्र न कर्त्तव्यं; ग्रहनं अत्र कर्त्तव्यं. ३१. यो. सर्वासु अवस्थासु हेवज्राहंकारेण. ३२. यो. यदेव करोति तदेवास्य समयः, यदेव न करोति स एवास्य संवरः. ३३. क. ग. भव. ३४. क. मज्जनः

१. यो. मिलिच्छा योगिनीनां संक्तेनाभिसमयजल्पनम् । २. ख., त. अर्धपंक्तिरियं नात्र वर्तते.

द्वाभ्यां सुस्वागतो भवेत् ।
क्षेममुद्रां[३] विजानीयाद् वामाङ्गुष्ठनिपीडनात् ।। २।।
अनामिकां[४] तु यो दद्याद् दद्यात्तस्य कनिष्ठिकां ।
माध्यमान् दर्शयेद्यस्तु[५] दद्यात्तस्य[६] प्रदेशिकाम् ।। ३।।
अनामिकान् दर्शयेद्यस्तु ग्रीवां तस्य[७] प्रदर्शयेत् ।
पटं[८] संदर्शयेद्यस्तु त्रिशूलं तस्य[९] दर्शयेत् ।। ४।।
स्तनं[१०] दर्शयेद् यस्तु[५] सीमान् तस्य[११] प्रदर्शयेत् ।
मेदिनीं[१२] दर्शयेद् यस्तु[५] चक्रं तस्य[१३] प्रदर्शयेत् ।। ५।।
भृकुटीं[१४] दर्शयेद् यस्तु[५] शिखामोक्षो[१५] विधीयते[१६]
ललाटं[१७] दर्शयेद् यस्तु[५] पृष्ठं तस्य[१८] प्रदर्शयेत् ।। ६।।
पादतलं[१९] दर्शयेद यस्तु[५] क्रीडते कौतुकेन[२०] तु।
मुद्रा[२१] प्रतिमुद्रेण भेदयेत् समयेन तु ।। ७।।
वदन्ति तत्र योगिन्य[२२] अहो पुत्र[२३] महाकृप ।
यदि मालाहस्तन्दर्शयन्ति तत्र[२४] मिलितव्यमिति
कथयन्ति ।।८।।
माला म[२५] भिप्रेषितां कृत्वा समये तिष्ठ[२६] सुव्रता ।
भजेति[२७] तत्र मेलायां दिव्यगोचर माश्रित्य[२८-२९] ।
यद्धि वदन्ति योगिन्यस्तत् सर्वं कर्तव्यम् ।। ९।।
वज्रगर्भ उवाच - हे भगवन् ! के ते मेलापक - स्थानाः ?

भगवान् आह-

ते पीठाञ्चोपपीठाञ्च क्षेत्रोपक्षेत्रमेव च ।
छन्दोहञ्चोपच्छन्दोहं मेलापकोपमेलापकस्तथा ।।

---

३. धर्मधातु- प्रतिपत्तिः ४. प्रज्ञाज्ञानाभिषेकम्. ५. क. ख. यस्; ग. या. ६. क. ख. तस्य; ग. तस्या. ७. क. ख. तस्याः ; ग. तस्या. ८. प्रज्ञोपायसूचकः. ९. क. ख. ग. तस्या. १०. महासुखचक्रः ११. क. ग. सीमान् तस्याः ख. सीमान्तं तस्य. १२. निर्माणचक्रंदर्शयति. १३. क. ख. तस्य, ग. तस्या. १४. संभोगचक्रः. १५. मोक्षार्थ शिक्षा. १६. क. भिधीयते. १७. पुनः पुनः वन्दनाय. १८. क. ख. तस्य. ग. तस्या. १९. अनेन योगेन युक्तो भूम्यां यथासुखं विहर इत्येवं ब्रूयात् । २०. क. ख. नन्दकेन. २१. ख. ग. मुद्रा २२. क. वदन्ति तत्र योगिनीः ख. वदन्ति योगिन्यस्तत्र; २३. क. पुत्र साधु. २४. क. ख. तत्रामिलितव्यम्। २५. क. ख. ग. मालाभिः प्रेषतां, त. मालां अभिप्रेषितां. २५. क. ख. ग. मालाभिः प्रेषतां, त. मालां अभिप्रेषितां. २६. ग. तिष्ठति. २७. क. बह्यति, ख. बह्ये, ग. बाह्येति. २८. क. आश्रित्या, ख. आश्रित्यायां, ग. आश्रित्यायानः. २९. क. ख. ग. भजेत् (ग. त्यजेत्) तत्र मेलायां.

पीलवं चोपपीलवं श्मशानोपश्मशानकम् ।। १० ।।
एता द्वादशभूमयः[३०]
दशभूमीश्वरो नाथ एभिरन्यै र्न कथ्यते ।। ११ ।।
वज्रगर्भ उवाच - हे भगवन ! के ते पीठादयः ?

भगवान् आह -

पीठं जालन्धरं ख्यातं ओड्डियानं तथैव च ।
पीठं पौर्णगिरिश्चैव[३१] कामरूपं तथैव च ।। १२ ।।
उपपीठं मालवं प्रोक्तं सिन्धुर्नगरमेव च ।
क्षेत्रं मुन्मुनि प्रख्यातं क्षेत्रं कारुण्यपाटकम् ।।
देविकोटं तथा क्षेत्रं क्षेत्रं कर्मारपाटकम् ।। १३ ।।
उपक्षेत्रं कुलता प्रोक्तं अर्बुदश्च तथैव च ।
गोदावरी हिमाद्रिश्च उपक्षेत्रं हि संक्षिपेत् ।। १४ ।।
छन्दो S हं हरिकेलञ्च लवणसागरमध्यजं ।
लंपाकं काञ्चिकं चैव सौराष्ट्रं च तथैव च ।। १५ ।।
कलिङ्गं उपच्छन्दोहं द्वीपं चामीकरान्वितं ।
कोकणं[३२] चोपच्छन्दोहं समासेनाभिधीयते ।। १६ ।।
पीलवं च ग्रामन्तष्ठं पीलवं नगरस्य च ।
चारित्रं कोशलं चैव विन्ध्या कौमारपौरिका ।१
उपपीलवं तत्सन्निवेशं[३३] वज्रगर्भमहाकृप ।। १७ ।।
श्मशानं प्रेतसंहातं श्मशानं चोदधेस्ततं[३४] ।
उद्यानं वापिकातीरं उपश्मशानमुच्यते[३५] ।। १८ ।।
दिवसं चैव वक्ष्यामि[३६] योगिनीनां सुमेलकं ।
हे वज्रे योगिनीतन्त्रे सर्वसत्त्वार्थ -हेतुना ।। १९ ।।
वज्रगर्भ उवाच - हे भगवान । के ते दिवसाः ?

---

३०. मुदिता, विमला, अर्चिष्मती, प्रभाकरी, सुर्दजया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघा, समन्तभद्रा, निरूपगा, ज्ञानवती चेति त्रयोदश भूभिस्तु. ३१. क. ख. पौर्णगिरिञ्चैव, ग. पूर्णगिरिञ्चैव. ३२. ग. काङ्कनं. ३३. ग. तत्संनिधयं. ३४. क. चोदधेष्टतं, ख. चोदधिस्तटी, ३५. क. ख. ग. निगद्यते. ३६. क. ख. प्रवक्ष्यामि.

भगवान् आह -

प्रेतपक्षे[३७] चतुर्दश्यामष्टम्याञ्च तथैव च ।। २० ।।
ध्वजं शस्त्रहतं[३८] चैव सप्तावर्तञ्च भक्षयेत् ।३९ ।
कृमामुत्पाद्य यत्नेन मारणं क्रीयते विदुः [४०] ।। २१ ।।
कृमाहीना[४१] न सिद्ध्यन्ति[४२] तस्मात् कृमामुत्पादयेत् ।
दुष्टावतारणे सर्वं विधिमुख्यात्[४३] प्रसिद्ध्यति [४४] ।। २२ ।।

तत्रैवं मन्तव्यम् -

दिनस्तु भगवान् वज्री नक्तं प्रज्ञा च भण्यते ।। २३ ।।
नाकार्यं विद्यते किञ्चिन्नाभक्ष्यं विद्यते सदा ।
नाचिन्त्यं विद्यते ह्यत्र नावाच्यं यच्छुभाशुभम् ।। २४ ।।
यथात्मनि तथा सत्त्वे तथात्मनि अहं परं ।
इति संचिन्त्य योगात्मा खानपानादिमारभेत् ।। २५ ।।
यावन्तो[४५] ह्यङ्गविक्षेपा वचसः प्रसराणि च ।
तावन्तो मन्त्रमुद्राः स्युः श्रीहेरुकपदे स्थिते ।। २६ ।।
श्रीकामद्वयं[४६] ज्ञानं हेकारं[४७] हेत्वादिशून्यता ।
रुकारापगत-व्यूहं ककारं [४८] न क्वचित् स्थितम् ।। २७ ।।
येषां येषां च जन्तूनां पिशितमश्नीयते बुद्धैः [४९] ।
ते ते सत्त्वा वशं यान्ति वज्रकपालयोगतः [५०] ।। २८ ।।

छोमापटलः सप्तमः

अष्टमः पटलः

योगिनीचक्रपटलः

अथ योगिनीचक्रं[१] व्याख्यास्यामः
खधातौ भगं ध्यात्वा मध्ये कुर्वीत भावनां ।

३७. कृष्णपक्षे. ३८. प्रज्ञाशस्त्रेण चित्वा एकानेकस्वभावविचारणेन निःस्वभावीकरणं शस्त्रेण हननम्. ३९. ग् भवाद् याति ४०. क. विभुः ४१. चतुर्ब्रह्मविहारभवना. ४२. ख. सिद्ध्यन्ते. ४३. क. विधिसंख्यात्. ४४. ख. प्रसिद्ध्यते. ४५. क. ख. यावान्तो ऽङ्ग-ग. यावन्त अङ्ग- ४६. सर्वधर्मशून्यता. ४७. क. हेकाति. ४८. क. ककाति, ग. ककारेण. ४९. क. अग्नीयते. ५०. कं सुखं पालयतीति नैरात्म्या शून्यता करुणयोर् उभयोर् योगः समाधिः ।. १. नैरात्म्याचक्र; चन्द्रसूर्ययोः.

चक्रं पूर्वं यथान्यायं देवतानां यथोदयम् ।। १ ।।
चक्रं क्षोणीजलं[२] पूर्वं यथान्यायं हुताशनं ।
देवतानां महावायु र्भावकश्च यथोदयम् ।। २ ।।
धर्मोदयोद्भवं चक्रं द्विपुटं हि[३] निरामयं ।
किञ्जल्केन [४] भवेदेकं त्रिकोणेनापरं श्रुतम् ।। ३ ।।
तन्मध्ये चिन्तयेन मृतकं पञ्चदशासनात्मकं ।
तस्योपरि भवेच्चन्द्रश्चन्द्रस्योपरि बीजकम् ।। ४ ।।
पश्चान् मार्तण्डमाक्रान्तं द्वयोर्मेला[५] महत् सुखम् ।
स्थितालीश्चन्द्ररूपेण कालिरूपेण भास्करः ।। ५ ।।
चन्द्रसूर्यद्वयो र्मेलाद्[६] गौर्यादयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आदर्शज्ञानवांश्चन्द्रः समतावान् सप्ताश्विकः[७] ।। ६ ।।
बीजैश्चिह्नैः स्वदेवस्य प्रत्यवेक्षणमुच्यते ।
सर्वैरेकमनुष्ठानं निष्पत्तिः[८] शुद्धिधर्मता ।। ७ ।।
आकारान् भावयेत् पञ्चविधानैः कथितै बुधैः ।
आलिकालिसमायोगो [९] वज्रसत्त्वस्य विष्टरः ।। ८ ।।
अक्षरोद्भवपिण्डस्य [१०] हूँ-फट्कारौ न चेष्यते[११] ।
सत्त्वबिम्बसमुद्भूतं मण्डलेशं[१२] विभावयेत् ।। ९ ।।
पूर्ववद् वक्त्र[१३] चिह्नाद्यैश्चन्द्रकान्तिमणिप्रभं ।
एवं सर्वे च निष्पन्नाः प्रज्ञोपाय-स्वभावतः ।। १० ।।
प्रज्ञालिकाल्युपायेति चन्द्रार्कस्य प्रभेदनात. !
गौर्याद्याश्च भवन्त्यस्माद् वर्णभेदं परं[१४] पृथक् ।। ११ ।।
अध्यात्मकपुटे तावत् स्थिता वै पञ्चयोगिन्यः ।
पञ्चस्कन्धस्वभावेन भावयेद् योगवित् सदा ।। १२ ।।
इन्द्रे वज्रा यमे गौरी वारुण्यां वारियोगिनी ।
कौवेरी वज्रडाकी च मध्ये नैरात्म्ययोगिनी ।। १३ ।।

---

२. पृथ्वीमण्डलम्. ३. क. ख. ग. शुद्ध-न; त. तत्र उपलब्धोऽ यं. ४. मध्याष्टदल कमलवरकेन. ५. प्रज्ञोपायस्वभावं च चन्द्रसूर्ययोः ६. क. मेलात् - ख. ग. मेला ७. क. ख. सप्तसप्ततिकः. ८. क. ग. बिम्बनिष्पत्तिः। ९. चन्द्रसूर्यमण्डल युगणम्. १०. मण्डलनायकस्य. ११. क. च्यस्यते. १२. नैरात्म्यमित्यर्थः. १३. क. त. चक्षु - ख. त. वक्त्र. ग. चक्र. १४. क. परकं.

बाह्यपुटे पुनर्

गौरी चौरी वेताली च[१५] घस्मरी पुक्कसी तथा ।
शवरी चण्डाली चैव अष्टमी डोम्बिनी मता ।।१४।।
अधोवत्यूर्ध्ववत्येव खेचरी भूचरी स्मृता।[१६]
भवनिर्वाणस्वभावेन स्थितावेतौ द्विदेवते[१७] ।।१५।।

सर्वा देवत्यः

कृष्णवर्णा महारौद्रा पञ्चमुद्राविभूषिताः ।
एक वक्त्राश्च रक्ताक्षाः कर्तृकपालधृक्कराः[१८] ।।१६।।
चक्री कुण्डल कण्ठी च हस्ते रूचक मेखला ।
पञ्चबुद्धविशुद्ध्या[१९] च पञ्चैते शुद्धमुद्रकाः ।।१७।।
सर्वा एतादृशाः ख्याता यथा नैरात्म्य-योगिनी ।
कपालैककरव्यग्रा दक्षिणे कर्तृधारिकाः ।।१८।।
खट्वाङ्गं चैव वामेन व्याघ्रचर्मावृता कटिः।
शवारूढा[२०] ज्वालदीप्ता द्विभुजाः पिङ्ग[२१]-मूर्धजाः ।।१९।।
तथा मानादिषड्[२२] दोषान् कर्तितुं कर्तृका स्थिता ।
भावाभावविकल्पस्य शिरसा पद्मभाजनम्[२३]।।२०।।
रक्तं च चतुर्माराणां पीयते सिद्धिहेतवे[२४] ।।
खट्वाङ्गशून्यताकारैः शवोपायेन[२५] कल्पितम् ।। २१।।
एतेन भावयेच्चक्रं लघु सिद्धिमवाप्नुयात् ।
प्रथमे भावयेत् कृष्णां द्वितीये रक्तामेव च[२६]।। २२।।
तृतीये भावयेत् पीतां चतुर्थे हरितान्[२७] तथा ।
पञ्चमे नीलवर्णाञ्च षष्ठमे शुक्लदेहिकाम् ।। २३।।
षडङ्गं भावयेद् योगी विरमान्तं[२८] पुनस्तथा ।
क्रममुत्पत्तिकं चैवोत्पन्न -क्रममेव च ।। २४।।

---

१५. क. गौरी चौरी च. १६. क. सदा. १७. क. एतौ द्विदेवती, ख. एतौ महाकृमः ग. एतौ द्विदेवते महाकृम. १८. क. कपालानावृतौ करौ, ख. आवृतो करो. १९. पंचबुद्धस्वभावेन. २०. क. सर्वारूढा, ख. सर्व्वोरूढा. ग. शवा - त. शव. २१. क. पिङ्गलो- ग. पिङ्गल- २२. चक्रवर्तिसमता सूचनार्थम्. २३. क. भाञ्जनं. २४. ख. हेतुन. २५. क. ग. सर्वोपायेन, ख. सवोपाये. त. शव. २६. क. द्विती रक्तां विभावायेत्. ख. द्वितीय रक्तां विभावयेत्ः ग. द्वितीये रक्तां विभावयेत्. २७. क. ख. हरितकाम्. २८. सहजानन्द मात्रमित्यर्थः

क्रमद्वयं समाश्रित्य वज्रिणा धर्मदेशना ।
उत्पत्तिभागं कथितमुत्पन्नं कथयाम्यहम् ।। २५।।
खधात्वाविति पद्मेषु ज्ञानं भगमिति स्मृतं।
भावनेति समापत्तिस्ततसुखं चक्रमुच्यते ।। २६।।
यथान्यायं स्वसंवेद्यं[२९] बोधिचित्तं तु देवता ।
यथोदयं[३०] भवेच्छुक्रं द्वैविद्यं सहजं ततः ।। २७।।
योषित् तावद् भवेत् प्रज्ञा उपायः पुरुषः स्मृतः ।
पश्चादनयो द्वैविध्यं विवृतिसंवृतिभेदतः[२८] ।। २८।।
पुंसि तावद्धि द्वैविध्यं शुक्रं तस्य सुखञ्च वा ।।
प्रज्ञायां च यथा पुंसि शुक्रं तस्यं सुखञ्च वा।। २९।।
अत्रैवापि ह्यानन्दानां चतस्रणां प्रभेदनं ।
सहजं चतुर्विधं यस्मादुत्पन्नक्रमपक्षतः ।। ३०।।
आनन्दं प्रथमं वीरं परमानन्दं योगिनी ।
सुरतानन्दं समस्तं तत्[३२] सुखोपायः[३३] सर्ववित्[३४] ।।३१।।
आनन्देन सुखं किञ्चित् परमानन्दं ततो ऽधिकम् ।
विरमेन[३५] विरागः स्यात् सहजानन्दं शेषतः ।।३२।।
प्रथमं स्पर्शाकाङ्क्षया[३६] द्वितीयं सुखवाञ्छया ।
तृतीयं रागनाशत्वाच्चतुर्थं तेन भाव्यते ।।३३।।
परमानन्दं भवं प्रोक्तं निर्वाणं च विरागतः ।
मध्यमानन्दमात्रन्तु सहजं एभि र्विवर्जितम् ।। ३४।।
न रागो न विरागश्च[३७] मध्यमं नोपलभ्यते ।
नात्र प्रज्ञा न चोपायः सम्यक् तत्वावबोधतः[३८] ।। ३५।।
नान्येन कथ्यते सहजं न कस्मिन्नपि लभ्यते ।
आत्मना ज्ञायते पुण्याद् गुरुपर्वोपसेवया ।। ३६।।
हीनमध्यमोत्कृष्टान्येवान्यानि यानि तानि च ।

---

२९. अपरप्रत्ययं प्रत्यात्मवेद्य स्वभाव इत्यर्थः. ३०. ग्राह्य ग्राहकानपेक्ष्यमित्यर्थः. ३१. वितिसंवृति. ३२. क. चैतत्; ख. चेस्तत्; ग. च तत्. ३३. क. ख. ग. य सुखोपायः. ३४. क. सर्वविता; ख. सर्ववित. ३५. क. ख. ग. विरमानन्द. ३६. क. आकाङ्कम्; ख. आकाक्षि; ग. स्पर्शक्रान्त (कामाक्षच). ३७. क. ग. विरागो न विरागस्य; ख. नात्र वर्तते. ३८. ग. सम्पन्नत्वाव-

सर्वाण्येतानि समानीति द्रष्टव्यं तत्त्वभावनैः ।। ३७।।
हीनं सूक्ष्मपदार्थं त्वत्कृष्टं[३९] भावमुच्यते ।
मध्यमं वर्जितं द्वाभ्यामन्यानीति षडिन्द्रियम् ।। ३८।।
स्थिरचलं यानि तानि सर्वाण्येतानीत्येवाह [४०] ।
समानि तुल्यचेष्टानि समरसैस्तत्त्वभावनैः । ३९।।
समं तुल्यमिति प्रोक्तं तस्य चक्रो रसः स्मृतः ।
समरसं[४१] त्वेकभावं[४२] एतेनार्थेन भण्यते ।। ४०।।
मद्भवं[४३] हि जगत् सर्वं मद्भवं भुवनत्रयम्।
मद्व्यापितमिदं सर्वं नान्यमयं दृष्टं जगत् ।। ४१।।
एवं मत्वा तु वै[४४] योगी यो[४५] ऽभ्यासे सुसमाहितः [४६]।
स सिद्ध्यति न संदेहो मन्दपुण्यो ऽपि [४७] मानवः ।। ४२।।
खानपाने यथा स्नाने जाग्रत सुप्तो ऽपि चिन्तयेत् ।
सातत्यं तु ततो याति[४८] महामुद्राभिकांक्षकः [४९]।। ४३।।
भाव्यते[५०] हि जगत् सर्वं मनसा यस्मान्न भाव्यते ।
सर्वधर्मपरिज्ञानं भावना नैव भावना ।। ४४।।
स्थिरचलाश्च ये भावास्तृणगुल्मलतादयः ।
भाव्यन्ते वै परं तत्त्वमात्मभावस्वरूपकम् ।। ४५।।
तेषामेकं परं नास्ति स्वसंवेद्यं महत् सुखं ।
स्वसंवेद्या[५१] भवेत् सिद्धिः स्वसंवेद्या[५२] हि भावना।। ४६।।
स्वसंवेद्यमयं कर्म बाधनात्[५३] कर्म[५४] जायते ।
स्वयं हर्ता स्वयं कर्ता स्वयं राजा स्वयं प्रभुः ।। ४७।।
रागो द्वेषस्तथैवेर्ष्या मोहो मानस्तथैव च ।
सर्वे ते तत्पदे रम्ये कलान्नार्घन्ति[५५] षोडशीम् ।। ४८।।

---

३९. क. यत् कृतम्. ४०. क. सर्वैंतानि चैतानि नैवहं, ख. सर्व तानि त्रितेवहं. ग. सर्वैंतानिति नैवह. ४१. एकस्वभावत्वाञ्चेति. ४२. क. एकभावेत्वं नेना- ख. एकभावन्तु अनेन-; ग. एक भावत्वमेतेना- ४३. क. ग. मद्-भवा. ४४. ख. यो. ४५. क. ग. योगाभासे. ख. अभासेत्. ४६. क. ग. समाहितः. ४७. क. ख. मन्दपुण्यापि. ४८. क. ग. यान्ति ख. जाति. ४९. अनेन अधिमोक्षयोग उक्तः. ५०. ग. भाव्यन्ते. ५१. क. स्वसंवेद्य; ख.-वेद्ये; ग. - वेद्यं. ५२. महासुखमयाच्चित्तादेव महामुद्रासिद्धि र्भवति; ५३. क. ख. बोधनात् (ग्राह्यग्राहकरूपेण प्रतिपत्तिः). ५४. सत्त्वानां कर्मविपाक जनितं वैचित्र्यं स्थावर-जंगमादिक तदेव कर्म. ५५. क. ख. नाड्यन्ति.

धर्मोद्योद्भवं ज्ञानं खसमं सोपायन्वितम ।
त्रैलोक्यं तत्र जातं हि प्रज्ञोपाय-स्वभावतः ।। ४९ ।।
शुक्राकारो भवेद् भगवान् तत्सुखं कामिनी स्मृतम् ।
एकानेकवियोगो ऽसौ[५६] क्षणादेका[५७] परा रतिः ।। ५० ।।
स्वसंवेद्यमिदं ज्ञानं वाक्पथातीतगोचरम् ।
अधिष्ठानक्रमो ह्येषः सर्वज्ञज्ञानतन्मयः ।। ५१ ।।
पृथिव्यापश्च वायुश्च तेजाकाशमेव च ।
क्षणात् सर्वे न बाधन्ते स्वपरसंविद्वेदनम्[५८] ।।५२।।
स्वर्गमर्त्यैश्च पातालैरेकमूर्ति र्भवेत् क्षणात् ।
स्वपरभागविकल्पेन बाधितुं[५९] नैव शक्यते ।। ५३ ।।
समस्तवेदसिद्धान्तैः कर्मप्रसरणादिभिः[६०] ।
सिद्धिर्न स्याद् भवेच्छुद्ध्या पुनर्जन्म भवान्तरे ।। ५४ ।।
न च तेन विना सिद्धिरिह लोके परत्र च ।
न ज्ञातं येन हेवज्रं व्यर्थस्तस्य[६१] परिश्रमः ।। ५५ ।।
नदीस्रोतःप्रवाहेन दीपज्योतिः प्रबन्धवत् ।
सततं तत्त्वयोगेन स्थातव्यमहोरात्रतः ।। ५६ ।।
योगिनीचक्रो नाम महायोगिनीनां मेलापक पटलो ऽष्टमः ।

नवमः पटलः

विशुद्धिपटलः

अतः परं विशुद्धिपटलं व्याख्यास्यामः -

सर्वेषां खलु वस्तूनां विशुद्धिस्तथता[१] स्मृता ।
पश्चादेकैकभेदेन देवतानान्तु कथ्यते ।। १ ।।
षडिन्द्रियं पञ्च-स्कन्धं षडायतनं पञ्चभूतम्[२] ।

५६. उपायभागः. शुक्राकारः. ५७. सर्वधर्मशून्यता. ५८. क. ग. स्वपरं वित्तिवेदनम्; ख. स्वपरसंवितिभेदनम्; क. - संवित्तिवेदनम्. ५९. क. बोधिचित्तम; ख. बाधिन्तु; ग. बाधितुं. ६०. क. पसरादिभिस्तथा, ख. प्रसादिभिस्तथा. ६१. क. व्यथा; ख. ग. वृथा.

१. सर्वधर्मे शून्यता. २. क. ख. पञ्चमहाभूतम्.

स्वभावेन विशुद्धमप्यज्ञानक्लेशैरावृतम्[३] ।। २।।
स्वसंवेद्यात्मिका शुद्धि र्नानशुद्ध्या विमुच्यते ।
विषय-शुद्ध-भावत्वात् स्वसंवेद्यं परं सुखम् ।। ३।।
रूपविषयादि येप्यन्ये [५] प्रतिभासन्ते हि योगिनः[६]।
सर्वे ते शुद्धभावा हि यस्माद् बुद्धमयं जगत् ।। ४।।

हे भगवान ! के ते विशद्धाः ?

भगवान् आह -

रूपादयः । कस्मात् ? ग्राह्यगाहकभावात् ।
वज्रगर्भ आह - के ते ग्राह्यग्राहकश्चेति? ।। ५।।

भगवान् आह -

चक्षुषा गृह्यते रूपं शब्दः कर्णेन श्रूयते
गन्धं नासिक्या वेति जिह्वया स्वादनं विदुः ।। ६।।
कायेन स्पृश्यते वस्तु मनः सुखादिमाप्नुते ।
सेवितव्या इमे सेव्या निर्विषीकृत्य शुद्धितः ।। ७।।
रूपस्कन्धे भवेद् वज्रा गौरी वेदनायां स्मृता ।
संज्ञायां वारियोगिनी [७] संस्कारे वज्रडाकिनी ।। ८।।
विज्ञानस्कन्धरूपेण स्थिता नैरात्म्ययोगिनी ।
सदा तासां विशुद्ध्या वै सिद्ध्यन्ति तत्त्वयोगिनः।।
अध्यात्मपुटम्[८] ।।९।।

पश्चाद् बाह्यपुटं वक्ष्ये । अपरगौर्यादियोगिन्यः ।
ऐशान्यां पुक्कसी ख्याता अग्नौ शवरी कीर्तिता[९]।।
नैऋत्ये स्थाप्प चण्डालीं वायव्ये डोम्बिनी स्थिता ।। १०।।
इन्द्रे गौरी यमे चौरी वेताली वारुणदिशि ।
कौवेरे घस्मरी चैव अधस्तात् भूचरी स्मृता।। ११।।
ऊर्ध्वं च खेचरी प्रोक्ता उत्पत्तिक्रमपक्षतः ।
भवनिर्वाणस्वभावेन स्थितावेतौ द्विदेवते[१०] ।। १२।।

---

३. स्वभावापरिज्ञानानं ज्ञेयावरणम्. ४. त. क्लेशज्ञानावरणम्, क. ग. विशोद्ध्यते ति पदमत्राधिकम्. ५.क. स. यप्यन्ये. ६. क. योगिना, ख.योगिने. ७. क. चौरीयोगिनी, ग. वज्रयोगिनी. ८. क. नैरात्म्ययोगिनी अध्यात्मे योगिनी अध्यात्मपुटे. ९. क. ग. प्रकीर्तिता, ख. त. तथैव च. १०. क.- देवती, ख.देवती.

रूपे गौरी समाख्याता शब्दे चौरी प्रकीर्तिता ।
वेताली गन्धभागे च रसे घस्मरी कीर्तिता ।।१३।।
स्पर्शे च भूचरी ख्याता खेचरी धर्मधातुतः ।
सदा ह्यासां विशुद्ध्या तु सिद्धन्ति[११] तत्त्वयोगिनः ।। १४।।
भुजानां शून्यता शुद्धि[१२] श्चरणा[१३] मारशुद्धितः ।
मुखान्यष्टविमोक्षेण नेत्रशुद्धिस्त्रिवज्रिणाम्[१४] ।। १५।।
पृथिवी पुक्कसी ख्याता अब्धातुः शवरी स्मृता ।
तेजश्चण्डालिनी ज्ञेया वायु डोम्बी प्रकीर्तिता।। १६।।
द्वेषाख्यापिता नैरात्म्या[१५] राग च वारियोगिनी ।
ईर्ष्या च वज्रडाकिनी पैशून्यं गुप्तगौरिका ।। १७।।
मोहो वज्रा तथा ख्याता द्वेषादीनां तु शोधनं ।
एतेन शोध्यते स्कन्धमुत्पत्तिक्रमपक्षतः ।।१८।।
येन तु येन बध्यते लोकस्तेन तु तेन तु बन्धनं मुञ्चेत् ।
लोको मुह्यति वेत्ति न तत्त्वं तत्त्वविवर्जितः सिद्धिं न लपस्येत्[१६] तस्मात् ।।१९।।
गन्ध न शब्द न रूपं नैव रस न च चित्तविशुद्धिः ।
स्पर्श न धर्म न सर्वविशुद्ध्या शुद्धसहाव जगो जग मन्ये ।।२०।।

विशुद्धिपटलो नवमः

दशम -पटलः

अभिषेक-पटलो

अथातः संप्रवक्ष्यामि मण्डलस्य यथाक्रमं ।
शिष्यो ऽभिषिच्यते येन विधिश्चापि प्रवक्ष्यते ।। १।।
वसुधां शोधयेत् योगी प्रथमं देवतात्मकः[१] ।
हूँ - वज्रीकृत्य यत्नेन पश्चान् मण्डलमालिखेत् ।। २।।

---

११. क. ग. सिद्ध्यते. १२. क. ग. विशुद्धिश्. १३. ग. चरणौ; क. ख. त. वज्रा; ग. चक्री.
१४. कायवाक्चित्तवज्रैः पृथिव्यादीनां विशुद्धिः. १५. क. ग. लप्स्ये. १६. क.-स्वभाव.

---

१. क. ग. -आतमकं

उद्याने विजने देशे बोधिसत्त्वगृहेषु च ।
मण्डलागारमध्ये च वर्तयेन मण्डलं वरम् ।। ३।।
दिव्येन रजोलेखेन अथवा मध्यमेन तु ।
पञ्चरत्नमयैश्चूर्णैरथवा तण्डुलादिभिः ।। ४।।
त्रिहस्तं मण्डलं कार्यं त्रयाङ्गुष्ठादिकान् ततः ।
विद्या तत्र प्रवेष्टव्या दिव्या पञ्चकुलोद्भवा ।। ५।।
अथवा या का[२] यथालब्धा[३] षोडशाब्दा[४] तथैव च ।
तावद्धि सेव्यते मुद्रा यावच्छुक्रवती भवेत् ।। ६।।
मुद्रायाश्च मुखं बद्ध्वा उपायस्य मुखं तथा ।
सेवया तत्र यद् भूतं शिष्यवक्त्रे निपातयेत् ।। ७।।
कारितव्यं च तत्रैव समरसं[५] शिष्यगोचरं ।
स्वसंवेद्याद् भवेद ज्ञानं स्वपरवित्ति[४] वर्जितम् ।। ८।।
खसमं विरजं शून्यं भावाभावात्मकं परं ।
प्रज्ञोपायव्यतिमिश्रं रागा[६] रागविमिश्रितम्[७] ।। ९।।
स एव प्राणिनां प्राणः स एव परमाक्षरः ।
सर्वव्यापी स एवासौ सर्व देहव्यवस्थितः ।। १०।।
स एवासौ महाप्राणः स एवासौ जगन्मयः ।
भावा[८]-भावौ[९] तदुद्भूतौ अन्यानि यानि तानि च ।।११।।
सर्वं विज्ञानरूपं च पुरुषः पुराण ईश्वरो ।
आत्मा जीवं च सत्त्वं च कालः पुद्गल एव च ।
सर्वभावस्वभावो ऽसौ मायारूपी च संस्थितः ।। १२।।
प्रथमानन्दमात्रन्तु[१०] परमानन्दं द्विसंख्यतः[११] ।
तृतियं विरमाख्यं[१२] चतुर्थं[१३] सहजं स्मृतम् ।। १३।।
एवं श्रुत्वा तु वै सर्वे वज्रगर्भादयो बुधाः ।
परमविस्मयापन्ना मूर्छिताः पतितावनौ ।। १४।।

---

२. क. यंान् ता, ख. यात्रां, ग. यां कां. ३. ग. यथालब्धां षोडशब्दां. ४. क. स्वपरमवित्ति, ख. स्वपरसंरिति, ग. स्वपरसंवित्ति. ५. प्रज्ञाभिषेकं ६. = परमानन्दः. ७. = विरमानन्दः ८. शरीरं ९. अभावो वेदनादि अन्यानि षडिन्द्रियाणि यानि तानीति बाह्याभावः १०. प्रथमादौ आचार्याभिषेके ११. द्वितीयाभिषेकसंख्या. १२. प्रज्ञाभिषेक लक्षणम्. १३. चतुर्थाभिषेकः

प्रथमानन्दं जगद्रूपं परमानन्दं जगत्तथा ।
विरमानन्दं जगच्चैव न विद्यते सहजं त्रिषु ।। १५।।
भगवान आह हेवज्रः सर्वबुद्धैक[१४] विग्रहः ।
संशयापनयं दिव्यं वज्रगर्भस्य बोधये[१५] ।। १६।।
न रागो न विरागश्च मध्यमं[१६] नोपलभ्यते ।
त्रयाणां वर्जनादेव सहजं[१७] बोधिरुच्यते[१८]।। १७।।
अथवा सर्वात्मकः सैवाथवा सर्वै विवर्जितः।
विरमादौ स लक्ष्यत् आनन्दत्रयवर्जितः ।। १८।।
प्रथमं मेघवद् भाति सिद्धे तु मायावद् भवेत् ।
सहसा स्वप्नवद् भाति स्वपिजाग्रदभेदवत् ।। १९।।
अभेदलक्षणासिद्धौ मुद्रायोगी तु सिद्ध्यति ।
इत्याह मण्डलं शास्ता चतुष्कोणं समुज्ज्वलम् ।। २०।।
चतुर्द्वारं महादीप्तं हारार्धहारभूषितं ।
स्रक्चित्रचामरै युक्तं अष्टस्तम्भोपशोभितम् ।। २१।।
वज्रसूत्रै र्समायुक्तं नानापुष्पोपशोभितम् ।
धूपं दीपं तथा गन्धं अष्टकलशादिभिर्युतम् ।। २२।।
ते च[१९] सपल्लवाग्राः स्यु[२०] र्वस्त्राच्छादितकन्धराः ।
पञ्चरत्नपरिक्षिप्तं [२१] दद्याद् विजयं पूर्वतः ।। २३।।
नवेन सुनियुक्तेन सुप्रमाणेन चारुणा ।
सूत्रेण सूत्रयेत् प्रज्ञाः स्वेष्टदेवतारूपतः ।। २४।।
चक्रेशस्य जपेल् लक्षं माण्डलेयस्य चायुतम्।
पूर्वोक्तेनैव मन्त्रेण शोधयेत् धरणीं बुधः ।। २५।।
बलिं च दापयेत् तत्र प्राग् अकारादिमन्त्रतः ।
रक्षां चैव यथादिष्टां यथा ध्याने तथात्र च ।। २६।।
प्रकाशितास्तु ये सेका विधिवद् दद्यात् स्वमण्डले ।
पूजा चाभ्यर्चना चैव यथाख्याता तथात्र च ।। २७।।

---

१४. क. हेवज्रस्य बुद्धैक- १५. ग. बोधये त्रिभि र्वर्जितमिति हेतोः १६. क. ख. ग. मध्यमा. १७. क. सहजमः ख. ग. सहज. १८. क. ग. संबोधिः, ख. सबोधिर्. १९. क. ग. ते च पल्ल - ख. ते पल्ल - २०. क. सुवस्त्रा. २१. क. ख. ग. परिक्षिप्ता.

शुद्धं द्विपुटमालिख्य[२२] चक्रं गौर्यादीनां तथा ।
पूर्वेण लिख्येत् कर्तृकां दक्षिणे पश्चिमे तथा ।। २८।।
उत्तरे[२३] चाग्निकोणे च नैऋत्ये वायवे तथा ।
ऐशाने च यथा[२४] ख्यात मध[२५] श्चोर्ध्वं[२६] तथा कथा ।। २९।।
वज्रसत्त्वकृताटोपः कृतालीढश्च पादयोः।
प्रविशेन् मण्डलाचार्यो द्विभुजहेवज्रयोगताः।। ३०।।
स्नातः शुचिः सुगन्धाङ्गो चित्राभरणभूषितः।
हूँ-हूँ-कारकृताटोपो ही-ही-कारभयानकः।। ३१।।
पश्चात् तत्त्वं समाख्यातं विशुद्धं ज्ञानरूपिणम्।
संसार-व्यवदानेन नास्ति भेदो मनागपि।। ३२।।
परमरतौ न च भाव[२७] न भावक,
न च विग्रह न च ग्राह्य न ग्राहक।
मांस न शोणित विष्ट न मूत्रं
न चर्द[२८] न मोह न शौचपवित्रम्।। ३३।।
राग न द्वेष न मोह न ईर्ष्या
न च पैशून्य न च मान न दृश्यं।
भाव न भावक मित्र न शत्रु
निस्तरङ्ग सहजाख्यविचित्रम्।। ३४।।
इत्याह वज्रगर्भाख्यः [हे भगवन्] कस्मात् भूतात्मकं भवेत्?।
देहं स्वभावतः शुद्धमादावेवास्वभावकम्।। ३५।।
तत्राह भगवान् वज्री डाकिनीनां सुखंददः।
निस्तरङ्गः स्वरूपात्मा सर्वे देहे व्यवस्थितः।।३६।।
वज्रगर्भ आह - हे भगवन् कस्मात् महाभौतिकस्कन्धः?
भगवान् आह।। ३७।।
बोलकक्कोलयोगेन कुन्दुरुं कुरुते व्रती।[२९]

---

२२. क. ख. लिखेत्. ग. विलिख्या. २३. क. ख. उत्तरेऽग्नि ग. उत्तरे अग्नि. २४. क. ग. तथा. २५. ख. ग. कथितं. २६. क. अध ऊर्ध्व ख. अध चोद्ध्वों, ग. अधोर्द्धे च तथा खलु , २७. क. क. भाव, ख् ग, भाव्य. २८. क. न च घृण मोन शौच -, ख. न. चपु न लङ्ग-, ग. न च घृण मोह- २९. क. ख. त. नात्र वर्तते अर्धपंक्तिरियम् ।।

स्पर्शात् काठिन्यधर्मेण पृथिवी तत्र जायते।। ३८।।
बोधिचित्तद्रवाकाराद् [३०] अब्धातोचैव संभवः ।
घर्षणाद् जायते तेजो गमनाद् वायुः प्रकीर्तितः ।। ३९।।
सौख्यमाकाशधातुश्च पञ्च पञ्चभिः परिवेष्टितः ।
तस्मात् सौख्यं न तत्त्वाख्यं महाभूतं यतः सुखम् ।। ४०।।
सहजात्यां यदुत्पन्नं सहजं तत् प्रकीर्तितं ।
स्वभावं सहजं प्रोक्तं सर्वाकारैकसंवरम् ।।४१।।
कृपोपायो भवेद् योगी मुद्रा हेतुवियोगतः ।
शून्यता करुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम् ।।४२।।
न मन्त्रजापो त तपो त होमो
न मण्डलेयं न च मण्डलञ्च ।
स मन्त्रजापः स तपः स होमस्
तन्मण्डलेयं तन्मण्डलाञ्च
समासतश्चित्तसमाज रूपी ।।४३।।

अभिषेकपटलो दशमः ।

एकादशमः पटलः

वज्रगर्भसम्बोधिः

समाक्रूरा ललाटी च पातना कथिता सदा ।
वश्या वामाश्रिता दृष्टिः पुत्तली द्वौ च वामतः ।। १।।
आकृष्टिर् दक्षिणे भागे पुत्तली द्वौ हि चोर्ध्वतः[१] ।
मध्यमा स्तम्भनाद्दृष्टि र्द्वौ च नासाजडान्तरे ।। २।
पातना रेचकेनैव कुम्भकेन वशीकरेत्[२] ।
पूरकेणैव त्वाकृष्टिः प्रशान्तकेन स्तम्भना ।। ३।।

---

३०. यो. शुक्रं द्रवस्वभावत्वात्।

---

१. क. पुत्तली द्वौ च ऊदृर्ध्वे नियोगयेत्, ख. द्वो चोधिदृध्वे नियोगयेत्, ग. पुत्तली द्वौ द्वेर्ध्वतः. २. क. वशीकुरेत्.

पातना स्निग्धवृक्षेषु वश्या पुष्पप्रकीर्तिता ।
आकृष्टि र्वज्रवृक्षेषु स्तम्भना सचरे तृणे ।। ४।।
षण्मासाभ्यासयोगेन सिद्ध्यति नात्र संशयः ।
भ्रान्तिरत्र न कर्तव्या अचिन्त्या हि बुद्धरद्धयः[३] ।।५।।
साधयित्वा चतुर्द्दृष्टि सत्त्वानि[४] तारयेद् बुधः ।
मारणं[५] नात्र कार्यं स्यात् समयभेदः परं भवेत् ।। ६।।
सर्वाकार्यं तु कर्तव्यं हित्वा सत्त्वस्य वञ्चनं ।
सत्त्वापकारमात्रेण मुद्रासिद्धि र्न लभ्यते ।। ७।।
समयं भक्षयेत् तत्र प्रदीप्यन्तं समाहितः[६] ।
नादिं गादिं तथा हादिं अन्तस्वमादिस्वं च वा ।। ८।।
पञ्चामृतं तथा भक्ष्यं हेवज्रे सिद्धिहेतुना ।
सप्तावर्तन् ततो लक्षेत् हेवज्रोक्तै[७] स्तु लक्षणैः ।। ९।।
सप्तावर्ते भवेत् सिद्धि र्विरमानन्द-दूषकी ।
सुस्वरञ्चक्षुष्मच्चैव[८] गन्धकायं महावपुः ।।१०।।
सप्तच्छाया भवेत् तस्य दृष्ट्वा योगी तु लक्षयेत् ।
तस्य प्राशितमात्रेण खेचरत्वं भवेत् क्षणात् ।। ११ ।।
अथ कुरुकुल्लायाः साधनं वक्ष्ये येन सर्वसत्त्वानि वशं यान्ति ।
संक्षिप्तं पूर्वमुद्दिष्टं विस्तरेण कल्पद्वादशैः ।। १२।।
ह्रीः - कारसम्भवा देवी रक्तवर्णा चतुर्भुजा ।
इषुकार्मुक हस्ता च उत्पलाङ्कुशधारणा ।। १३।।
अस्या भावनामात्रेण त्रैलाक्यं वशमानयेत् ।
लक्षेणैकेन राजानः[९] प्रजालोकोऽ युतेन च ।। १४।।
पशुयक्षादयः कोट्या सप्तलक्षेण चासुराः ।
लक्षद्वयेन देवाश्च[१०] शतेनैकेन मन्त्रिणः ।। १५।।
इति श्री हेवज्रडाकिनी जालसंवर-वज्रगर्भभिसंबोधि-नाम
प्रथमः कल्पराजा समाप्तः।

४. क. सत्त्वानि च, ख. सत्वान् अवतार- ५. क. मरणै, ग. मरणैर्. ६. ख. त. नात्र विद्यते अर्धपंक्तिरियम् क. हेवज्रे सिद्धिहेतुनः, ग. प्रदीपान्यं समाहितः. ७. क. हेवज्राक्षैस्. ८. क. सम्वरञ्चक्षुमाणं, ख. सुखर चक्षुमाणं, ग. सस्वरं चक्षुमाणं. ९. क. ख. ग. राजानं. १०. क. ग. देवानां, ख. देवांश्च.

द्वितीयः कल्पः

२. महातन्त्रराजमायाकल्पः

प्रथमः पटलः

होमनिर्णयप्रतिष्ठा पटलः

अथ वज्रगर्भ आह -

देशयन्तु यथान्यायं प्रतिष्ठा[१] लक्षणं शुभं ।
भगवान् वज्रसारात्मा सर्वबुद्धैकसंग्रहः ।।१।।

भगवान् आह -

होमं कृत्वा यथाप्रोक्तं वर्तयित्वा तु मण्डलं ।
प्रदोषे संस्करेत् प्रतिमां कृत्वाधिवासनादिकम् ।।२।।
गगनस्थान् सर्वबुद्धान् प्रतिमाहृदि[२] वेषयेत् ।
स्वेष्टदेवतासंयोगी[३] प्रत्यक्षमन्त्रपारगः ।।३।।
ओं वज्रपुष्पे आः हूँ स्वाहा ।
ओं वज्रधुपे आः हूँ स्वाहा ।
ओं वज्रदीपे आः हूँ स्वाहा ।
ओं वज्रगन्धे आः हूँ स्वाहा ।।४।।
नान - हूँ- कारन्निष्पन्नान् पुष्पाद्यांस्तु प्रढौकयेत् ।
अर्घपाद्यादिकं प्राग्वत् पूर्वतन्त्र[४]-विधिक्रमैः ।।५।।
शान्तिके वर्तुलं कुण्डं चतुरस्वं तु पौष्टिके ।
त्रिकोणं मारणे प्रोक्तं शेषानत्रैव साधयेत् ।।६।।
एकहस्तार्धहस्तं वा अधोर्ध्वे तु शान्तिकं भवेत् ।
द्विहस्तमेकहस्तञ्च अधोर्ध्वे पौष्टिकं मतम् ।।७।।

---

१. = पटादिषु देवतानां अवस्थानं प्रतिष्ठा. २. क. ख. हृदये प्रवेशयेत्. ३. क. समायोगी, ख. समो योगी.
४. क. पूर्व्वमन्त्र-

विंशत्युङ्गुलमर्धं च[५] अधोर्ध्वे [६] मारणं भवेत्।
शुक्रवर्णं भवेच्छान्तौ पीतन्तु पौष्टिके तथा ॥८॥
मारणे कृष्णवर्णञ्च वश्ये [७] रक्तं प्रकीर्तितं ।
यथा वश्ये तथाकृष्टौ द्वेषादौ यथा मारणे ॥९॥
तीलं शान्तौ दधि पुष्टौ मारणे कण्टकं तथा ।
द्वेषादौ कण्टकं[८] प्रोक्तंवश्याकृष्टौ चोत्पलम्[९] ॥१०॥
ओं अग्नये महातेजः [१०] सर्वकामप्रसाधक ।
कारुण्यकृतसत्वार्थ [११] अस्मिन् सन्निहितो भव ।

अग्न्यवाहनमन्त्रः ॥११॥

त्वं देवि [१२] साक्षीभूतासि [१३] हेवज्रक्रोधपूजिते [१४] ।
नानारत्नधरि [१५] धात्र्यमुक्तो ऽहं [१६] मण्डलं लिखे [१७] ॥१२॥
स्वार्थञ्चैव परार्थञ्च साधितुं गच्छ हव्यभुक् ।
आगमिष्यसि [१८] यथाकाले सर्वसिद्धिं कुरुष्व मे ॥

अग्निसंतोषणमन्त्रः ॥१३॥

ओं जः हूँ वँ हाः खः रं अर्धमन्त्रः ।
ओं नी री हूँ खः पाद्यमन्त्रः ।
ओं ध्वं ध्वं ध्वं नैवेद्यमन्त्रः ।

होमनिर्णयप्रतिष्ठापटलः प्रथमः ।

---

५. क. ख. ग. वा.- ६. क. अधोर्ध्वे च. ७. क. ख. वश्यं. ८. क. कण्ठकैः. ९. क. ग. च उत्पलं. १०. ग. महातेजाः ११. ग. सत्वार्थ. १२. क. ख. ग. देवी. १३. क. ख. ग. साक्सिभूतासि, क. साक्षिभूतो ऽसि. १४. क. - पूजितः. ख. ग. - पूजिते. १५. क. ग. - धरी . १६. क. ख.ग. धात्री. १७. क. लिखेत्, ख. लिखिमि. १८. ख. आगमिष्यामि.

द्वितीयः पटलः

सिद्धिनिर्णयः पटल

वज्रगर्भ आह -

गगनवत् सर्वधर्मेषु सागरे तुम्बिका यथा ।
सत्त्वाः कथं प्रसिद्ध्यन्ति [1] स्वेष्टदेवता रूपतः ।।१।।

भगवान् आह -

नैरात्म्यायोगयुक्त् यात्मा ऽ थवा हेरुकयोगतः ।
क्षणमप्यन्यचित्तः सन्न तिष्ठेत् सिद्धिकाङ्क्षकः ।।२।।
प्रथमाभ्यासकालस्य स्थानं वै कल्पितं शुभं ।
यत्रस्थः सिद्ध्यते मन्त्री एकचित्तः समाहितः ।।३।।
स्वगृहेषु निशाकाले सिद्धोऽ हमिति चेतसा ।
भावयेद् योगिनीं प्राज्ञो ऽ थवा श्री हेरुकाकृतिम् ।।४।।
अङ्घ्रि प्रक्षालयन् [2] भुञ्जन् आचम [3] पूगं भक्षयन् [4] ।
चन्दनै र्हस्तं मर्दयन् कौपिनैश्छादयन् कटिम् ।।५।।
निःसरं भाषयन् भाषां गच्छन् तिष्ठन् रुसन् हसन् ।
भगवतीं सेवयेत् [5] प्राज्ञो योगिनीं भावयेद् व्रती ।।६।।
क्षणमप्यन्यरूपेण [6] अविद्यादुष्टचेतसा।
न स्थातव्यं बुधै र्यत्नात् सिद्धार्थं सिद्धिकांक्षिभिः ।।७।।
वज्रगर्भमयाख्यातं ध्यानं किल्विषणासनं ।
सिद्ध्यर्थं कौतुकेनापि पक्षमेकं परिक्षेथाः [7] ।।८।।
सर्वचिन्तां परित्यज्य देवतामूर्तिचेतसा ।
दिनमेकमविच्छिन्नं भावयित्वा परिक्षेथाः [8] ।।९।।
नान्योपायोऽस्ति संसारे स्वपरार्थ - प्रसिद्धये ।
सकृद्भ्यासिता विद्या सद्यः प्रत्ययकारिणी ।।१०।।

---

१. क. ग. सिद्ध्यन्ति. २. क. ख. ग. प्रक्षालयेद्. ३. क. ग. आचमन, ख. आचमनम्. ४. क. ग. भक्षयेत्. ५. क. सेवयन्. ६. अनन्यचित्ता हि नाम शमथलक्षणो भावनाविशेषः अन्यरूपः नैरात्माविलक्षणरूपः. ७. क. परिक्षथा. ८. क. ग. परिक्षथ, ख. परिक्षष्व.

भयोन्मादैस्तथा दुःखैः शोकपीडाद्युपद्रवैः ।
रागद्वेषमहामोहैः साधको नैव क्लिश्यते ।।११।।
एवं विमृष्यमाणा वै हिताहितफलोदयं ।
कथं ते क्षणमप्येकं योगिनः सन्ति रौरवे।१२।।
पञ्चानन्तर्यकारिणः [९] प्राणिबधरताश्च ये।
अपि तु ये जन्महीना ये मूर्खाः क्रूरकर्मिणः ।।१३।।
कुरूपा विकलगात्राश्च सिद्ध्यन्ते तेऽपि चिन्तया ।
दशाकुशलाभ्यासी च गुरुभक्तो जितेन्द्रियः ।।१४।।
मानक्रोधविनिर्मुक्तः स तावत् सिद्ध्यते ध्रुवं ।
सातत्याभ्यासयोगेन सिद्धिलब्धः [१०] समाहितः ।।१५।।
मासमेकं चरेद् गुप्तं यावत् मुद्रा न लभ्यते ।
आदेशं लभते मन्त्री योगिनीभिरादिश्यते ।।१६।।
गृहीत्वा अमुखीं मुद्रां सत्त्वार्थं कुरु वज्रधृक् ।
ताञ्च प्राप्य विशालाक्षीं रूपयौवनमण्डिताम् ।।१७।।
सिह्लकर्पूरसंयुक्तां बोधिचित्तेन संस्करेत् ।
दशाकुशलादारभ्य तस्यां धर्मं प्रकाशयेत् ।।१८।।
देवतारूपचित्तञ्च समयञ्चैकचित्तताम् ।
मासमेकेन भव्या सा भव्येन्नैवात्र संशयः ।।१९।।
वरलब्धा यतो नारी सर्वसंकल्पवर्जिता ।
अथवा चात्मनः शक्त्या कृष्ट्वा मुद्रां प्रकल्पयेत् ।।२०।।
देवासुरमनुष्येभ्यो यक्षेभ्यः किन्नरादपि ।
ताञ्च गृह्य चरेच्चर्या मात्मनो धैर्यप्रत्ययात् ।।२१।।
न चर्या भोगतः प्रोक्ता या ख्याता भीमरूपिणी ।
स्वचित्तप्रत्यवेक्षाय स्थिरं कि वाचलं मनः ।।२२।।

---

९. क. ग. - कारी च, ख. - कारां च. १०. ग. सिद्धिं लब्ध्वा.

वज्रगर्भ आह

सततं देवतामूर्त्या स्थातव्यं योगिना यतः ।[११]
नैरात्म्यायोगयुक्तेन मुद्रार्थं विशिष्यते कथम्[१२]
मुद्रया मुद्रया द्वाभ्यां मुद्रासिद्धिः कथं भवेत् ।।२३।।

भगवान् आह -

स्त्रीरूपं विहायन्यद् रूपं कुर्याद् भगवतः ।
स्तनं हित्वा भवेद् बोलं कक्कोलमध्यसंस्थितम् ।। २४।।
तीरद्वयं भवेद् घण्ठा किञ्जल्कं बोलकं भवेत् ।
शेषं रूपं महातमनो [१३] हेरुकस्य महारतेः ।।२५।।
हेरुकयोगस्य पुंसः पुंसत्वमायात्ययत्नतः ।
मुद्रासिद्धि र्भवेद् यस्मा [१४] व्यक्तशक्तस्य योगिनः ।।२६।।
उत्पत्तिप्रलयाभ्यां च प्रज्ञोपायो [१५] न बाध्यते ।
उपायः संभवो यस्माल्लयं प्रज्ञा भवान्तकी ।।२७।।
तेन प्रलयन्नास्यास्ति [१६] उत्पादो नैव तत्त्वतः ।
प्रलयान्तीयते कश्चिल्लयाभावान्नच क्षयः ।।२८।।
उत्पत्तिक्रमयोगेन प्रपञ्चं भावयेद् व्रती ।
प्रपञ्चं स्वप्नवत् कृत्वा प्रपञ्चै र्निःप्रपञ्चयेत् ।।२९।।
यथा माया यथा [१७] स्वप्नं यथा स्यादन्तराभवं [१८] ।
तथैव मण्डलं भाति सातत्याभ्यासयोगतः [१८a] ।।३०।।
महामुद्राभिषेकेषु [१९] यथाज्ञातं महत् सुखं ।
तस्यैव तत् प्रभावः स्यान् मण्डलं [२०] नान्यसंभवम् ।।३१।।
सुखं कृष्णं सुखं पीतं सुखं रक्तं सुखं सितं ।
सुखं श्यामं सुखं नीलं सुखं कृत्स्नं चराचरम् ।।३२।।
सुखं प्रज्ञा सुखोपायः सुखं कुन्दुरुज [२१] तथा ।
सुखं भावः सुखाभावो वज्रसत्त्वः सुखस्मृतः ।।३३।।

---

११. श्लोकार्धभागो S यं प्राप्यते 'क' प्रत्यां. १२. क. कथं विशिष्यते. १३. क. ग. महात्मानो. १४. ग. तस्मात्. १५. ग. प्रज्ञोपायम्. १६. क. नातस्यास्ति, ग. न तस्यास्ति. १७. ग. तथा, १८. क. अत्तसंभवम्, ग. अस्तथाभवम्. १८ a फ. सतताभ्यास- १९. प्रज्ञाभिषेक. २०. हेवज्रनैरात्म्यमण्डलम्. २१. क. कर्पूरजं.

वज्रगर्भ आह -

उत्पन्नक्रमयोगोऽयं सत्सुखं[२२] महासुखं मतं ।
उत्पन्न[२३]- भावनाहीनो [२४] उत्पत्त्या किं प्रयोजनम् ।।३४।।

भगवान् आह - अहो !

श्रद्धावेगेन नष्टोयं महाबोधिसत्त्व इति ।
देहाभावे कुतः सौख्यं सौख्यं वक्तुं न शक्यते ।
व्याप्य व्यापकरूपेण सुखेन व्यापितं जगत् ।।३५।।
यथा पुष्पाश्रितं [२५] गन्धं पुष्पाभावान्न गम्यते ।
तथा रूपाद्यभावेन सौख्यं नैवोपलभ्यते ।।३६।।
भावो [२६]ऽहं नैव भावो [२७]ऽहं बुद्धो ऽहं वस्तुबोधनात् ।
मां न जानन्ति ये मुग्धाः कौशीद्योपहताश्च ये ।।३७।।
विहरे ऽहं सुखावत्यां सद्वज्रयोषितो भगे ।
एकाराकृति [२८] रूपे तु बुद्धरत्नकरण्डके ।।३८।।
व्याख्याताहं अहं धर्मः श्रोता हं सुगणै र्युतः ।
साध्यो [२९] ऽहं जगतः शास्ता लोको ऽहं
लौकिको ऽप्यहम् ।।३९।।
सहजानन्द स्वभावो ऽहं परमानन्द [३०] विरमादिकं ।
तथा च प्रत्ययं पुत्र अन्धकारे प्रदीपवत् ।।४०।।
द्वात्रिंशल्लक्षणी शास्ता अशींतिव्यञ्जनी [३१] प्रभुः ।
योषिद्भगे सुखावत्यां शुक्रनाम्ना व्यवस्थितः ।।४१।।
बिना तेन न सौख्यं स्यात् सुखं हित्वा भवेन्न सः ।
सापेक्षमसमर्थत्वाद् देवतायोगतः सुखम् ।।४२।।
तस्माद् बुद्धो न भावः स्याद्भावरूपो [३३] पि नैव सः ।
भुजमुखाकाररूपी चारूपी परमसौख्यतः ।।४३।।
तस्मात् सहजं जगत् सर्वं सहजं स्वरूपमुच्यते ।
स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्ध्याकारचेतसा ।।४४।।

---

२२. त. फ. तत्सुखं, क. ख. ग. सत्सुखं. २३. क. ग. उत्पन्ना - ख. उत्पन्नो. २४. भावनाहीना. २५. ग. पुष्पे आश्रितं. २६. संभोगनिर्माणकायस्वभावमण्डलचक्रादिरूपतया. २७. धर्मकायस्वभाव महासुखरूपतया. २८. वज्रयोनिः २९. ग. साध्याहं, ख. साध्यादहं. ३०. ख. परमानन्तं, ग. परमा. ३१. क. ख. ग. अशीत्यनुव्यञ्जनी. ३२. क. साल्पोक्षं. ३३. ग. भावरूपो ऽ पि.

देवतायोगरूपं [३४] तु जातमात्रे व्यवस्थितः ।
भुजमुखवर्णस्थानात् [३५] किं तु प्राकृतवासना ।।४५।।
येनैव विषखण्डेन मृयन्ते सर्वजन्तवः ।
तेनैव विषतत्त्वज्ञो विषेण स्फोटयेद् [३६] विषम् ।।४६।।
यथा वातगृहीतस्य माषभक्ष्यं प्रदीयते ।
वातेन हन्यते वातं विपरीतौषधिकल्पनात् ।।
भवः [३७] शुद्धो भवेनैव विकल्प [३७] प्रतिकल्पतः ।।४७।।
कर्णे तोयं यथा विष्टं प्रति तोयेन कृष्यते ।
तथा भव [३९] विकल्पो पि आकारैः शोध्यते खलु ।।४८।।
यथा पावकदग्धाश्च स्विद्यन्ते रागवह्निना ।
तथा रागाग्निदग्धाश्च स्विद्यन्ते रागवह्निना ।।४९।।
येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ।।५०।।
रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते ।
विपरीत भावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः ।।५१।।
कुन्दुरेषु भवेत् पञ्च पञ्चभूतस्वरूपतः ।
एक एव महानन्दः पञ्चतां यान्ति भेदनैः ।।५२।।
बोलकक्कोलयोगेन स्पर्शात् काठिन्यवासना [४०] ।
काठिन्यस्य मोहधर्मत्वान् मोहो वैरोचनो मतः ।।५३।।
कक्कोलकेषु यच्चितं तत् समीरणरूपकं ।
बोधिचित्तं द्रवं यस्माद् द्रवं अवधातुकं मतं ।
अपामक्षोभ्यरूपत्वाद् [४१] द्वेषो अक्षोभ्यनायकः ।।५४।।
द्वयो र्घर्षणसंयोगात् तेजो [४२] जायते सदा ।
रागो ऽ मितवज्रः स्याद् रागस्तेजसि संभवेत् ।।५५।।

---

३४. ख. देवतारूपयोगं; त. देवताकाररूपं. ३५. क. ग. भुजमुखं. ३६. क. फोटयेद, ख. स्थोटयेद्. ३७. क. ख. भव. ३८. ग. विकल्पं. ३९. क. ग. भाव- ४०. क. काठिन्यधर्म्मेणा, ख. नास्ति शब्दोऽयं. ४१. क् आपां ख. ग. आपं. ४२. ग. तेजसो.

ईर्ष्या अमोघसिद्धिः स्याद् अमोघो [४३] वायुसंभवः ।।५६।।
सुखं रागं भवेद् रक्तं रक्तिराकाशलक्षणम् ।
आकाशः [४४] पिशुनवज्रः [४५] पिशुनमाकाशसंभवम् ।।५७।।
एकमेव [४६] महच्चित्तं पञ्चरूपेण संस्थितं [४७] ।
पञ्च [४८] कुलेषु संभवास्तत्रानेकसहस्रशः ।।५८।।
तस्मादेकस्वभावोऽसौ महासुखं [४९] शश्वत्परं [५०] ।
पंचत्वं याति भेदेन रागादिपञ्चचेतसा।। ५९।।
दशगंगानदी वालुकातुल्या एककुलेषु तथागतसंघाः ।
संघकुलेषु अनेककुलानि तेषु कुलेषु कुलानि शतानि ।।६०।।
तानि च लक्षकुलानि महान्ति कोटिकुलानि बहूनि भवन्ति [५१] ।
तत्र कुलेषु [५२] चासंख्यकुलानि परमानन्दकुलोद्भवानि ।।६१।।
हेवज्रे डाकिनीजालसंवरे सिद्धिनिर्णयो नाम द्वितीयः पटलः ।

तृतीयः पटलः

हेवज्रसर्वतन्त्रनिदान सन्ध्याभासः पटलः

अथ वज्री सर्वतन्त्रनिदानं नामोपयं योगिनीनां कथयामास-
संवरं [१] चाभिषेकञ्च सन्ध्याभासं तथैव च ।
आनन्दक्षणभेदञ्च तथान्यं [२] भोजनादिकम् ।।१।।

संवरं आह

संवरं सर्वबुद्धानां एवङ्कारे प्रतिष्ठितम् ।
अभिषेका [३] ज्ज्ञायते सम्यग् एवङ्कारं महत् सुखम् ।।२।।
अथ भगवन्तं वज्रसत्त्वं योगिन्य एवं आहुः

४३. क. अमोघ, ग. अमोघाद्. ४४. क. ख. आकाशं. ४५. ग. - वज्रं ग. पिशुनवज्रं स्यात्. ४६. क. ख. ग. एक एव. ४७. क. लक्षितं. ४८. क. ग. पञ्चसु . ४९. क. महासुखः, ख. ग. महासुख. ५०. क. ख. परं शाश्वत्, ग. परमा एत. ५१. क. कोटिकुलेषु संख्या भवन्ति, ग. असंख्य. ५२. क. कुलेषु संख्य- ख. कुलेषु असंख्य -

१. = महासुखज्ञानम्. २. क. च अन्यञ्च, ख. चान्यञ्च. ३. क. ख. ग. अभिषेका.

एवङ्गारं किमुच्यते [४] डाकिनीनान्तु संवरं ।
देशयन्तु यथान्यायं भगवान् शास्ता [५] जगद्गुरुः ।।३।।

भगवान् आह

एकाकाराकृति [६] यद् दिव्यं मध्यं वं -कारभूषितं ।
आलयः सर्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरण्डकम् ।।४।।
आनन्दास्तत्र जायन्ते क्षणभेदेन भेदिताः ।
क्षणज्ञानात् सुख[७] ज्ञानमेवंकारे प्रतिष्ठितम् ।।५।।
विचित्रं च विपाकं च विमर्दो विलक्षणं [८] तथा ।
चतुःक्षणसमागम्यमेवं जानन्ति योगिनः ।।६।।
विचित्रं विविधं ख्यातं-मालिङ्गचुम्बनादिकं ।
विपाकं तद्विपर्यासं सुखज्ञानस्य भुञ्जनम् ।।७।।
विमर्दमालोचनं [९] प्रोक्तं सुखं भुक्तं [१०] मयेति च ।
विलक्षणं त्रिभ्योऽन्यत्र [११] रागाराग-विवर्जितम् ।।८।।
विचित्रे प्रथमानन्दः परमानन्दो विपाकके ।
विरमानन्दो विमर्दे च सहजानन्दो विलक्षणे ।।९।।
आचर्य गुह्य प्रज्ञा च चतुर्थन् तत् पुनस्तथा ।
आनन्दाः [१२] क्रमशो ज्ञेयास्चतुःसेचन [१३] संख्यया ।।१०।।
हसितशुद्ध्या त्वाचार्य ईक्षणे गुह्यकस्तथा ।
प्रज्ञा [१४] (हि) पाण्यावाप्तौ [१५] च तत् पुन द्वन्द्वतन्त्रके ।।११।।
सेकं चतुर्विधं ख्यातं सत्त्वानां सिद्धिहेतवे ।
सिच्यते स्नाप्यते ऽनेनेति सेकस्तेनाभिधीयते ।।१२।।
पाणिभ्यां तु समालिङ्ग्य प्रज्ञां वै षोडशाब्दिकां ।
घण्टावज्रसमायोगादाचार्य सेचनं मतम् ।।१३।।
चारुवक्त्रा विशालाक्षी रूपयौवनमण्डिता ।
ज्येष्ठानामिकाभ्यञ्च शिष्यवक्त्रे निपातयेत् ।।१४।।

४. ग. उच्यते. ५. क. च्छास्ता. ६. क. ख. ग. एवमेव. ७. क. ख. ग. सुखं. ८. क. ग. विलक्षनस्.
९. अनन्तरस्य स्मरणं आलोचनं अथवा आलोचनं ज्ञानस्य प्रत्यक्षता सुखं भुक्तं मयेति. १०. क. भुञ्ज.
११. क. अन्यद; ख. नेत. १२. क. ख. ग. आनन्दाद्या. १३. ग. सेवन- १४. क. प्रज्ञो.

कारितव्यन्तु तत्रेव समरसं शिष्यगोचरं ।
प्रज्ञां पूजयेच्छास्ता अर्चयित्वा समर्पयेत् ।।१५।।
शास्ता ब्रूयात् महासत्त्व गृहणमुद्रां सुखावहाम् ।
ज्ञात्वा शिष्यं महद्भूतं निरीर्ष्यं क्रोधवर्जितम् ।।१६।।
शास्ता तं आज्ञापयति कुन्दुरं [१६] कुरु वज्रधृक् ।
शिष्यकृत्यं प्रवक्ष्याम्यभिषेकमनुनाययेद् [१७] ।।१७।।
मुद्रायुक्तं गुरुं दृष्ट्वा स्तुतिपूजां करेत् [१८] यथा ।
हे भगवन् महाशान्त वज्र [१९]योगैकतत्पर ।।१८।।
मुद्राप्रसाधकाभेद्यवज्रयोगसमुद्भव [२०]
यथा यूयं महातमनो [२१] ममापि कुरु तद्विभो ।।१९।।
संसारपङ्कसंघाते मग्नो ऽहं त्राह्यशरणं ।
मिष्टान्नपानखाद्यञ्च मदनं बलं महत्तरम् ।।२०।।
धूपन्नैवेद्यं माल्यञ्च घंटाध्वजविलेपनैः ।
आभिः पूजादिभिः [२२] शिष्यः पूजयेद् वज्रधारिणम् [२३] ।।२१।।
परमानन्दे तु संप्राप्ते नानात्ववर्जिते क्षणे ।
शास्ता ब्रूयात् महासत्त्व धारणीयं महत् सुखम् ।।२२।।
यावद् आबोधिपर्यन्तं सत्त्वार्थं कुरु वज्रधृक् ।
इत्येवं वदते वज्री शिष्यं वीक्ष्य [२४] कृपाचयः [२५] ।।२३।।
एतदेव महाज्ञानं सर्वदेहे व्यवस्थितं ।
अद्वयं द्वयरूपञ्च भावाभावात्मकं प्रभुम् ।।२४।।
स्थिरचलं व्याप्य संतिष्ठेत् मायारूपी च भाति च ।
मण्डलचक्राद्युपायेन सातत्यं याति निश्चयम् ।।२५।।

अथ सर्वयोगिनीनां भगिनीनां मृषित्वा वज्रगर्भो भगवन्तं एवं आह

मण्डलचक्रं किमुच्यते सर्वबुद्धात्मकं पुरं ।

---

१५. क. पाण्यावाप्तो, ख. पानेवाप्तौ. १६. सुरतं. १७. क. अनुनाययेद् यथा, ख. नास्त्यंशोऽयं. १८. क. ख. ग. कारयेद् दृष्टव्या- हेवज्रसेक- प्रक्रिया- सं. लोइस फिनोत, जर्नल एसियाटिक् जुलाई-सितंबर १९३४, - पृ. २८- १९. क. सर्व वज्र. २०. क. - भवं. २१. क. महायानो, ख. ग. महात्मानो. २२. क. आभिः पूजाभिः, ख. पूजानः २३. अद्वयज्ञानं धारिणं गुरुं. २४. क.दीक्षा, ख. दिक्षे, ग. यो. दीक्ष्या, त. वीक्ष्य. २५. क्रियाचर्यैः

देशयन्तु यथान्यायं भगवन्तो भ्रान्ति र्मे ऽभूत् ।।२६।।

मण्डलं सारमित्युक्तं बोधिचित्तं महत् सुखं ।

आदानन् तत् करोतीति मण्डलं मलनं [२६] मतम् ।।२७।।

चक्रं निवहं खधात्वाख्यं विषयादीनां विशोधनं ।

बोल[२७] कक्कोलयोगेन तस्य सौख्यं प्रतीयते ।।२८।।

वज्रगर्भ आह

केन समयेन स्थातव्यं केन संवरेणेति ।

भगवान् आह

प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषावचः ।

आदत्तञ्च त्वया ग्राह्यं सेवनं परयोषितः ।।२९।।

एकचित्तं प्राणिवधं प्राणचित्तं यतो मतं ।

लोकान् उत्तारयिष्यामि मृषावादञ्च शब्दितम् ।

योषिच्छुक्रं[२८] अदत्तं च परदाराः स्वाभसुन्दरी [२९] ।।३०।।

अथ सर्वयोगिन्यो भगवन्तं एवंआहुः -

के पुनस्ते विषयाः ? कानीन्द्रयाणि ? किं आयतनं ?

कथमे स्कन्धाः ? के पुनस्ते धातवः? एषां किं

स्वभावम् ? ।।३१।।

भगवान् आह - षड् विषयाः

रूप शब्दस्तथा गन्धो रस स्पर्शस्तथैव च ।

धर्मधातुस्वभावश्च षडेते विषयाः मताः ।।३२।।

इन्द्रियाणि च षट्-

चक्षुः श्रोत्रं च घ्राणञ्च जिह्वा कायो मनस्तथा ।

मोहवज्रादिभि र्युक्ताः षडेतानीन्द्रियाणि च ।।३३।।

विषयवैषयिकाभ्यां [३०] च द्वादशायतनं भवेत् ।

पञ्चस्कन्धाश्च रूपाद्या विज्ञानान्ता [३१] महाकृप ।।३४।।

---

२६. क. ख. ग. मीलनं, त. मिलनं. २७. यो. एकरसरूप प्रभास्वरं बोलं महाकरुणामयश्चित्तवज्रः। कक्कोल सर्वधर्माणां प्रकृतिः २८. यो. अद्वयज्ञानं. २९. यो. नैरात्म्यादिः ३०. क. विषयविषयिलकाभ्यां, ख. विषयिल्लिकाभ्यां. ३१. क. संस्कारान्त.

इन्द्रियं विषयं चैव इन्द्रियविज्ञानमेव च ।
धातवो ऽष्टादशाख्याता योगिनीनां तु बोधये ।।३५।।
स्वभावमाद्यनुत्पन्नं न सत्यं न मृषा तथा ।
उदकचन्द्रोपमं सर्वं योगिन्यो ज्ञानतेच्छया ।।३६।।

तद्यथा काण्डञ्च मथनीयं च पुरुषहस्त व्यायामञ्च प्रतीत्याकस्माद् अग्निरुपजायते। असावग्नि र्न काण्डे तिष्ठति । न मथनीये न पुरुषहस्तव्यायामे । सर्पाकारतः परिगवेष्यमानः । एकस्मिन्नपि नास्ति । स चाग्नि र्न सत्यां न मृषा । एवं सर्वधर्मान् योगिन्यो मनसि कुरुत [३२] ।।३७।।

अथ नैरात्म्ययोगिनी प्रमुखः सर्ववज्रडाकिन्यः पञ्चामृतं गृहीत्वा समय द्रव्यञ्च भगवन्तं वज्रसत्त्वं पूजयन्ति । कुन्दुरुयोगेनानुरागयन्ति, पिवयन्ति च वज्रामृतरसम्। ततः पश्चाद् भगवांस्तुष्टे सति अधिष्ठानं दर्शयन्ति ।
भो भो वज्रडाकिन्यो !

मया गुप्तीकृत्तं तत्त्वं सर्वे बुद्धै र्नमस्कृतं ।
वज्रपूजाप्रभावेन [३३] कथयामि श्रुणुतेच्छया ।।३९।।
अथ उतसाहप्राप्ताः सर्वा देव्यो [३४] दक्षिणं जानुमण्डलं
पृथिव्यां प्रतिष्ठाप्य येन भगवांस्ते नाञ्जलिं प्रणीय
भगवतो भासितं श्रृण्वन्ति ।।४०।।

भगवान् आह -

खानं पानं यथाप्राप्तं गम्यागम्यं न वर्जयेत् ।
स्नानं शौचं न कुर्वीत ग्राम्यधर्मं न वर्जयेत् ।।४१।।
मन्त्रन् नैव जपेद् धीमान् ध्यानं नैवावलम्बयेत् ।
निद्रात्यागं न कुर्वीत नेन्द्रियाणं निवारणम् ।।४२।।
भक्षणीयं बलं सर्वं पञ्चवर्णं समाचरेत् ।
रमते सर्वयोषिता निर्विशङ्केन चेतसा ।।४३।।
मित्रस्नेहं न कुर्वीत द्विष्टे द्वेषं तथा न च ।
न बन्दयेदिमान् देवान् काष्ठपाषाणमृन्मयान् ।
सततं देवतामूर्त्या स्थातव्यं योगिना यतः ।।४४।।

३२. क. ग. कुरुत, ख. कुरुते. ३३. क. ख.ग. पूजावज्रप्रभवेन. ३४. क. देवेभ्ये, ख. देवीभ्यो.

डोम्बचण्डालचर्मारहड्डीकाद्यान् तु दुःस्पृशान्।
ब्रह्मक्षत्रिवैश्यशूद्राद्यान् आत्मदेहमिव स्पृशेत् ।।४५।।
पञ्चामृतं गुडं मद्यं विषं निम्बं प्रसूतजं ।
अम्लमधुरकषायादि तिक्तलवणकटुक स्तथा ।।४६।।
पूतिसुरभि जलासृग् [३५] बोधिचित्तेन भक्षयेत् ।
नाभक्तं विद्यते किञ्चिद् अद्वयज्ञानचेतसा ।।४७।।
स्वयंभूकुसुमं प्राप्य पद्मभाण्डे निवेशयेत् ।
श्लेष्मसिंघाणकानान्तु [३६] मिश्रीकृत्य पिवेद् व्रती ।।४८।।
कौपिनं विश्ववर्णञ्चमृच्छारै र्भूषणन् तथा ।
पुष्पं प्रेतालये प्राप्य बन्धयेन् मूर्दध्र्वजं वरम् ।।४९।।

अथ वज्रगर्भ आह

इन्द्रियाण्यविशुद्धानि षट्संख्याक्तानि [३७] वै ।
शुद्धैः सर्वविषयस्य भगवता कथिता पुरा ।।५०।।

भगवान् आह

चक्षुषो मोहवज्रा [३८] तु श्रोत्रयो र्द्वेषवज्रिका ।
घ्राणे मात्सर्यकी ख्याता वक्त्रे च रागवज्रिका ।।५१।।
स्पर्शे ईर्ष्यावज्री च मनो नैरात्म्ययोगिनी [३९] ।
कवचमेभि र्महासत्त्व इन्द्रियाणां विशुद्धये [४०] ।।५२।।

वज्रगर्भ उवाच

सन्ध्याभाषं किमुच्यते भगवान् बोब्रुत निश्चितं ।
योगिनीनां महासमयं श्रावकाद्यै र्न चिद्रितम्
हसितं चेक्षणाभ्यां तु आलिङ्ग [४१] द्वन्दकैस्तथा ।
तन्त्रेणापि चतुर्णां [४१a] च सन्ध्याभाषं न शब्दितम् ।।५४।।

भगवान् आह -

वक्ष्याम्यहं [४२] वज्रगर्भ श्रृणु त्वमेकचेतसा ।

३५. क. ग. जलासृखा, ख. जलासृक. ३६. क. सिंहानकानान्, ख. सिंहानकात्यन्, ग. सिंहानकात्यात्. ३७. क. ख. ग. संख्या. ३८. क. ख. ग. मोहवज्री. ३९. द्वेषात्मिका इत्यर्थः. ४०. क. ग. विशुद्धय, ख. विशुद्धियं, त. विशुद्धये. ४१. क. आलिंग्यं; ग. नास्ति शब्दोऽयं. ४१a. क्रिया, चर्या, योग, योगोत्तरानामिति. ४२. क. वक्ष्यहं; ख. वक्ष्येऽहं; ग. नास्ति शब्दोऽयं.

सन्ध्याभासं महाभासं समयसंकेत्त विस्तरम् ।।५५।।
मदनं मद्यं बलं मांसं मलयजं मिलनं [४३] मतं ।
गतिः खेटः शवः श्रयो अस्थ्याभरणं निरंशुकम् ।।५६।।
आगतिः प्रेङ्खणं [४४] प्रोक्तं कृमीटं डमरुकं मतं ।
अभव्यं दुन्दुरं ख्यातं भव्यं कालिञ्जरं मतम् ।।५७।।
अस्पर्शं दिण्डिमं प्रोक्तं कपालं पद्मभजनं ।[४५]
भक्ष्यं तृप्तिकरं ज्ञेयं व्यञ्जनं मालतीन्धनम् ।।५८।।
गूथं चतुःसमं प्रोक्तं मूत्रं कस्तूरिका स्मृता ।
स्वयंभु सिंह्लकं ज्ञेयं शुक्रं कर्पूरकं मतम् ।।५९।।
महामांसं सालिजं प्रोक्तं द्वीन्द्रिययोगं कुन्दुरुं ।
वज्रं बोलकं ख्यातं पद्म कक्खोलकं मतम् ।।६०।।
कुलं पंचविधं ख्यातं वर्णभेदेन भेदितं ।
सन्ध्याभाषत [४६] एवं स्यु बुद्धाश्च [४७] पञ्चकौलिकाः ।।६१।।
डोम्बी वज्रकुली ख्याता नटी पद्मकुली तथा।
चण्डाली रत्नकुली चैव द्विजा ताथागती मता ।।६२।।
रजकी कर्मकुली चैव एता मुद्राः सुसिद्धिदा ।
आसां शुक्रं भवेद् वज्रं पूजयित्वा पिवेद् व्रती ।।६३।।
वज्रगर्भ महासत्त्व यन्मया कथितं त्वयि ।
तत्सर्वं सादरं ग्राह्यं सन्ध्याभाषं महाद्भुतम् ।।६४।।
योऽभिषिक्तोऽत्र हेवज्रे न वदेत् सन्ध्याभाषया ।
समयविद्रोहनं तस्य जायते नात्र संशयः ।।६५।।
इत्युपद्रवचौरैश्च ग्रहज्वरविषादिभिः ।
मृयतेऽसौ यदि बुद्धोऽपि सन्ध्याभाषान् न भाषयेत् ।।६६।।
स्वसमयविदां प्राप्य यदि न भाषेदिदं वचः ।
तदा क्षोभं प्रकुर्वन्ति योगिन्यस्चतुःपीठजाः ।।६७।।
हेवज्रसर्वतन्त्रनिदान सन्ध्याभाषो नाम तृतीयः पटलः ।

४३. क. ख. ग. मीलनं, त. मिलनं. ४४. क. ग. प्रेक्ख्यनं, ख. प्रेक्षनं, त. प्रेङ्खनं. ४५. क. पद्मभाञ्जनं.
४६. क. सन्ध्याभात, ख. सन्ध्याभास. ४७. क. ख. ग. बुद्धा.

चतुर्थः पटलः

हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थो

अथ वज्रगर्भप्रमुखाः सर्वडाकिन्यः संशयप्राप्ता दौर्मनस्प्राप्ता भगवन्तं वज्रसत्त्वं एवं आहुः- भगवान् संशयमपनयतु (१)

चर्यापटले यदाख्यातं गीतं नाट्यञ्च सिद्धिदं ।
तत्र संदेहो मे वर्तते किं गीतं नाट्यञ्च किम् ।।२।।

देवताभिषेकतो यच्च कथितं द्वेषादिमुद्रणं ।
तत्र संदेहो मे वर्तते किं मुद्रयं[१] कस्य मुद्रणम् ।।३।।

मन्त्रपटले यत्प्रोक्तं नैरात्म्यादेश्च बीजकं ।
तत्र मे भ्रान्तिः संजाता किं बीजं कस्य बीजकम् ।।४।।

कुलपटले याः ख्याता नाड्यो द्विषोड्शात्मिकाः ।
विशुद्धिं तासं कथयन्तु भगवन्तो भ्रान्ति र्मे ऽभूत् ।।५।।

भगवान् आह

कोल्लैरे[२] ड्डिअ बोला मुम्मुणीरे कक्कोला ।
घण[३] किबिडहो[४] वज्जइ करुणे किअइ[५] न रोला[६] ।।६।।
तहि[७] बरु[८] खाज्जइ[९] गाडे[१०] माना पिज्जइ[११] ।
हले कालिञ्जर पणिअइ दुन्दुरु[१२] तहि वज्जिअइ ।
चडसम[१३] कच्छुरि[१४] सिह्ला कप्पुर लाइअइ ।
मालइन्धन शालिञ्ज तहि भरुं खाइअइ[१५] ।।७।।
प्रेंखण[१६] खेट करन्ते शुद्धाशुद्ध न मुणिअइ ।
निरंसुअ अंग चडावी[१७] तहिं ज सराब पणिअइ ।
मलयजे कुन्दुरु बाटइ[१८] डिण्डिम[१९] तहिण्ण वज्जिअइ ।।८।।

नाट्यं श्री हेरुकरूपेण अमुषितस्मृतियोगतः ।
भावना रक्तचित्तेना विरताभ्यास-चेतसा ।।९।।

---

१. ख. मुद्रं, ग. मुद्रां, २. ग. त. कोल्लयिरे, ३. डमरूकम्, ४. ग. किबित्र, त. किबिट, ५. ग. त. किअ, ६. कलकलः ७. त. तहिं, ८. मासभक्षणं, ९. त. खज्जइ, १०. गाडे, त. गाडें. ११. योगज महासुखपानं पियते. १२. रागादयः क्लेशाः १३. रूपस्कन्धं. १४. क. ग. कस्तुरि, त. काच्छुरि, १५. निःस्वभावी क्रियते इत्यर्थः १६. क. ग. पेखन, त. फेंखणे, ख. पेखणे. १७. क. चडाविअइ. १८. क. ग. वाट्टेइ. १९. क. डिण्डिम ग. डिण्डीम, सर्वानुपलम्भसमाधिः इत्यर्थ.

वज्रधर्मैस्तथा बुद्धै योगिनीभिश्च मातृभिः[२०] ।
आभ्यां गीतनाट्याभ्यां गीयते नृत्यते परं ।।१०।।
गणरक्षा त्वनेनैवात्मरक्षा तथैव च ।।
अनेनैव वशं लोके मन्त्रजापं त्वनेन तु ।।११।।
सादरं गीयते यत्र सादरं यत्र नृत्यते ।
गणाध्यक्षं पुरस्कृत्य तत्र घ्राणन्तु लक्षयेत् ।।१२।।
लशुनं प्रथमं गन्धं गृध्रगन्धं ततः पुनः ।
कर्पूरं मालयजं तदनु गीताधिष्ठानं लक्षयेत् ।।१३।।
रुतं हंसस्य भृङ्गस्य श्रूयते गीतशेषतः ।
गोमायोरपि शब्दाञ्च[२१] बाह्योद्याने तु लक्षयेत् ।।१४।।
मुद्रणं लिङ्गणाङ्कं च अङ्केन लक्षते कुलं ।
व्यस्त[२२] कुलं भावनायोगान्न सिद्धि नापि साधकः ।।१५।।
नैरात्म्यां द्वेषमुद्रेण वज्रं च मोहमुद्रया ।
गौरीं पिशुनमुद्रेण वारीं रागेण मुद्रयेत् ।।१६।।
ईर्ष्या मुद्रया डाकिनीञ्च पुक्कसीं द्वेषमुद्रतः ।
शवरीं मोहमुद्रण चण्डालीं पिशुनमुद्रया ।।१७।।
डोम्बीं रागमुद्रेण पुन गौरीञ्च द्वेषतः ।
चौरीं मोहमुद्रेण वेतालीं पिशुनमुद्रया ।।१८।।
घस्मरीं रागमुद्रेण भूचरीं मोहमुद्रतः ।
खेचरीं रागमुद्रेण मुद्रणं जानतेच्छया ।।१९।।
अलेरादी नैरात्म्या वज्रा द्वितीयकं ।
आलेस्तृतीयकं गौरी चतुर्थं वारियोगिनी ।।२०।।
पञ्चमं वज्रडाकी च षष्टमं पुक्कसी मता ।
शवरी सप्तमं चैव चण्डाली अष्टमं स्मृता ।।२१।।
नवमं डोम्बिनी चैव पुन गौरी द्विपञ्चकं ।
चौरी एकादशं ख्यातं वेताली द्वादशं मतम् ।।२२।।
घस्मरी त्रयोदशकं चतुर्दशकं भूचरी ।
पञ्चदशमं खेचरी योगिनीनां स्वबीजकम् ।।२३।।

२०. नैरात्म्यादिभिः । २१. क. ख. ग. शब्दश्च. २२. क. व्यक- ग. व्यक्त-

कुलपटले या नाड्यः कथिता द्विषोडशात्मिकाः ।
नाडी द्वयद्वयैक्का योगिन्यः क्रमशो मताः ।।२४।।
ललना रसना अवधूती नैरात्म्य-योगिनी मताः ।
सर्वशेषां त्यजेद् यत्नात् षोडशी न कला यतः ।।२५।।
कस्माद्धेतोः ? अर्थक्रियाकरणत्वात्[२३] ।
बोधिचित्तं भवेच्चन्द्रं पञ्चदशकलात्मकं ।
आली-रूपं महासौख्यं योगिन्यस्तस्यांशकाः ।।२६।।

वज्रगर्भ आह -

कर्पूरं किन्न वै त्याज्यं सर्वयोगिनी संभवं ।
सहजानन्दस्वभावन् चाव्ययं पीवरं खगम् ।।२७।।
भगवान् आह - एवमेतद् यथा वदसि ।
वज्रगर्भ आह - केनोपायेनोत्पादनीयं बोधिचित्तम् ।।२८।।

भगवान् आह -

मण्डलचक्राद्युपायेन स्वाधिष्ठानक्रमेण च ।
बोधिचित्त मुत्पादयेद् वैवृतिसंवृतिरूपकम् ।।२९।।
संवृतं कुन्दसंकाशं विवृतं सुखरूपिणं ।
स्त्रीकक्कोलसुखावत्यां एवंकारस्वरूपके।।३०।।
सुखस्य रक्षणादेव सुखावतीति शब्दतिं ।
बुद्धानां बोधिसत्त्वानामाधारणं वज्रधारिणम् ।।३१।।
एवमेव तु संसारं निर्वाणं एवमेव तु ।
संसाराद् ऋते[२४] नान्यन् निर्वाणमिति कथ्यते ।।३२।।
संसारं रूपशब्दाद्याः[२५] संसारं वेदनादयः ।
संसारमिन्द्रियान्येव संसारं द्वेषकादयः ।।३३।।
अमी धर्मास्तु निर्वाणं मोहात् संसाररूपिणः ।
अमूढः संसरन्[२६] शुद्धया संसारो निर्वृतायते ।।३४।।
निर्वृति बोधिचित्तं तु विवृति संवृतिरूपकं[२७]।
चारुवक्त्रां विशालाक्षीं रूपयौवनमण्डिताम् ।।३५।।

---

२३. क. ग. अर्थक्रिया अकरणत्वात्. २४. क. संसाराद्दृश्यते, ग. संसारो दृश्यते. २५. क. शब्दादयो, ग. शब्दादयोः. २६. ख. अमृत सन् संसरणं. २७. क. ग. निर्वृतिसंवृतिरूपकं ख. विवृतिरूपकं, संवृतिविवृति, विवृतिसंवृति.

श्यामां धीरां कुलीनान्तु सिह्लकर्पूरसम्भवां ।
स्वाभिषिक्तां तु हेवज्रे सुकेशां साधकप्रियाम् ।।३६।।
मदनं पाययेत् तस्यां[२८] स्वयञ्चैव पिबेत् ततः ।
पश्चादनुरागयेन मुद्रां स्वपरार्थप्रसिद्धये ।।३७।।
कक्कोले बोलकं क्षिप्त्वा कुन्दुरुं कुरुते व्रती ।[२९]
तस्मिन् योगे समुद्भूतं कर्पूरं न त्यजेद् बुधः ।।३८।।
न करेण ततो गृह्येत् शुक्तिकया न शङ्खके ।
अमृतं जिह्वया ग्राह्यमेधनाय बलस्य वै ।।३९।।
कर्पूरमेव नैरात्म्या सुखं नैरात्म्य रूपिणम् ।
तस्य सौख्यं महामुद्रा संस्थिता नाभिमण्डले[३०] ।।४०।।
आदिस्वरस्वभावा सा धीति बुद्धैः प्रकल्पिता ।
सैव भगवती प्रज्ञा उत्पन्नक्रमयोगतः ।।४१।।
न सा दीर्घा न सा ह्रस्वा न चतुरस्रा न वर्तुला ।
स्वादगन्धरसातीता सहजानन्दकारिणी ।।४२।।
तस्यामुत्पद्यते योगी तस्याः सौख्यं भुनक्ति च ।
तया सार्द्धं भवेत् सिद्धि र्महामुद्रासुखंददा ।।४३।।
रूपं शब्दस्तथा गन्धो रसः स्पर्शस्तथैव च ।
धर्मधातुस्वभावश्च प्रज्ञयैवोपभुज्यते ।।४४।।
सैव सहजरूपा तु महासुखा दिव्ययोगिनी ।
सैव मण्डलचक्रं पञ्चज्ञानस्वरूपिणी ।।४५।।
आदर्शज्ञानरूपा सा समता ज्ञानभाविनी ।
सद्भूतप्रत्यवेक्षा च कृत्यानुष्ठान सैव तु ।।४६।।
सुविशुद्धधर्मधातु सा सैवाहं मण्डलाधिपः ।
सैव नैरात्म्ययोगिनी स्वरूपं धर्मधातुकम् ।।४७।।

वज्रगर्भ आह

चक्रभावना मार्गेण[३१] देवतानां यथोदयम् ।
भगवता कथितं पूर्वं संवरं कथयस्व मे ।।४८।।

---

२८. क. ख. ग.- तासां. २९. ग. व्रतं. ३०. निर्माणचक्रे ३१. क. ग. मार्ग, ख. भावनामदेव-

भगवान् आह

योगिन्या देहमध्यस्थं[३२] अ-कारसंवरस्थितं ।
यथा बाह्यं तथाध्यात्मं संवरं तत् प्रकाशितम् ।।४९।।
बोलसौख्यं[३३] महामुद्रा वज्रायतन मुपायकं।
अनया गुह्यसमाप्त्या बाह्यद्वन्द्वं[३४] निदर्शितम्[३५] ।।५०।।
त्रिकायं देहमध्ये तु चक्ररूपेण कथ्यते ।
त्रिकायस्य पञ्चज्ञानं [३६] चक्रमहासुखं मतम् ।।५१।।
धर्मसंभोगनिर्माणं महासुखं तथैव च ।
योनिहृत्कण्ठमस्तेषु [३७] त्रयः काया व्यवस्थिताः ।।५२।।
अशेषाणान्तु सत्त्वानां यत्रोत्पत्तिः [३८] प्रगीयते[३९] ।
तत्र निर्माणकायः स्यान् निर्माणं स्थावरं मतम् ।।५३।।
उत्पद्यते निर्मीयते ऽनेन निर्माणिकं मतं ।
धर्मश्चित्तस्वरूपन्तु धर्मकायो हृदि[४०] भवेत् ।।५४।।
संभोगं भुञ्जनं प्रोक्तं षण्णां वै रसरूपिणं [४१] ।
कण्ठे संभोगचक्रं(च) महासुखं शिरसि स्थितम् ।।५५।।
एवं-कारे च निष्यन्दं विपाकं धर्मचक्रतः ।
पुरुषकारं [४२] संभोगे वैमाल्यं सुखचक्रके।।५६।।
फलं चतुर्विधं प्रोक्तं निष्यन्दाद्यै र्विभेदितं ।
कर्मभुग् भगवती प्रज्ञा कर्ममारुत चोदिता ।।५७।।
यथा कृतं तथा भुक्तं निष्यन्द इति शब्दितं ।
विपाकं तद्विपर्यासं कर्मण्यल्पेः [४३] महत् फलम् ।।
पुरुषकार मुपार्जनं वैमल्यं योगशुद्धितः [४४] ।।५८।।
स्थावरी निर्माणचक्रे तु निर्माणं स्थावरं यतः ।
सर्वास्तिवाद धर्मचक्रे च धर्मवादसमुद्भवः ।।५९।।
संविदी संभोगचक्रे च कण्ठे संवेदनं यतः ।
महासंघी महासुखचक्रे च महासुखं के स्थितं यतः ।।६०।।

---

३२. नाभिः. ३३. बोलाग्रं नाभौ गतसौख्यं, ३४. नैरात्माहेरुकयोः सुरतम्. ३५. क. ग. निदर्शितं, ३६. त. परिज्ञानं, ३७. क. ग. योगिन्यो, ३८. योनौ उत्पत्तिः ३९. क. निमीयते, ग. प्रमीयते, ख. उत्पद्यते. ४०. क. कृद्, ख. चतत्, ग. कृत्तन. ४१. क. रसरूपिणा, ख. रसरूपिणाम्. ४२. क. ग. पुरुषं च, ख. पुरुषकारञ्च. ४३. क. ग. कर्माण्यल्पः. ४४. क. ग. योगशुद्धिफलं, ख. नास्त्यंशोऽयं.

निकाय[४५] कायमित्युक्तं मुदरं विहारमुच्यते ।
वीतरागाद्[४६] भवेत् योनौ[४७] जरायुज्वलचीवरम् ।।६१।।
उपाध्यायी तथा जननी वन्दनं मस्तकाञ्जलिः ।
शिक्षापदं जगत्कृत्यं मन्त्रजापमहन् तथा ।।६२।।
अ-कारं योनिचक्रस्य[४८] ह-कारं महासुखस्य च /
जातो भिक्षु र्ध्वननमन्त्रो[४९] नग्नः[५०]
शिरस्तुण्डमुण्डितः[५१] ।।६३।।
आभिः सामाग्रिभिः सत्त्वा बुद्धा एव न संशयः ।
भूमयो[५२] दशमासाश्च सत्त्वा दशभूमीश्वराः ।।६४।।
अथ सर्वा देव्यो[५३] नैरात्म्ययोगिनी प्रमुखाः। तद्यथा ।
लोचना मामकी च पाण्डुरा च तारा च भृकुटी च चुन्दा
च पर्णशवरी च अहोमुखा च । एवं प्रमुखाः सुमेरु
परमाणुरजःसमा योगिन्यः परमविस्मयमापन्ना ।।६५।।
एतां भारतीं श्रुत्वा मूर्च्छिताः संत्रस्ता अवनौ पतिता ।
धूनप्राप्ताः ताः[५४] सर्वदेवी[५५] दृष्ट्वा संस्तौति वज्री
पुनरुत्थापनाय च ।।६६।।
खितिजल पवण हूतासानह तुम्हे भाईणि देवी ।
सुनह पवञ्चमि ततुमहुजो ण जानई कोवि[५६] ।।६७।।
स्वप्नवद् भगवतो वचनं श्रुत्वा सर्वासता जीवप्राप्ता
अभुवन् ।।६८।।

भगवान् आह -

सत्त्वा बुद्धा एव किं तु आगन्तुकमलावृताः ।
तस्यापकर्षनात् सत्त्वा बुद्धा एव न संशयः ।।६९।।
देव्य आहुः[५७] । एवमेतद् भगवन् सत्यं न मृषा।
भगवान् आह ।।७०।।

---

४५. भिक्षुसंघः ४६. क. ख. वीतरागा. ४७. क. योन्यौ, ख. यौनो. ४८. क. ग. योगिनी. ४९. क. ख. ग. ध्वनमन्त्रं. ५०. ग. नग्नं. ५१. ग.- मुण्डितम्. ५२. क. भूमयोर्. ५३. क. ग. देवत्या. ५४. क. ख. ग. ता. ५५. क. देवति, ख. देवति, ग. देवतीं. ५६. ख. पनञ्चमि ततु कहमि जो ण विजानइ को । ५७. क. ख. नात्र देव्य आहु.

घस्मै गरलह भक्खाणही जो निच्चेइ्य [५८] ण लोअ ।
मोहवैवर्जिता ततुमणा [५९] तत्व पर तुटुअ सोअ [६०] ।।७१।।
तथा निवृत्युपायज्ञा हेवज्रेषु कृतश्रमाः ।
अविद्याद्यै र्न गृह्यन्ते [६१] न च मोहादिबन्धनैः ।।७२।।
अबुद्धो नास्ति सत्त्वैकः संबोधात् स्वस्य स्वस्य च ।
नरकप्रेत तिर्यञ्च देवासुरमनुष्यकाः ।।७३।।
अमेध्यकीटकाद्यान्तु नित्यं सुखिनः स्वभावतः ।
न जानन्ति यतः सौख्यं देवस्याप्पसुरस्य च ।।७४।।
न बुद्धो लभते ऽन्यत्र [६२] लोकधातुषु कुत्रचित् ।
चित्तमेव हि संबुद्धो न बुद्धो ऽन्यत्र दर्शितः ।।७५।।
चण्डाल चेण्डकाराद्या मारणार्थार्थचित्तकाः ।
तेपि हेवज्र [६३] मागम्य [६४] सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।।७६।।
अज्ञानेहावृता बाला इमां गतीमजानकाः ।
संसरन्ति च ते मूढाः षड्गतौ भवचारके ।।७७।।
उपायं प्राप्य हेवज्रं वज्रगर्भ महाकृप [६५] ।
विशोधयन्ति [६६] विषयान् लप्स्यन्ते ते [६७] ह्यनुत्तरम् ।।७८।।

वज्रगर्भ आह

पृथिवी पुक्कसी ख्याता कथं अक्षोभ्यमुद्रणं ।
मोहं यस्मात् कक्खाटत्वं कायो वैरोचनो मतः ।।
<u>पुक्कसी</u> मोहमुद्रणं मुद्रणं युज्यते [६८] प्रभो [६९] ।।७९।।

भगवान् आह

कायं विहाय चित्तस्य नान्यत्र ललितं भवेत् ।
तस्माद् वैरोचनः चित्तं कायं चित्तेन मुद्रयेत् ।।८०।।

---

५८. ख. जो निच्चेअ, क. यो न चेतनो. ५९. क. ततुमण्डल, ख. तन्तुमण. ६०. शोक इत्यर्थः.
६१. क. ग. न गृह्यस्त, ख. व गुह्यन्ते. ६२. क. ग. नेत्र, नानु. ६३. हेकारमिति महाकरुणां वज्रं सर्वधर्मशून्यताम्. ६४. ग. आक्रम्य. ६५. क. ग. महापह, ख. महामही, त. महाकृप. ६६. क. ख. विशोधयन्ति ये, ग.- य. ६७. क. ग. नास्त्यत्र शब्दोऽयं. ६८. क. पूज्यते, ख. पूज्यन्त. ग. पूज्यन् मे, त. युज्यते. ६९. क. ग. प्रभोः, ख. पंक्तिरियं न विद्यते ऽत्र.

क्रमांक 1508

वज्रगर्भ आह

अब्धातुः शबरी ख्याता अक्षोभ्यो द्रवरूपकः ।
शवरी अक्षोभ्यमुद्रेण मुद्रणं युज्यते[७०] प्रभो ।।८१ ।।

भगवान आह

चित्तं विहाय कायस्य स्थितिरन्या न दृश्यते ।
तस्माच्चित्तं भवत् मोहं चित्तं मोहेन मुद्रयेत् ।।८२।।

वज्रगर्भ आह

तेजश्चण्डालिनी ख्याता कथं रत्नेन मुद्रणं ।
युज्यते रागमुद्रेण चण्डाल्या [७१] नान्यमुद्रणम् ।।८३।।

भगवान आह

रागो रक्तं यतः ख्यातं रक्तं च रत्नसंभवः ।
तेजो रक्तस्वभावत्वाद् रागं पिशुनेन मुद्रयेत् ।।८४।।

वज्रगर्भ आह

यस्माद् डोम्बिनी वायुर अमोघो वायुरूपकः ।
डोम्बिन्यमोघमुद्रेण मुद्रेणं युज्यते प्रभो ।।८५।।

भगवान् आह

रागं हित्वा ईर्ष्याया न स्यादन्यत्र संभवः ।
तस्माद् रागस्य मुद्रेण डोम्बिनीं मुद्रयेद् बुधः ।।८६।।
रूपं यस्मात् कक्खाटत्वं गौर्या वैरोचनो मतः ।
पूर्वोक्तेनैव न्यायेन चित्तेशेनैव मुद्रयेत ।।८७।।
चौरिन् तेनैव न्यायेन बेतालीञ्च तथैव च ।
घस्मरीञ्च तया युक्त्या मुद्रणं अविपरीततः ।।८८।।
समापत्तौ स्थिते देवे हेवज्रे वज्रधारिणी [७२] ।
तत्र पृच्छति नैरात्म्या सत्त्वार्थाय महाबलिम् ।।८९।।
एवं-कारे समासीनो वज्रसत्त्वो [७३] दिशेद् बलं ।
सत्त्वानां प्राणरक्षाय विघ्नाद् विनायकादपि ।।९०।।

---

७०. क. ग. पूज्यते, ख. पूज्यन्तः ७१. क. ग. चण्डाल्यो. ७२. क. वज्रधारिणी, ग. वज्रधारिन.
७३. क. वज्रसत्वादिशेत्, ख. वज्रसत्व दिशेत्.

...स्थान
क्रमांक... 1508

इन्द जम जल जक्ख भूत वह्नि वायु रक्ख ।
चन्द सुज्ज माद वप्प तलपाताले अट्ठसप्प [७४] स्वाहा ।।९१।।
इदं [७५] बलं भुञ्ज जिघ्र फुल्ल-धूप-मांस- विंघ [७६] ।
अम्भ कज्ज [७७] सव्व [७८] साध खन्ति कुणि फेड गाद ।।९२।।
ओम् अ-कारि मुखं सर्वधर्माणामाद्यनुत्पन्नत्वात् ।
ओम् आः हूँ फट् स्वाहा ।।९३।।
अनेन बलिना यदि सर्वभूतान् पूजां प्रकुर्वन्ति शुभाय योगिनः ।
भवेत् तदा तेषु सुखमनाविलं, देवाश्च तुष्यन्ति
जगत्सुभूतयः [७९] ।।९४।।
वश्याभिचाररिपुसैन्यनाशनं उच्चाटनमारणाकर्षणं च शान्ति [८०]-
सुखं पौष्टिकंभवेत् च ।
दद्यात् बलिं यदीह भूतगणाय शाश्वतः [८१] ।।९५।।

वज्रगर्भ आह

खेचरी केन मुद्रेण भूचरी कस्य मुद्रतः ।
कर्तव्यं मुद्रणं[८२] कथं प्राग् न ज्ञातं मया प्रभो ।।९६।।

भगवान आह

त्रिगुह्यं चक्रमध्ये तु कायवाक् चित्तभेदतः ।
अधोद्ध्र्वमध्यमं स्थानं चक्रमध्ये व्यवस्थितम् ।।९७।।
भूचरी कायमुद्री स्याद् अधोमुखी कायवज्रिणी ।
खेचरी रागमुद्री च ऊद्ध्र्वमुखी वाग्वज्रिणी ।।९८।।
चित्तवज्री च नैरात्म्या चित्तन्नैरात्म्यरूपकं ।
चित्तं मध्यमकं स्थानं नैरात्म्या तेन मध्यजा ।।९९।।
कुलानि षड्विधान्याहु र्विस्तरेण प्रकाशयेत् ।
त्रिविधं पञ्चविधं चैव कथ्यते श्रृणु योगिनी ।।१००।।
अक्षोभ्य वैरोचन रत्नसंभव अमितप्रिय अमोघसिद्धि
वज्रसत्त्वः ।

---

७४. संस्कृतरूपइन्द्र, यम, यक्ष, भूत, रक्ष चन्द्र, सूर्य, अष्टसर्प. ७५. क. ख. एवं, ग. इयं. ७६. ख. विम्ह, ग. नैविद्य. ७७. क. ख. कज्ज, ग. कार्य्य ७८. क. ख. ग. सर्व. ७९. क. जगद्सभूतयः, ख. जदद्विनायकाः. ८०. क. शान्ति, ग. शान्तौ . ८१. क. शश्वत, ख. सस्वत, ग. शश्वत्. ८२. क. ख. ग. मुद्रणं भगवन्, ग. मुद्रणं भगवन् प्राग् ।

द्वेष मोह पिशुन राग ईर्ष्या सौख्यं ।।१०१।।
शुद्धया जयानुक्रमतो हि भाव्याः ।
विहायवज्रसत्त्वाख्यं पश्चात् पञ्चविधं कुलं ।
तदनुयाति त्रैविध्यं मोहरागद्वेषकैः ।।१०२।।
कुलमेकन्तु चित्तेशं अक्षोभ्यद्वेषरूपिणं ।
द्वेषवज्रप्रभावो यं कुलं षट् पञ्चकं मतम् ।।१०३।।

हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रण पिण्डार्थो नाम चतुर्थः पटलः ।

पञ्चमः पटलः

हेवज्राभ्युदयः

अथ वज्री महाराजा हेवज्रः सर्वदः प्रभुः ।
सर्वाकारस्वभावात्मा मण्डलं संप्रकाशयेत् ।।१।।
सुखावत्यां समासीनः सर्वाकारस्वरूपतः ।
चित्तवज्रस्य बीजेन निष्पन्नो मण्डलेश्वरः ।।२।।
षोडशभुजमष्टास्यं चतुश्चरणं भयानकम् ।
कपाल[१]-मालिनं वीरं नैरात्म्याश्लिष्टकन्धरम् ।।
पञ्चमुद्राधरं देवं नैरात्म्या पृच्छति स्वयम् ।।३।।
अस्मच्चक्रं[२] त्वया कथितं पञ्चदशपरिवारितं ।
त्वदीयं मण्डलं कीदृक् प्राग् न ज्ञातं मया प्रभो ।।४।।
चुम्बयित्वा तु नैरात्म्यां क्षिप्त्वा वज्रं कपालके ।
मर्दयित्वा स्तनौ देवो मण्डलं संप्रकाशयेत् ।।५।।
चक्रं पूर्वं यथा कथितं हारार्धहारशोभितं ।
चतुष्कोणं चतुर्द्वारं वज्रसूत्रैरलंकृतम् ।।६।।
तत्र मध्ये ऽहं[३] विद्यते[४] त्वया सार्धं वराणने ।
महारागानुरागेन सहजानन्द स्वरूपतः ।।७।।
अष्टास्यं चतुष्चरणं भुजषोडशभूषितं ।

१. कं सुखं पालयतीति कपालं कमलम्. २. आधारमण्डलम्. ३. ग. अहं. ४. क. ख. ग. विद्यात्, त. अहं विद्येये (?).

चतुर्मारसमाक्रान्तं भयस्यापि भयानकम् ।।८।।
मुण्डमाला कृतहारं सूर्यस्थं ताण्डवान्वितं ।
विश्ववज्रधरं मूर्ध्नि कृष्णवर्णभयानकम् ।।९।।
हूँ-कारं स्फारयेन् मुखाद्[5] भस्मोदधूलितविग्रहं ।
रतिद्वन्द्वसमापन्नं नैरात्म्या सह संयुतम्[6] ।।१०।।
निस्तरंगसुखावाप्तं निस्तरंगस्वरूपिणं ।
मूलमुखं महाकृष्णं दक्षिणं[7] कुन्दसन्निभम् ।।११।।
वामं[8] रक्तं महाभीमं मूर्धास्यं विकरालिनं ।
चतुर्विंशतिनेत्राद्यं शेषास्या भृङ्गसन्निभाः ।।१२।।
त्वया मया पुरे रम्ये[9] क्रीडता[10] रतिनिर्भरः ।
निःसृता इन्द्रदिग् गौरी पूर्वद्वारे सुसंस्थिता[11] ।।१३।।
मन्थमन्थानयोगेन चौरिका निःसृता पुनः ।
निःसृता दक्षिणे द्वारे चौरी सा द्वारपालिका ।।१४।।
बोलकक्कोलयोगेन वेताली निःसृता पुनः ।
निःसृत्य पश्चिमे द्वारे निषण्णा मारभञ्जिनी ।।१५।।
महाद्वन्द्वसमापत्तौ निःसृता घस्मरी पुनः ।
निःसृत्य उत्तरे द्वारे निषण्णा घोररूपिणी ।।१६।।
द्वयो र्घर्षणसंयोगान् निःसृता पुक्कसी पुनः ।
निःसृत्यैशानकोणे च निषण्णा रौद्ररूपिणी ।।१७।।
पुन र्मन्थानयोगेन शवरी पावककोणके ।
चण्डाली रक्षसाशायां डोम्बी मारुतकोणके ।।१८।।
ततो वज्री महारागाद् द्रुतभूतं[12] सविद्यया ।
चोदयन्ति ततो देव्यो नानागीतोपहारतः ।।१९।।
उट्ठ भराडो करुणमण्ड पुक्कसि महु परिताहिं ।
महासुअजोए काम महुं छड्डुहिं[13] सुण्णसमाहि ।।२०।।
तोह्या विहुण्णे मरमि[14] हहुं उट्टेहिं तुहुं हेवज्ज ।

---

५. क. स्वमुखाद, ख. सुमुखाद्. ६. क. ख. ग. संपुटं. ७. क. दक्षिणे. ८. क. वमे, ख. वमं, ग. वम. ९. क. रम्य, ख. रम्यै. १०. क. ग. क्रीडिता, ख. क्नीडता, यो. क्रीडता , सुरतक्रीडया इत्यर्थः ११. ग. तु संस्थिता. १२. क. ख. ग. द्रुतं. १३. क. छत्ताहिं, ग. छात्तहि. १४. ग. विहुन्न त्वया विना इत्यर्थः

छड्डुहि [१५] सुन्नसभावडा सवरिअ सिह्याउ [१६] कज्ज।।२१।।
लोअ निमन्तिअ सुरअप्पहु सुण्णे अच्छसि कीस ।
हौं चण्डाली विण्णनमि तइ विण्ण [१७]डहमि [१८] न दीस ।।२२।।
इन्दीआली उट्ठ तुहु हौं जानामि त्तुह चित्तः ।।२३।।
हस्त्यश्वखरगावुष्ट्रमनुजसरभौतकस्तथा ।
दक्षिणाष्टकपालेषु क्रमै र्ज्ञेया द्विपादयः ।।२४।।
पृथिवी वरुण वायुश्च तेजस्चन्द्रार्क एव च ।
अन्तको धनदश्चैव वामाष्टकपालके ।।२५।।
श्रृङ्गारवीरवीभत्सरौद्रहास्यभयानकैः ।
करुणाद्भूतशान्तैश्च नवनाट्यरसै र्युतम् ।।२६।।
अँ- हूँ- भ्यां च महावज्री [१९] उत्थितो द्रवमूर्तितः ।
चरणान् स्फारयन् भूमौ तर्जयञ्च [२०] सुरासुरान् ।।२७।।
गँ चँ वँ धँ पँ शँ लँ [२१] डँ बीजैस्तु सृजेद् आसां ।
अधिपतिरतिबीजाभ्यां हूँ-अँ-भ्यां ज्वालाकरालनीलाभ्यां ।।२८।।
मातृचक्रे पुरे रम्ये भावयेदीदृशं प्रभुं ।
कृष्णवर्णमहाघोरं नैरात्म्य सुखदायकम् ।।२९।।
गौर्या हि दक्षिणे कर्त्र्यवसव्ये [२२] रोहितस्तथा ।
कृपीतं दक्षिणे चौर्या वामे पानौ वराहकम् ।।३०।।
वेताल्या-[२३] दक्षिणे कूर्मं वामे पद्मभाजनं [२४] ।
घस्मर्या दक्षिणे सर्पः वामेन योगपात्रिका ।।३१।।
पुक्कस्या दक्षिणे सिंहं वामे परशुस्तथा ।
शवर्या दक्षिणे भिक्षु र्वामे खिड्खिरिका तथा ।।३२।।
चण्डाल्या दक्षिणे चक्रं वामेन लाङ्गलं तथा ।
डोम्ब्या दक्षिणे वज्रं वामे सव्यतर्जनी तथा ।।३३।।
अर्धपर्यङ्कनाट्यस्था गौर्याद्या द्विभुजा मताः ।
त्रिनेत्रा ऊध्र्वकेशश्च पञ्चमुद्राविभूषिताः ।।३४।।

---

१५. क. छड्डाहि, ग. छाड्डुहि. १६. क. सिह्याड, शवर्याः कार्यं सिद्धतु इत्यर्थः । १७. क. विण्ड, ख. विण्डा. १८. क. उहमि, ख. देहमि. १९. ततो वज्री. २०. क. ग. तर्जयन्तं, ख. वजयन्तं. २१. क. ग. चं; ख. रं, त. लं. २२. क. ख. ग. कर्त्तिर्, २३. क. वेताल्यो. २४. क. भाञ्जिनम्.

कृष्णवर्णा भवेद् गौरी चौरी मार्तण्डसन्निभा ।
वेताली तप्तहेमाभा घस्मरी मरकतोपमा ।।३५।।
पुक्कसी इन्द्रनीलाभा शवरी चन्द्रमणिप्रभा ।
चण्डाली च नभः श्यामा डोम्बी कर्चूरा मता ।।३६।।
ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्ररुद्राश्च वैवश्यत विनायकः[२५] ।
नैऋति वेंमचित्री च धौर्यादीनां तु विष्टरु ।।३७।।
बोलकं भूषयित्वा तु भगवन्तं पूज्य भक्तितः ।
नैरात्म्या पृच्छते मन्त्रं गाढालिङ्गनचुम्बनैः ।।३८।।
स्त्रीणां वश्यकरं मन्त्रं दुष्टाणां तर्जनं तथा[२६] ।
नागाक्षेपकरं मन्त्रं देवासुरविमर्दनम् ।।३९।।
तदहं कथयाम्येष श्रुणु देवी सुखं ददे ।
बुद्धेषु बोधिसत्त्वेषु मया नान्यत्र देशितम् ।।४०।।
अस्य मन्त्रस्य यद्भूतं वज्रसत्त्वेन यत् कृत्तं ।
बिभेमि सुतरं देवि उपरोधात्[२७] त्वयि कथ्यते ।।४१।।
मण्डलं वर्तयित्वा तु ज्वालामालाकरालिनं ।
अभिषेकं वज्रगर्भस्य दातुं[२८] कृष्यं तिलोत्तमम्[२९] ।।४२।।
आयुतजाप[३०]-स्पष्टेन दीर्घनादेन चारुणा ।
हेवज्रयोगयुक्तेन कृष्यन्ते सर्वयोषितः ।।४३।।
लक्षजापेन[३१] योगात्मा सर्वकर्म करोत्यसौ ।
हे-कारवज्रयोगेन[३२] निर्विशङ्केन चेतसा ।।४४।।
वेदानामादिमं चैवार्धेन्दुबिन्दुभूषितं[३३] ।
पश्चादष्टाननायेति पिङ्गोर्ध्वकेशवर्त्मने[३४] ।।४५।।
चतुर्विंशतिनेत्राय तदनु षोडशभुजाय ।
कृष्णजीमूतवपुषे कपालमाला धारिणे ।।
अध्यान्तक्रूरचित्ताय अर्धेन्दुदंष्ट्रिणे ।।४६।।

---

२५. ग. विभुनायः, त. धनपतिः, त. वित्तनाग्नह २६. ग. यथा. २७. क. उपरोधा, ख. उपरोधी, ग. उपबोधात्. २८. क. दातं, ख. दाप्तुं, ग. दातुं. २९. क. ख. कृष्ण तिलोत्तमा, क. आकृष्णा तिलोत्तमां. ३०. क-जाप्यन, ख. जपन, ग. जाप्यतस्तेन. ३१. क. लक्षजाप्य- ३२. क. योगयुक्तेन, ख. - योशन. ३३. आद्यक्षरं प्रणवः इत्यर्थः. ३४. क. पिङ्गलो, ख. पिङ्गलोदृर्ध्व, ग. पिङ्गलो-

मारय मारय कारय कारय गर्जय गर्जय तर्जय तर्जय
शोषय शोषय सप्तसागरान् बन्ध बन्ध नागाष्टकान् गृह्न गृह्न
शत्रून् ह हा हि ही हु हू हे है हो हौ हं हः फट् स्वाहा ।।४७।।
ततस्तुष्टा तु सा देवी मन्थमन्थानयोगतः ।
पृच्छते मण्डलं रम्यं गाढालिङ्गनचुम्बनैः ।।४८।।
शास्ता तत्र महाज्ञानी मण्डलं लिखति [३५] स्वयं ।
वज्रपद्मसमायोगात् हृष्टचित्तः समाहितः ।।४९।।
पुटमेकं चतुर्द्वारं नानारश्मिसमाकुलं ।
चतुस्तोरणसमायुक्तं वज्रसूत्रै र्विभूषितम् ।।५०।।
पञ्चरेखासमायुक्तमष्टौ च कलशा लिखेत् ।
पञ्चरत्नमयै चूर्णैरथवा तण्डुलकादिभिः ।।
श्मशानेष्टकेनापि [३६] श्मशानाङ्गारकैस्तथा ।।५१।।
तन्मध्ये तु लिखेत् पद्मनष्टपत्रं सकेशरम् ।
पुष्करे च लिखेन् नरकं शुक्लवर्णत्रिखण्डिनम् ।।५२।।
ऐशाने ऽपि लिखेत् शरमा [३७] भिक्षुभंग्नेयकोणके ।
चक्रं लिखेच्च नैऋत्यां वायव्यां कुलिशं लिखेत् ।।५३।।
पूर्वद्वारे तथा कर्त्रीं [३८] कृपीटं दक्षिणे लिखेत् ।
पश्चिमे संलिखेत कूर्मं उरगं चोत्तरे तथा ।।५४।।
देवीनां वर्णभेदेन अष्टचिह्नं प्रकीर्तितं ।
मध्ये शुक्लकरोटञ्च विश्ववज्राङ्कितं लिखेत् ।।५५।।
विजयकलशं दद्यात् पल्लवाग्रं सुवस्त्रिणं ।
पञ्चरत्नोदरं दिव्यं शालिजैः परिपूरितम् ।।५६।।
किं बहुना प्रलापेन
यथा <u>तत्त्वसंग्रहे</u> मण्डलविधिस्तथा कर्तव्यम् ।।५७।।
मण्डले च प्रवेष्टव्या विद्या चाष्टौ महासुखाः ।
द्वादशाब्दा द्विरष्टा च हारनूपुरभूषिताः ।।५८।।
जननी भगिनी चैव दुहिता भागिनेयिका ।

---

३५. क. ग. लिखिते, ख. लिखेते, ३६. ग. श्मशान अष्टकेनापि, ३७. सिंहमित्यर्थः ३८. क. कर्त्ति, ख. कतृ, ग. कर्ति,

मातुलस्य तथा भार्या मातृभगिनी च श्वसृक् ।।
पितु र्भगिनी तथा चैव अष्टौ विधाः प्रकीर्तितः ।।५९।।
आसां पूजयेद् योगी गाढलिङ्गनचुम्बनैः ।
कर्पूरं च पिवेत् तत्र तेन मण्डलं प्रोक्षणम् ।।६०।।
तासां पाययेद् योगी लघु सिद्धिमवाप्नुयात् ।
मदनं तत्र पातव्यं भक्षयेद् बलशालिजम् ।।६१।।
ताञ्च विवस्त्रकां कृत्वा भगं चुम्बयेन मुहुर्मुहुः ।
ताभिश्च वृष्यते बोलं गीयते नृत्यते परम् ।।६२।।
क्रीडा च क्रियते तत्र बोलकक्कोलयोगतः ।
पश्चाद् द्वितीयप्रहरे शिष्यं तत्र प्रवेशयेत् ।।६३।।
अक्षिं प्रच्छाद्य वस्त्रेण पश्चान् मण्डलदर्शनं ।
अभिषेकं दीयते तत्र निशीथे विजने गृहे ।।६४।।
यथा कथतास्त्वभिषेका आचार्यादिप्रभेदतः ।
श्रुतिपूजा यथाख्याता प्रागुन्नेया [३९] सुशिष्यकैः ।।६५।।
तत्त्वञ्च देशयेत् तत्र विरमादिपरमान्तकं ।
गोपितं सर्वतन्त्रेष्वन्तमन्तं प्रकाशितम् ।।६६।।
पृच्छते तत्र सा देवी वज्रपूजाप्रयोगतः ।
तत् क्षणं कीदृशं देव कथयस्व महाप्रभो ।।६७।।

भगवान् आह

आइ न अंत न मह्यु तहिं नत्र भव नत्र निर्वाण ।
एहु सो परममहासुह नउ पर नउ अप्पाण [४०] ।।६८।।
स्वसव्येतरपाणेस्तु [४१] वृद्धा वानामिका च या ।
ताभ्यां प्रपीडयेत् योगी संभोगे लहरीद्वयम् ।।६९।।
पश्चादुत्पद्यते ज्ञानं कुमारीसुरतं [४२] यथा ।
किमप्युत्पद्यते तत्र मूर्खस्य स्वप्नं यथा ।।
परमान्तं विरमाध्यं [४३] शून्याशून्यं तु हेरुकम् ।।७०।।

हेवज्राभ्युदयः पञ्चमः पटलः

---

३९. क. ख. ग. उन्नेयं, ४०. क. पाणैस्तु, ख.- पनिस्तु ४१. ग्राह्यग्राहकवर्जितः इत्यर्थः। ४२. क.- सुभरं
४३. क. ख. ग. परमान्तं मध्यमं विरमस्य.

षष्ठः पटलः

हेवज्रपटविधान पटलः

देवीं[१] वै गाढमालिङ्ग्य[२] क्षिप्त्वा बोलं कपालके ।
गाढं कुचग्रहं कृत्वा संवृष्य नरनाशिकाम् ।।१।।
दशनेनौष्ठमापीड्य कक्षं[३] कृत्वा नखक्षितं ।
संपुटं सौख्यमासाद्य पञ्चमुद्रां प्रकाशते ।।२।।
गुर्वाचार्येष्टदेवस्य नमनार्थं चक्रिका धृता ।
दुर्भाषस्याश्रवणाय गुरो र्वज्रधरस्य च ।।३।।
श्रवणयोः कुण्डलं धार्यं मन्त्रं जप्तुं[४] च कण्ठिका ।
रुचकं प्राणिवन्धं त्यक्तुं[५] मुद्रां भजितुं[६] च मेखलम् ।।४।।
पञ्चबुद्धस्य मुद्रेण शरीरं मुद्रितं सदा ।
प्रहसनन् ततः कृत्वादन्तैः संपीड्य चाधरम् ।।
पृच्छते तत्र[९] सा देवी हेवज्रं सहजरूपिणम् ।।५।।
कतरेण विधानेन कया क्रिययो[७] तथा प्रभो ।
हेवज्रस्य पटं कार्यं कथयस्व महासुख ।।६।।

भगवान् आह

समयि[८] चित्रकरेणेह साधकेनापि समयिना[९] ।
लिखितव्यं पटं घोरं नरकस्थैः पञ्चवर्णकैः ।।
शवकेशस्य कुच्चा च लिखनीयं पटं गुरू[१०] ।।७।।
सूत्रं च यया कार्यं कर्तव्यञ्च पटं यया ।।
तयापि समयिन्या[११] वै समयाधिष्ठानयोगतः ।।८।।
मासिमासि चतुर्दश्यां कृष्णायां विजने गृहे ।
मध्याह्ने क्रूरचित्तेन किञ्चिन् मदनपानतः ।।९।।
अंगे निरंशुकं भूत्वा नग्निभूयस्तथा पुनः ।
उत्सृष्टेनापवित्रेण भक्षयेत् समयन् ततः ।।१०।।

---

१. क. ख. ग. देवी . २. क. आलिङ्ग्यम्. ३. क. वर्ण्णो, ख. वलो, ग. वर्ण्णम्, त. कक्ष. ४. क. ख. ग. जप्तम्. ५. ग. त्यक्तं. ६. ख. भञ्जिन्तु, ग. भञ्जितुम्. ७. क. क्रिया. ८. क. ग. समयी - ९. क. समयिना. १०. क. ग. गुरुं, ख. गुरुपटं. ११. क. समयीन्य, ख. समयिन्य, ग. समयीन्या ।

निजमुद्रा स्थाप्य वामेन चारुवक्त्रां कृपावतीं ।
रूपयौवनसौभाग्यां सुपुष्पां साधकप्रियाम् ।।११।।

हेवज्रपटविधानपटलः षष्ठः

सप्तमः पटलः

भोजनपटलः

अथाह तत्र सा देवी बालकक्कोलयोगतः ।।
ओष्ठं दन्तेन संपीड्य कथं [1] भवति पुस्तकम् ।।
वज्रपद्मसमायोगात् तुष्टो देवः प्रकाशते ।।१।।

भगवान् आह

श्रृणु देवि महाभागे पुस्तकं कथयाम्यहम् ।
भूर्जपत्रे लिखेत् समयी द्वादशांगुलपुस्तकम् ।।
महामधुमसिं कृत्वा लेखन्यां मानुषास्थिभिः ।।२।।
पुस्तकञ्च पटञ्चैव यदि वा दुन्दुरः पश्यति ।
इह जन्मनि न सिद्धिः स्यान् न वा परलोकगोचरे ।।३।।
संप्रदायप्रयुक्तस्य दर्शनञ्च कदाचन [2] ।
गोपितव्यं कचे कक्षे पुस्तकं अध्वगोचरे ।।४।।
भगे लिङ्गंप्रतिष्ठाप्य चुम्बयित्वा मुहुर्मुहुः ।
महासुखं समासाध्य वज्री भोजनमादिशेत् ।।५।।
श्रृणु देवि[3] विशालाक्षि [4] भोजनं गणमण्डले ।
यत्र भुक्ते[5] भवेत् सिद्धिः सर्वकामार्थसाधकी ।।६।।
श्मशाने गिरिकुञ्जे वामानुषस्य[6] पुरे तथा ।
अथवा विजने प्रान्ते [7] इदं भोजनमारभेत् [8] ।।७।।
कल्पयेद् आसनं तत्र नवाख्यं शवरूपिणं ।
अथवा व्याघ्रचर्माञ्च श्मशानकरपटं तथा [9] ।।८।।

---

१. क. ख. ग. कतमं, त. कथं. २. क. ख. ग. कदाचित्. ३. क. देवी. ४. क. विशालाक्षी. ५. क. चक्रभुक्ते. ६. ग. केवलमत्रविद्यते. ७. क. ख. समुदान्ते. ८. ग. आचरेत्. ९. ग. अष्टश्मशान-करप्पटम्,

मध्ये हेवज्ररूपात्मा योगिनीनां ततो न्यसेत् ।
स्थानं ज्ञात्वा यथापूर्वं दिशासु विदिशासु च ।।९।।
व्याघ्रचर्मोपरि भुञ्जेत्[१०] समयस्य मालतीन्धनं ।
भक्षञ्च भक्षयेत् तत्र राजशालिं प्रयत्नतः ।।
भुक्त्वा भुक्त्वा पुनस्तत्र पूज्यन्ते तत्र मातरः ।।१०।।
यदि वा माता भगिनी [११] भागिनेयी च श्वसृका ।।
पूजयेन् निर्भरं तासां सिद्ध्यन्ते गणमण्डले ।।११।।
एकखण्डं महानरकं दिव्यं मदनपूरितम् ।।
गुरवे दद्यान् महाभागी [१२] वन्दयित्वा स्वयं पिबेत् ।।१२।।
गृहणीयात् पद्महस्तेन दद्यात् तेनैव पाणिना ।
मुहुर्मुहुः प्रणामञ्च कुर्वन्ति तत्र साधकाः ।।१३।।

भोजनपटलः सप्तमः

अष्टमः पटलः

विनेय पटलः

तत्र पृच्छन्ति योगिन्यो महामुद्रा तु कीद्दशी ।
संवृत्याकाररूपेण [१] कथयस्व सुखंददा ।।१।।

भगवान् आह -

नातिदीर्घा नातिह्रस्वा न कृष्णा न च गौरिका ।
पद्मपत्रनिभाकारा श्वासः तस्याः सुगन्धकः [२] ।।२।।
प्रश्वेदं च सुगन्धि स्यान् [३] मृगनाभिसमप्रभं ।
पद्मं चेन्दीवरं गन्धं क्षणात् पद्ममिवाचरेत् ।।३।।
कर्पूरसिंह्लयोस्तस्याः सुगन्धं लक्षयेद् बुधः ।
उत्पलस्य भवेद् गन्धं वायसागुरुसन्निभम् ।।४।।

---

१०. क.- चरमोपभुजंजीत. ११. क. भगिनी स्यात्, ख. यदि माता भगनी पुववत् स्यात्. १२. क. महाभगि, ख. महाभास, ग. महाभागे ।

---

१. क. ग. संवृत्यचाररूपेण. २. ख. ग. सुगन्धकम्. ३. क.ख. प्रस्वेदं भवेत् सुगन्धि.

धीरा अचञ्चला चैव प्रियवादी[४] मनोरमा ।
सुकेशा त्रिवलीमध्या प्राकृतैः पद्मिनी मता ।।
तां च प्राप्य भवेत् सिद्धिः सहजानन्दरूपिणी ।।५।।
अथाह नैरात्म्यायोगिनी भगवान प्रणिधानं कीदृशं कर्तव्यम् ?

भगवान् आह

कुलजन्मा[५] अनुन्मादी समयी हेवज्रदेशकः ।
कृपवान् गुरुभक्तश्च भवेयं जन्मजन्मनि ।।६।।
वज्रघण्टारणत्पाणिर् गंभीरधर्मपाठकः ।
योषिच्छुक्रसमाहारी भवेयं जन्मजन्मनि ।।७।।
तत्र तुष्टा तु सा देवी इदं वचनमब्रवीत ।
दुर्दान्ता दुन्दुराः सत्त्वा विनेयं यान्ति केन हि ।।८।।

भगवान् आह

पोषधं दीयते प्रथमं तदनु शिक्षापदं दशं ।
वैभाष्यं तत्र देशेत सूत्रान्तं वै पुनस्तथा ।।९।।
योगाचारं ततः पश्चात् तदनु मध्यमकं दिशेत् ।
सर्वमन्त्रनयं ज्ञात्वा तदनु हेवज्रमारभेत् ।
गृहणीयात् सादरं शिष्यः सिद्ध्यते नात्र संशयः ।।१०।।

विनेयपटलो नामष्टमः

नवमः पटलो

मन्त्रोद्धारपटलो

अथातः संप्रवक्ष्यामि संपुटोद्घातलक्षणं ।
येन विज्ञातमात्रेण साधकः सिद्धिमाप्नुयात् ।।
साध्यस्य नाभिमूले तु हस्तेनोत्पाटयेद् व्रती ।।१।।
हेरुकप्रतिरूपेणाध्यात्मकक्रूरचेतसा[१] ।

---

४. क.- वादिनी, व.- वादीनी, ५. क. कुलजन्मानुन्मादी, ख. कुलजन्म अनुमादी, ग. कुलेजन्मानुजन्मादी।

---

१. क. आध्यातक्रूरचेतसा, ख. आध्यात्मक्रूरचेतसा, ग. आध्याताक्रूरचेतसा,

भावनामात्रकेनैव बुद्धो ऽपि नश्यते ध्रुवम ।।२।।
मारणं क्रियते कृपया श्रावयित्वा गुरौ मुनौ ।
शासनायापचारी च गुरुबुद्धस्य नाशकः [२] ।।३।।
यत्र [३] दृष्ट्वा यथारूपं अधोमुखं तु भावयेत् ।
रक्तमुद्वमन्तञ्चैव कम्पयन्तं समूर्द्धजम् ।।४।।
तस्य मार्गे सूचीं ध्यायात् प्रविशन्तीं वह्निरूपिणीं ।
हृदये हुताशनबीजं दृष्ट्वा मारयेत् [४] तत्क्षणात् ।।५।।
अस्मिन् तन्त्रे न होतव्यं मुद्राबन्धक्रिया न च ।
पठितसिद्धं महातन्त्रं ध्यानमात्रेण सिद्ध्यति ।।६।।
रहस्यं परमं वक्ष्ये श्रृणु देवी वरानने ।
भवस्य शोधनं रम्यमविकल्पसिद्धिदायकम् [५] ।।७।।
पश्य देवी महारत्नं ज्वालामालाकुलं वपुः ।
अयोग्यः [६] स्याद् अभिद्धेन [७] विद्धः [८] सन् रुचिदायकः [९] ।।८।।
तद्वत् संसारकं रत्नं पञ्चकामगुणैः र्युतं ।
अविशुद्धं [१०] विषतां याति विशुद्धं [११] पीयूषवद् भवत् ।।९।।
संसारं हेरुकाकारं जगदुत्तरणं प्रभुं ।
येन रूपेण संभूतं तदहं वच्मि श्रृण्वताम् ।।१०।।
कृपया लोचने रक्ते कृष्णाङ्ग [१२] मैत्रीचित्ततः ।
संग्रहवस्तुचतुष्केन चतवारस्चरणाः स्मृताः ।।११।।
अष्टास्यां विमोक्षाष्टौ [१३] शून्यता षोडशा भुजाः [१४]।
मुद्रेण पञ्चबुद्धाः स्युः क्रुद्धो दुष्टविनेयतः ।।१२।।
मांसेन पुक्कसी ख्याता शवरी रक्तेन कल्पिता ।
चण्डाली शुक्रमित्युक्तं डोम्बी च मेदमज्जयोः ।।१३।।
चर्म बोध्यंगसप्तन्तु अस्थि सत्यचतुष्टयम् ।

---

२. यो. गुरुबुद्धनाशस्तथा, ख.- नाशकस्तथा. ३. ग. यत्तु, त. यथा पशु रूपं दृष्ट्वा . ४. क. मारयतु, ख. मारयति. ५. क. ख. विकल्प, ग. त. यो. अविकल्प- ६. क. ख. अयोगः. ७. अवीद्धेनः, ग. अवीद्धेन. ८. क. ग. विशुद्धः. ९. ग. रतिदा. १०. क. ग. अविशुद्धो, ख. अस्पष्टोऽयं शब्द. ११. क. ग. विशुद्धो, ख. अस्पप्टोऽयं शब्द. १२. क. कृष्णाङ्गौ , ख. कृष्णाङ्गः. १३. क. ख. ग. विमोक्षाष्टौ. १४. क. ख. भुजाः स्मृता.

देव्य उवाच

मन्त्रोद्धारं[१५] भवेत् कीदृक् कथयस्व महासुख ।
येन मन्त्रेण जन्तूनां कर्माणि यान्ति सिद्धिताम् ।।१४।।
भगवानाह महावज्री वज्रसारवपु र्महान् ।
श्रृणु देवि महाभागो[१६] मन्त्रं ते कथयाम्यहम् ।।१५।।
आदौ वैरोचनं दत्त्वौष्माणाञ्च चतुर्थकं ।
पुक्कसी शोभनं दिव्यं शून्याक्रान्तं शुक्ल वर्णम् ।।
स्वाहान्तं नियोजयेत् ।
अनेन लक्षजापेन स्तम्भयेज्जगत् सर्वदा[१७] ।।१६।।
आदौ वर्णाधिपं दत्त्वा तदनु खेचरिं ततः ।
स्वाहान्तं योजितं कृत्वा बुद्धानपि वशीकरेत् ।।१७।।
वेदानां आदिमं दत्त्वा प्रथमस्य द्वितीयकं ।
शून्यं[१८] स्वाहान्तं योजयेत्[१९] बुद्धानामप्युच्चाटयेत् ।।१८।।
आदौ[२०] वैरोचनं दत्त्वा द्वितीयस्य तृतीयकं ।
र-युक्तं वारिभूषितं शून्यं स्वाहान्तसंयुक्तम् द्वेषयेत्
सर्वमानुषान् ।।१९।।
आदौ वर्णेश्वरं दत्त्वा पञ्चमस्य तृतीयकं ।
सशून्यं डाकिनीयुक्तं स्वाहान्तं अभिचारुकम् ।।२०।।
वर्णज्येष्ठं पुन र्दत्त्वा हूँ-काररक्तसंन्निभम् ।
स्वाहान्तं कार्षयेत् सद्य[२१] रम्भादीनान् तिलोत्तमाम् ।।२१।।
आदौ मोहकुलं दत्त्वा घु-कारं संप्रयोजयेत् ।
स्वाहान्तं च पुनः कृत्वा मारयेत् सुरमानुषान् ।।२२।।
प्रथमस्य प्रथमन्तु वज्रडाकिनी योगितं ।
आदौ वैरोचनं दत्त्वा अन्तस्थानां द्वितीयकम् ।।२३।।
वज्रडाकिनी संयुक्तं पुनः प्रथमस्याग्रकम् ।
वज्रडाकिनी संयुक्तं अन्तस्थानां तृतीयकम् ।।२४।।
पुनस्तेनैव संयुक्तमुपरि चौरी भूषितं[२२] ।

---

१५. क. ख. उद्धारणं. १६. महाप्रज्ञे त, १७. क. ख. सदा. १८. क. न शून्यं, ख. सशून्यं. १९. क. योजयेत् प्रज्ञा. २०. क. ख. ग. प्रथमं. २१. क. सत्यं. २२. क. ख. चौरीविभूषितम.

ह्रीं:-कारं योजयेत् तत्र [२३] स्वहान्तं पुनराचरेत् ।।
कुरु कुल्लामन्त्रः ।।२५।।
ओं-कारादि चतुर्थस्य तृतीयं चौरीभूषितं [२४] ।
अन्तस्थानां चतुर्थकं पिचुवज्रप्रयोजितम् ।।२६।।
उष्मानाञ्च चतुर्थकं पुक्कास्याश्च [२५] विभूषितं ।
शून्याक्रान्तं त्रिगुणितं पञ्चमस्य द्वितीयकम् ।।
तृतीयस्य प्रथमं स्वाहान्तं हे वज्रस्य हृदयम् ।।२७।।
वैरोचनादिज्वलज्वलयोजितं पञ्चमस्य चतुर्थं तु ।
अन्तस्थानां प्रथमेन युक्तं धस्मरी भूषितम् ।।२८।।
उष्मानाञ्च चतुर्थकं वज्रडाकिनी भूषितं ।
शून्याक्रान्तं त्रिगुणितं पञ्चमस्य द्वितीयकं ।
तृतीयस्य प्रथमं स्वाहान्तं चतुर्भुजस्य मन्त्रः ।।२९।।
वैरोचनादि प्रथमस्य च प्रथमं अभ्यन्तरगौरीशोभितं ।
तृतीयस्य च प्रथमं अभ्यन्तरगौरीभूषितम् ।।३०।।
द्विगुणीकृत्य पञ्चमस्य तृतीयं द्वितीयस्य
तृतीयं वह्निभूषितं हूँ-कारत्रययोजितम् ।
पञ्चमस्य द्वितीयं त्रितीयस्य प्रथमं स्वाहान्तं षड्भुजस्य
मन्त्रः ।।३१।।
वैरोचनादिचतुर्थस्य प्रथमं हुताशनसंयुक्तं वेतालीविभूषितं ।
अन्तस्थानां तृतीयकं धस्मरीभूषितं ।
प्रथमस्य प्रथमं अन्तस्थानां प्रथमेन युक्तं वज्राभूषितम् ।।३२।।
क्ष-कारं चौरीभूषितम् । पञ्चमस्य प्रथमम् ।
उष्माणां चतुर्थकं वज्रडाकिनी भूवितम् ।
शून्याक्रान्तं त्रिगुणितं फट् स्वाहान्तम् द्विभुजस्य ।।३३।।
नैरात्म्या प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य प्रथमं तृतीयस्य प्रथमं
चतुर्थस्य प्रथमं पञ्चमस्य प्रथमं अन्तस्थानां प्रथमं उष्माणां
प्रथमं वैरोचनादिस्वाहान्तम् । पुरक्षोभनमन्त्रो लक्षजापः ।।३४।।

---

२३. ग. तु, क. तदनु. २४. क. ख. चौरीविभूषितम, २५. क. ख. पुक्कसी वि; ग. पुक्कसी सां विभूपितम्।

अन्तस्थानां द्वितीयन्तु क्ष-कारद्वयं । मध्ये पुनरन्तस्थानां द्वितीयकं ।
हूँ-कारत्रयं वैरोचनादि फट्-कारविदर्भितं स्वाहान्तम् ।
भूमिशोधनमन्त्रः ।।३५।।
वैरोचनादि तदनु वज्रा हूँ-कारान्तं खानपानाधिष्ठानमन्त्रः ।
वैरोचनादि तदनु अ-कारो मुखम् । उष्माणान् तृतीयकम् ।।३६।।
अन्तस्थानाञ्चतुर्थकमुपरि वह्निभूषितम् । .
धर्माणां । तदनु वज्रा चाद्यनुत्पन्नत्वात् - ओं - अः हूँ फट् स्वाहाः
सर्वभौतिकवलिमन्त्रः ।।३७।।

मन्त्रोद्धारपटलो नवमः

जापपटलो नाम दशमः

अथातो[१] वज्रसत्त्वाख्यः सर्वधर्मैकसंवरः ।
नैरात्म्यां चुम्बयित्वा तु जापविषयं प्रकाशते ।।१।।
स्फटिकेन स्तम्भनं जाप्यं वश्ये च[२] रक्तचन्दनं ।
रिष्टिकयाभिचारुकं विद्वषें नैरंशुकैस्तथा ।।२।।
उच्चाटनं अश्वहड्डेनाकर्षणं ब्रह्मास्थिना ।
वर्षार्पणं गजास्थिकैः मारणं महिषस्य च ।।३।।
स्तम्भने क्षीरपानं तु वश्ये स्वच्छन्दमाचरेत् ।
मादणे सिह्लकं चैव आकृष्टौ च चतुःसमम् ।।४।।
विद्वषे न शालिजं प्रोक्तं उच्चाटने कस्तूरिका[३] ।
अथवा अन्तश्वं आदिश्वं नादिं गादिं हादिं तथैव च ।।५।।

जपपटलो नाम दशमः

१. ख. अथाह, २. क. वश्योव, ख. चश्येन, ग. जश्याञ्च, ३. क. ख. कस्तूरिका स्मृता ।

एकादशमः पटलः

सहजार्थ पटलो

गाढेनालिङ्ग्य हेवज्रं संपीड्याधरं दन्तिकैः ।
नैरात्म्या पृच्छते तत्र देहिनां कुलरूपकम् ।।१।।
भगे लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य इत्याह चक्रनायकः ।
देहिनां स्वकुलं वक्ष्ये प्रज्ञापारमिते[१] श्रृणु ।।२।।
अनामिकामूले यस्य स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ।
नवस्तुकंभवेद् वज्रं अक्षोभ्यकुलमुत्तमम् ।।३।।
वैरोचनस्य भवेच्चक्रंअमिताभस्य पंकजं ।
रत्नसंभवो महारत्नं खड्गं कर्मकुलस्य च ।।४।।
यो हि योगी भवेत् कृष्णे अक्षोभ्यस्तस्य देवता ।
यो हि योगी महागौरो वैरोचनः कुलदेवता ।।५।।
यो हि योगी महाश्यामो अमोघस्तस्य देवता ।
यो हि योगी महापिङ्गो रत्नेशः कुलदेवता ।।६।।
रक्तगौरो हि यो योगी अमिताभः कुलदेवता ।
श्वेतगौरो हि यो योगी तस्य सत्त्वकुलं भवेत् ।।७।।
जन्तवो नाभिमन्तव्या[२] न विहेठ्या[३] योगपारगैः ।
तथागतानां कुलास्ते स्युःरूपमाश्रित्य सांवृतम् ।।८।।
स्त्रीणां लक्षणं चैव[४] यथा पुंसि तथैव च ।
तासामपि कुलास्ते स्युः संवृत्याचाररूपतः ।।९।।
तत्र तुष्टो महावज्री भगलिङ्गस्य चुम्बनात् ।
नैरात्म्यां बोधयामास श्रृणु देवि प्रपूजनम् ।।१०।।
उद्याने विजने देशे आत्मागारान्तरेषु च ।
नग्नीकृत्य महामुद्रां पूजयेद् योगवित् सदा ।।११।।
चुम्बनालिङ्गनं कृत्वा भगस्पर्शन् तथैव च ।
वृषणं नरनाशायाः पानं अधरमधुस्य च ।।१२।।
मदनाङ्कुरैः कर्म बोलवान् कुरुते सदा ।
दोलाङ्कुर्परेणापि सुप्रसारितकैस्तथा ।।१३।।

---

१. क. प्रज्ञापारमिता, २. क. नाम मन्तव्या, ग. नावमन्तव्या, ३. क. ख. ग. वितरेठा, ४. ग. चापि.

मुहुर्मुहुः कामयेद् वज्री अध ऊर्ध्वं निरीक्षयेत् ।
प्राप्नोति विपुलां सिद्धिं सर्वबुद्धसमो भवेत् ।।१४।।
कर्पूरं पीयते तत्र मदनं चैव विशेषतः ।
बालस्य भक्षणन् तत्र कुर्यात् कर्पूरहेतुना ।।१५।।

सहजार्थपटलो नामैकादशः पटलः

द्वादशम पटलः

महातन्त्रराजमायाकल्पो

अथातो[१] वज्री चतुरो[२] ऽभिषेकान् कथयामास ।
महावज्रि महाघण्टां गृह्न वज्र[३] प्रतिष्ठितः ।।
वज्राचार्यस्य अद्यैव कुरु शिष्यस्य संग्रहम् ।।१।।
यथा बुद्धैरतीतैस्तु सिच्यन्ते बोधिपुत्रकाः ।
मया गुह्याभिषेकेण सिक्तोऽसि चित्तधारया ।।२।।
रतिदां सिद्धिदां[४] देवीं विश्वरूपां मनोरमाम् ।।
गृह्ण गृह्ण महासत्त्व गृहीत्वा पूजनं कुरु ।।३।।
इदं ज्ञानं महासूक्ष्मं वज्रमण्डं नभोपमं ।
विरजं[५] मोक्षदं शान्तं पिता ते त्वमसि स्वयम् ।।४।।

वज्रपद्माधिष्ठानमन्त्रः ।

ओं पद्म[६] सुखाधारा महारागसुखंददा ।
चतुरानन्दस्वभाग विश्व हूँ हूँ कार्यं कुरुष्व मे ।।५।।
ओं वज्र महाद्वेष चतुरानन्ददायक ।
खग मुखैकरसो नाथ हूँ हूँ कार्यं कुरुष्व मे ।
शिरसि ओं-कारं हृदि हूँ-कारं किञ्जल्के आ-कारम् ।।६।।

महातन्त्रराजमायाकल्पो द्वितीयः

इति श्री हेवज्रतन्त्रराजा समाप्तः

** ** **

---

१. क. ख. ग. अथाह. २. क. चतसो, ख. चतुलो, ग. चतस्रो. ३. क. ग. वज्नी. ख. यो. वज्र - ४. त. यो. स्थानदां. ५. क. ग. यो. विरजस्कं, ख. विरजं स्त्वमोक्षदं. ६. ग. परम-

:

प्रथमः कल्पः

१. वज्रगर्भसम्बोधिद्योतकः

भाग १

काण्हकृत

योगरत्नमाला (हेवज्रतन्त्रपञ्जिका)

प्रथमः पटलः

सर्वतथागतकाय-वाक् -चित्त हेवज्रकुलपटलः

नमो हेवज्राय

श्रीहेवज्रं नमस्कृत्य परमानन्दरूपिणं।
पूर्वाचार्यक्रमाम्नायो हेवज्रे लिख्यते मया।। १ ।।

एवं मयेत्यादि (१)

निदानवाक्यमेवेदं सूत्रे तन्त्रे प्रकाशितं।
इह तन्त्रस्य सारार्थमन्ये त्वाचक्षते ऽन्यथा।। २ ।।

तथा चोक्तं भगवता - **एवं मयेति** भिक्षवो मम धर्मः संगीतव्यः। इत्यत आह - एवं मया श्रुतमिति संगीतिकारः। तदत्र **केचित् श्रुतम्** इत्यनेन संगीतिं सूचयन्ति। अन्यथा श्रुतिपरम्परया श्रुते संगीतिर् अप्रामाणिकी स्यात्। इत्यनयो र्व्युदासार्थम् 'एवं मयेति'। **मयेति** मयैव श्रुतं, न परम्परया श्रुतम्। **एवमिति** यथा संगास्यामि **एकस्मिन् समय** इति - एकदा काले, न सर्वदा सर्वत्रेति यावत्। **भगवान्** इति **हेवज्रमूर्तिर्** वज्रधरः। भगा ऐश्वर्यादयो गुणा विद्यन्ते यस्य स भगवान्। तथा चोक्तम् -

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः ।
रूपस्यार्थप्रयत्नस्य षण्णां भगमिति श्रुतम्।। ३ ।।
इत्याह। विजहार इति - बुद्धविहारैर् विहृतवान् ।

क्व विजहार? **सर्वतथागतकायवाक्चित्तयोषिद्भगेषु** सर्वे च ते तथागताश्च सर्वतथागतास्तेषां कायवाक्चित्तं त्रिगुह्यसंहारः। तत पुनर् भगवतो वज्रधरस्य रूपं धर्मोदयाख्यं तदेव वज्रयोषितां लोचनादीनां भगाः। अनाश्रवानन्तधर्मधर्मताशरीरत्वात् तासां। अत एव सर्वतथागतकायवाक्चित्तानि च

तद्वज्रयोषिद्भगानि चेति विशेषणसमासः। तेष्विति तत्र कूटागारे गुह्यातिगुह्यतरे स्थाने भगवतो विहारमुपलभ्य एतद्रूपपर्षत्सन्निपातस्तु सामान्यादायास्यतीति। पूर्वतन्त्र एवोद्दिष्टो नेह प्रतन्यते। इति नेयार्थव्याख्या। **एवं मयेत्यादि।**

ए-कारं भगमित्युक्तं वं-कारं कुलिशं स्मृतं।
मयेति चालनं प्रोक्तं श्रुतं यदुत[१] द्विधा मतम्।। ४।।

तथा च वक्ष्यति

शुक्राकारो भवेद् भगवान् तत्सुखं कामिनी स्मृतं[२]।
धर्मसंभोगरूपत्वं वज्रधरस्य लक्षणम् ।। ५।।

तथा च - संवृतं कुन्दसंकाशं विवृतं सुखरूपिण[३]मित्यनेनादिवाक्येन शून्यताकरुणा-स्वभावं प्रज्ञोपाय-स्वभावं धर्मसंभोगकायस्वभावम्। संवृतिपरमार्थस्वभावमुत्पत्त्युत्पन्न-क्रमरूपं तन्त्रार्थं उद्देशयति।

तथा च वक्ष्यति-

हे-कारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं श्रृणु[४]।। ६।।

तदित्थं भूतमेकस्मिन् समय इत्यादि सुगमम्। इति संप्रदाय व्याख्यानमिति केचित् अथवायं अर्थः-

ए-कारः पृथवी ज्ञेया कर्ममुद्रा तु लोचना।
चतुःषष्टिदले नाभौ स्थिता निर्माणचक्रके ।। ६।।
वं-कारस्तु जलं ज्ञेयं धर्ममुद्रा तु मामकी।
संस्थिता धर्मचक्रे तु हृदि वाष्टदलाम्बुजे।। ७।।
म-कारं वह्निरुद्दिष्टं महामुद्रा च पाण्डरा।
स्थिता संभोगचक्रे तु कण्ठे द्वाष्टदलाम्बुजे।। ८।।
या-कारो मारुतः प्रोक्तो मुद्रासमय - तारिणी।
स्थिता महासुखचक्रे द्वात्रिंशद्दलपंकजे ।। ९।।
श्रुतं सहजमित्युक्तं द्विधा भेदेन भेदितं।
संवृतं देवताकारमुत्पत्तिक्रमपक्षतः।। १०।।

---

१. क. यत् तत्; त. श्रुतं यस्माद् द्विधा मतम्, २. हेवज्रतन्त्रे, १.८.५०. ३. हेवज्रतन्त्रे, २.४.३०; ४. हेवज्रतन्त्रे, १.१.७,

विवृतिसुखरूपन्तु निष्पन्नक्रमपक्षतः।
सत्यद्वयं समाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।। ११ ।।

तथा चान्यत्र

उत्पत्तिक्रमपक्षं च उत्पन्नक्रम एव च।
क्रमद्वयं उपादाय देशना वज्रधारिणाम्।। १२ ।।

इत्थं **एवं मया श्रुतम्। एकस्मिन् समय** इत्यादि। पूर्वोक्त व्याख्या। **तत्र** स्थित्वा पर्षन्मध्ये **भगवान् आह** - किं विशिष्टं तत् **सर्वतथागतकायवाक् चित्त - हृदयं सर्वं वज्रधरभट्टारकं** परमदैवतं अतएव सर्वतथागतानां गुह्यं वज्रधरः। **तस्यातिगुह्यतरं** श्रावकादीनां अप्रकाश्यत्वाद् हेवज्रम् । तस्य दुर्लभतराः श्रद्धातार इति मत्वा उत्कण्ठितान् पार्षद्यान् प्रोत्साह्यन् भगवान् आह - **अहो वज्रगर्भेत्यादि श्रृणु** इति श्रुते नियोजयति- **वज्रगर्भ उवाच**। किं उवाच? प्रश्न (र्) यार्थं उवाच।।(१)।। भगवान आह - **अभेद्यमित्यादि**। न भेद्यता इत्यभेद्यम्। परिवादिभिर् अजप्यम्। किं तत् शून्यता सर्वधर्माणां तथा चार्यदेवपादाः

विग्रहे यः परीहारं कृते शून्यतया वदेत्।
सर्वं तस्याप(री)हृतं समं साध्येन जायते।। १३ ।।

तथा चोक्तंभगवता वज्रशेखरे -

दृढं सारमसौ शीर्ष्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणं।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते।। १४ ।।

सत्त्वं त्रिभवस्यैकतेति

सतो भावः सत्त्वं अर्थक्रियाकारित्वं इदं प्रत्ययलक्षणम्। तथा चोक्तंभगवता-सत्त्वं सत्त्वं इति **विप्र (२)** यदुत पञ्चस्कन्धाः, ते च त्रयो भवाः, तानि कायवाक् चित्तानि, तेषां एकता ऽ द्वैधीभावाः प्रभा सर्वनिष्ठागमनात्। अनया प्रज्ञया युक्त् येति। अनेन प्रज्ञापारमितामाध्यमकविचारेण वज्रसत्त्व इत्येवं कथितो धर्मकायो। **महाज्ञानरसैः** इत्यादि (३) - महाज्ञानानि महायानप्रणीता धर्माः, तेषां रसनास्वादः, तैः पूर्णाः, एतदुक्तं भवति। परमोजज्वल-विचित्र-रत्नविरचित-कूटागारोदरे सुविशुद्धलणानुव्यञ्जन-विराजितेन देहेनानन्तयोगिनीगणैः संहरणस्फुरणरूपतया महासुखसंभोगरसैस्तुष्टः। यावद् आसंसारं [आ]संसरन् अश्रमद्[५] नित्यतया **नित्य (३)** इत्यर्थः। स एव **महासत्त्वो** बुद्धानां संभोगकायः। यथार्थ विनेयोपायैर् नानाकारैस्त्रिधातुगमनं **समयः** तत्र सत्त्वप्रवृत्तत्वात्समयसत्त्वः। बुद्धानां अनन्तप्रभोदो[६] निर्माणकायः समयसत्त्वशब्देना-

५. क. अश्रम्मद्, ६. त. अनन्तप्रभेदो,

भिधीयते। **वज्रगर्भ उवाचेति (४)**। कि उवाच? हेवज्रस्य वज्रधरत्वकारणं नाम्ना यत् सूचितम्। तदर्थमुवाच। **हेवज्रं** त्विति। हेवज्र इतीदृशं **नामकेन** कारणेन संग्रहीतं प्रज्ञोपायात्मकं इत्यादि। **तन्त्रम्** इति प्रबन्धः तच्च त्रिधा - हेतुतन्त्रं, फलतन्त्रं, उपायतन्त्रञ्च।[७] तदत्र हेतु वज्रकुलीनाः सत्त्वाः परिणिष्पन्ना हेवज्रमूर्तिः फलम्। **उपायो** वक्ष्यमाणाः सपरिकरो मार्गः तन्मे वज्रधरस्य **निगदितं** एवं मयेत्यादिना। निदानवाक्येन सांप्रतं निर्दिश्यमानं "श्रृणु" इति श्रुते नियोजयति। तत् किं उद्दिष्टमात्रञ्चेत्याह। **दृष्ट्याकृष्टीत्यादि (६)** - यथान्यायं देवतापटलोक्तेन मृदुमध्याधि-मात्रक्रमेण उत्पत्तिः वर्णसंस्थानादिः। **स्थितिराधारः कारणं** चन्द्रसूर्यबीजचिह्नानि **सामर्थ्यं** जपभावनोत्कर्षजः प्रभावः **ज्ञानं** ज्यौतिषिकादि - **विज्ञानं** आचार्यपरिकर्म च देवतानां हेवज्रादीनां **यथोदयं** यथायोग्यं उत्पत्तिः। **प्रथमं** इत्यादि (७) । कस्मात् **प्रथमम्?** इह गुह्यमन्त्रमहायाने[८] आदिकर्मिकाणां सत्त्वानां प्रथमं अवताराय देवतामूर्तिभावेनैव कथ्यते। यदाह

आदिकर्मिकसत्त्वानां देवतामूर्तिभावना।
निर्दिष्टा प्रथमं तन्त्रे सर्वकर्मप्रसिद्ध्ये ।। १५।।

द्वितीयनिष्पन्नक्रमवक्ष्यमाणसूचनापेक्षयैकं **कारणं** महोपायः। **भावेनैवेत्यादि** (८) - भवत्युत्पद्यते गतेर् गत्यन्तरमिति भावः पञ्चस्कन्धलक्षणं शरीरं तेनैव **मुच्यन्ते**। वज्रगर्भ महाकृपेति संबोध्यति निरुपधिशेषनिर्वाणधातौ स्कन्धाभावलक्षणं मोक्षं केचिद् वर्णयन्ते। तं असंख्याह। यदि भावेनैव मोक्षः केन तर्हि बन्धः। **तदाह- बध्यन्ते भावबन्धेनेति (९)** तस्मिन् भावे बन्धो ग्रहो वस्त्वभिनिवेशः सत्यताभिमानाः तेनेत्यर्थः। कथं तर्हि मुच्यन्ते **तत्परिज्ञायेति।** तस्य परिज्ञा-परिज्ञावक्ष्यमाण-लक्षणस्तत्त्व-पटलोक्त-विचारः। स्वरूपेण नास्ति रूपं न दृष्टेत्यादिकम्।[९] पञ्चस्कन्धानुत्पादलक्षणतया परिज्ञया मुच्यन्ते। अतः कारणात्। **भाव्यं भाव्यं भवेत्।** प्रज्ञेति संबोधयति चन्द्रसूर्यबीजचिन्हपरिनामजं देवतारूपं सामान्येन भाव्यं भवेत् युज्यत इत्यर्थः। **अभावञ्चेतिअभावः** पुनरवश्यं परिज्ञातव्यः न भवतीत्यभावो अनुत्पादः। तथा चोक्तं भगवता **लंकावतारे-**

भावानभावानिति[१०] **यः प्रजानते**
स सर्वभावेषु न जातु सज्जते।
यः सर्वभावेषु न जातु सज्जते
सोऽ निमित्तं स्पृशते समाधिमिति ।। १६।।
तद्वद् हेरुकं भाव्यम् तथैवोक्तलक्षणम्।

---

७. क. चे, ८. क. इह हिमन्तमहायाने, त. महायानतन्त्रे, ९. हेवज्रतन्त्र, १.५.१, १०. क. भावेनाभावावानिति,

अभावञ्चेति। तस्याप्यभावः परिज्ञातव्यः द्वितीयक्रमं सूचयन् आह। **देहस्थमित्यादि** । देहे तिष्ठन्तीति **देहस्थम्।** महच्च ज्ञानं चेति महाज्ञानम्। यदि देहे तिष्ठति कथं तन् महाज्ञानम्? आह-**व्यापकं**[११] **सर्ववस्तूनां** अनास्रवमहासुखसहजलक्षणधर्मतया अभिनिर्वृत्तेः सर्वधर्माणाम्। अत एव. **देहस्थो पि न देहजः**। न देहस्तस्य कारणम्। मृषामोषधर्मिकत्वात् देहस्य। तथा च वक्ष्यति तस्मात्।

गन्ध न रूप न शब्दं नैव रसं न च चित्तविशुद्धिः।

स्पर्श न धर्म न सर्वविशुद्ध्या शुद्धसहाव जगौ जगु मन्ये[१२] ।।१७।।

तदत्रादिवाक्ये श्रुतशब्दसूचितोत्पत्युत्पन्नक्रमद्वयं निर्दिश्य निष्पन्नक्रमाख्यस्य हेवज्रस्य देह एवाधारमण्डलमाधेयम्। पञ्चदशयोगिनीस्वभावा नाड्यः। इदं तु न ज्ञायते कतिताः, कथं व्यवस्थिताः कीदृशश्चाभिसमय? इति पृच्छति। **हे भगवान्** इत्यादि-बोधिचित्तावहा इति सहजवाहिन्यः। **त्रीणि नाड्यः** प्रधाना इति। अयं अभिप्रायः। नाडीत्रययोगपरिज्ञानमात्रेणैव पर्याप्तं तत्रैव सहजलक्षणस्य हेवज्रस्यातिशयेनोपलक्षणात्। तासां तिसृणां स्वभावं आह। **ललनेत्यादि (११)** - सुगमं भगवान् इत्यादि पृच्छति। अयं अभिप्रायः। किं नाडीरूपेणैव भाव्यमाना एताः। श्रीवज्रधरपदं संपादयन्ति। आहोश्विद् **अन्यथेति** तत्राह। **त्रिभवपरिणता**[१३] इति (१६) त्रयो भवाः सर्वधर्माः। तेषां कायवाक् चित्तसंग्रहीतत्वात्। तत्परिणतास्तत्स्वभावाः। अत एव **ग्राह्यग्राहकवर्जिताः** । **अथवेति** पक्षान्तरम्। **सर्वोपायेनेति।** सर्वा एता वज्रधरपदप्राप्त्युपायत्वेन हेतुना नाडीस्वभावत्वेनास्मिन् चक्रे एवं रूपा ललना एवं रसना एवं अवधूती शिष्याणां अनुग्रहार्थं भावलक्षणेन कल्पिताः। **संवरभेद** इत्यादि (१६) बाह्यानां औदारिकाणां अध्यात्मगतं यो योगी निश्चिनुयात् तत् तेषां **संवरं** संवृतत्वात्। संक्षेपवरत्वात् तस्य **भेद्यो** अनेकप्रकारः। **आली कालीः** इत्यादि। **आ**-कारादिषोडशस्वरा आलिः। **क**-कारादिचतुस्त्रिंशद्व्यञ्जनानि कालिः। त एव ललनारसने चन्द्रसूर्यौ प्रज्ञोपायौ धर्मसंभोगनिर्वाण इति। धर्मचक्रं संभोगचक्रं निर्माणचक्रं। हृत्कण्डयोनिषु यथाक्रमम्। **काय-वाक- चित्त** इति। तदेव चक्रत्रयम्। कायचक्रं योनौ। वाक्चक्रं कण्ठे, चित्त च चक्रं हृदि। त्रयाणां परिज्ञानस्वभावं महासुखचक्रम्। मूर्ध्वनि विज्ञातव्यम्। एष एव चक्रचतुष्टयेषु पृथव्यप्तेजोवायुधातुस्वभावस्चतस्रो मुद्रा **एवं मया** ख्याः ।(१७)। इदानीं निर्माणादिचक्रेषु पद्मदलानां संख्याकथनं। **निर्माणचक्रेत्यादि।** चतुषष्टिदल-पद्ममध्याषृदलेषु। वामावर्तेन **अ क च ट त प य शः**। वरटके **अँ**-कारम्। हृदि अधोमुखाष्टदलपद्मं। कोणदलेषु चतुर्षु - **य र ल वाः**। दिग्दलेषु **आ ई ऊ ए** चत्वारः। वरटके **हूँ**-कारं अधोमुखम्। कण्ठे षोडशदलं

---

११. फ. व्यापक, १२. हेवज्रतन्त्र, १.९.२०, १३. फ. त्रिभावपरिणताः,

कमलं [ऊर्ध्वं] ऊर्ध्वमुखं मध्यस्थितदिग्दलेषु चतुर्षु वामावर्तेन **अ इ उ ए** वरटके ओंकारम्। मूर्धनि द्वात्रिंशद्दलकमलं वरटके अधोमुखं हँकारम्। एषु चक्रेषु चतुर्षु वक्ष्यमाणकायधर्मा। उत्पत्तिक्रमे अधिमोक्तव्याः। संक्षेपवरत्वेन **चत्वारः क्षणा** निर्माणादिचक्रेषु अधिमोक्तव्याः। एवं **चतुरार्यसत्यानि** अधिमोक्तव्यानि चक्रभावनापरिणिष्पत्तौ चतुरार्यसत्यभावनापरिणिष्पत्तिः स्यादिति कृत्वा **चत्वारो निकायाः**[१४] चतुष्चक्रभावनया सर्वधर्मसंग्रहात्। उत्पत्तिक्रमे एका व्याख्या। **संवरभेद** इत्यादि। संवरः सेकस्तस्य भेदः स च वक्ष्यमाणः। तथा च वक्ष्यति -

सेकं चतुर्विधं ख्यातं सत्वानां हितहेतवे।

सिच्यते स्नाप्यते त एते चत्वारः सेकाः प्रभेदतः ।।१८।।

(८ +८ + ८ + ४ + ४ + १६ + ४ = ३२)

तथा च वक्ष्यति

आचार्य गुह्य प्रज्ञा च चतुर्थं तत्पुनस्तथा[१५] ।।

इत्यादिना। इह हि **योगिनीतन्त्रे** अरद्दूरं पापकेभ्यो धर्मेभ्यश्चरतीत्य आचार्यः। तदेव तस्य संवृतम्। आचार्याभिषेकस्वभावं यत् कर्ममुद्रया चतुःक्षणचतुरानन्दस्वरूपं प्रतिपादनं नाम-क्रियातन्त्रादि साधारणा वैवर्तिकाभिषेकलाभमात्रेणा-भिषिक्त इत्युच्यते। तस्य च सर्वत्र **योगयोगिनीतन्त्रादौ** व्याख्याने श्रवणे भव्यता स्यादिति यत् किञ्चिदेतत्। प्रथमं तावत् **हेवज्रादौ** योगिनीतन्त्र श्रुतिचिन्ता भावनाभव्यताकर्णार्थं आचार्याभिषेकेणाभिषिच्यते। तत् पुनर्‌यथाभिसमयं आचार्य गुह्य प्रज्ञा चतुर्थ-क्षणोपलक्षितं विदितम्। एतदाचार्याभिषेकलब्धमृद्विन्द्रियाणां अधिमोक्षं अवधार्य कर्ममुद्रया भावनोपदेशः क्रियते। एवं निष्पन्नक्रमपक्षे ऽपि गुह्यस्थितमणिना यद् गुरूपदेशतः क्षणचतुष्टयात्मकानन्दचतुष्टयस्य वेदनं तद्गुह्याभिषेक इत्युच्यते। प्रपञ्चभावनाभि योगिनां अप्रकाश्यत्वात्। अत्राभिषेकः मध्येन्द्रियाणां समयमुद्रा-भावनोपदेशः कथ्यते। तथैव प्रज्ञा - प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञा - सर्वधर्मो स्वचित्तमात्रता ज्ञानं तत्प्रतिपादनार्थं अभिषेकः प्रज्ञाज्ञानाभिषेकः। तत् पुनः कल्पितपरतन्त्रपरिनिष्पन्न-विज्ञानत्रय-स्वभावनाडीत्रयसमाजरूपं तन्मणिना[१६] यद्गुरूपदेशतः क्षणानां उपलक्षणम्। बाह्यमुद्रया तत् प्रज्ञाज्ञानं वेदितव्यम्। तस्मिन् अभिषेके ऽभिषिक्ते ऽधिमात्रेन्द्रियाणां मायोपमसमाधिर्‌ धर्ममुद्रोपदेशः कथ्यते। तथैव चतुर्थं तत् पुनस्तथेति तथता - भूतकोटिः - धर्मधातुरित्यनर्थान्तरं तत्स्वभावं येनाभिषेकेन पश्यति प्रतिपाद्यते वा तथात्वं तथा शब्दवाच्यं पुनरिति प्रज्ञाज्ञानानन्तरं

---

१४. त. चत्वारो निकायाः इत्येते ऽपि तेषु एवाधिमोक्तव्याः। १५. हेवज्रतन्त्रे, २.३.१०, १६. त. हृदयमणौ,

पुनर् दद्याद् इत्यर्थः। तत् पुनर् बाह्यमुद्रया यद् गुरूपदेशतः प्रतिनियत-देशापरिच्छेदलक्षणसम्पदं[१७] अनालम्बनयोगेनालम्बनी-करोति तच्चतुर्थाभिषेक इत्युच्यते न पुनर् गुरूपदेश-कथनमात्राच्चतुर्थाभिषेक इति स्यात्। अन्यथा सिच्यते स्नाप्यते इत्यादिना भगवतः षेकेऽप्यत्र मलक्षालनं अभिप्रेतं। तत् कथं उपदेशमात्रेण भवेत् तत्त्वस्य चतुर्थात्मकस्य कथनात् कथन् न भवेदिति चेत्। सत्यमुक्तम्, परन्तु वाग्गोचरातीतत्वात् तत्त्वस्य कथितुं न पार्यते नापि श्रोता प्रतिपद्यते। तथा चोक्तम् -

वक्तुरन्तः स्फुरत् तत्त्वं श्रोता साक्षान् न पश्यति।
किन्तु शब्दादुदेत्यस्य विकल्पप्रतिबिम्बकम्।। १९।।
स्वविकल्पशतैस्तस्य तैः कल्पयन् तत्त्वभावनां।
विकल्पाकुलसन्तानः कस्तत्त्वमवभोत्सयत, इति।। २०।।

ननु यदि सेक एव तत्त्वस्य साक्षात् प्रतीतिः सकलमलापकर्षणीभवेत्। कथं तत् क्षणादेव महामुद्रासिद्धि र्न स्यात्। स्याद् एवाधिमात्रेन्द्रियाणां उत्तप्तवीर्याणां किं केनाप्यकामकेन न दृष्टं एतावतैव न स्यात्। तथा चोक्तं **समयवज्रपादैः**

यस्तु वज्रनयोपाय विचित्राक्रान्तमानसः।
स्फुटीकृतस्वसंवेद्य - धर्मकायमहासुखः।। २१।।
अथ सामर्थ्यसंप्राप्तो वज्रतृतयनिर्वृतः।
स्वतन्त्रपूततत्त्वज्ञः सुलभोपायसंपदः।। २२।।
साक्षान्नैरात्म्य संवित्ति-समुच्छिन्नभवभ्रमः।[१८]
तस्य वज्रधरस्येह सिद्धिः करतले स्थितेत्यादि।। २३।।

तस्मादुत् किञ्चिदेतत्। अतस्तस्मिन्श्चतुर्थाभिषेकसमय एवाधिमात्रतर-सत्त्वानां महामुद्रासिद्धिर् भवति। तदन्येषां पुनर् महामुद्रोपदेशः क्रियत इति स्थितम्। **चतुरार्यसत्येत्यादि**। चतुर्ष्वभिषेकेषु यथाक्रमं दुःखस्य परिज्ञानं। समुदयस्य प्रहाणं निरोधसाक्षात्क्रिया मार्गभावनाविशुद्धिश्चेति तथैव **चत्वार**-स्तत्त्वाः। **आत्मतत्त्वम्।**

पञ्चस्कन्धाः समासेन पञ्चबुद्धाः प्रकीर्तिताः।
वज्रायतनान्येव वज्रडाकिनीमण्डलम्।। २४।।

देवतानां हेवज्रादीनां स्वभावस्तत्त्वं तदुक्तम् **डाकिनीवज्रपञ्जरे**

---

१७. त. लक्षणक्षणसम्पदम्। १८. सुभाषितसंग्रहे (सं. धर्मानन्द कौशाम्बी) उपलब्धानि इमानि त्रिणि पंक्तीनि (मेनन)

जिम जल सज्झेचान्द्रमहि नै सो साच्च न मिच्छ।
तिम सो मण्डलचाक्कता तणु सहावे सच्च।। २५।।

मन्त्र एव तत्त्वं। मननात् त्राणनाच्च **मन्त्रः**। शून्यता करुणाद्वयस्वभावं बोधिचित्तं। उपचारभेदाभिद्योतको अकारादिः। ज्ञानमेव तत्त्वं निःप्रपञ्चं अनुत्तरमहासुखज्ञानञ्चेति तथैवानन्दानां क्रमाद् भेदनं वेदितव्यं। एतदुक्तं भवति। चत्वारः क्षणाः चतुःषेकप्रभेदतः प्रतिस्वं चतुः - चतुरिति कृत्वा भिद्यन्ते, तदेषां सेकत्रयेषु सर्वा व्यवस्था कर्तुं शक्यत एव। चतुर्थाभिषेककथनसमये सर्वधर्माणां अनालम्बनयोगान् न शक्यत इति मन्यन्ते। **निकायमित ादि** । निकायो भिक्षुसंघः। तद् वक्षति द्वितीयकल्पे चतुर्थपटले स्थावरी निर्माणचक्रेत्यादिना[१९]। इदानीञ्चित्तस्थिरीकरणार्थं सर्वावरणक्षयार्थञ्च सूक्ष्मयोगं दर्शयति। **आली कालीत्यादि** - आलीर् वामनासापुटप्रभवो वायुः। तदपरः कालिः। ते एव प्रवेशस्थितिव्युत्थानक्रमेण - ओं आः हूँ काररूपेणाधिमुच्य पश्यतो योगिनः। चेतसः स्थर्यलाभात् समाधयः सुखतरं आशुतरं चोत्पद्यन्ते तत्र चाहोरात्रेण वयोः संक्रमणे षोडशसंक्रान्तयः उत्पद्यन्ते - एवं सर्वे चत्वार इति भिन्नयोगः कर्तव्यः। महासांघी चेत्यस्यानन्तरं दृष्टव्यम्। **चण्डालीत्यादि** - चण्डा प्रज्ञा क्लेशोपक्लेशनिष्क्रन्तने चण्डस्वभावत्वात्। अलीर् वज्रसत्त्वः चण्डालि शब्दनोच्यते। **ज्वलिता नाभाविति** विश्वदलकमलवरटके महारागानलेन ज्वलिता सती किं करोतीत्याह। दहति पञ्चतथागतान् पञ्चस्कन्धान् दहतीत्यभावं करोतीत्यर्थः लोचनादीन् इति पृथिव्यादीन् दग्धे सति **उठ्ठ भराडो करुणमन्ड इत्यादि**-चोदनागीतिकानन्तरम्।[२०]

<u>**श्रवते**</u> **शशीति। <u>हूँ</u>**-कारस्वभावः शशी। वज्रसत्त्वः श्रवते प्रश्रवति - हेवज्रात्मकं शरीरं जगदर्शकारणाय लभते। इत्युत्पत्तिक्रमव्याख्या। **चण्डालीत्यादि,** चण्डा प्रज्ञा अं-कारः। आलिर् वज्रसत्त्वो हूँ-कारः, अं-कार-हूँ-कारौ चण्डाली तौ द्वौ एकरसीभूय बिन्दुरूपेण वज्रमणिशिखरशुषिरे नाभौ महासुखमयरागानलेन **ज्वलिता दहति पञ्चतथागतान्** पञ्चस्कन्धान् लोचनादीन् पृथव्यादीन् दग्धे सति <u>**हँ श्रवते**</u> महासुखचक्रात् - **शशी** बोधिचित्तम्।

अक्षरार्थव्याख्या

चण्डा धर्मोदया रक्ता आलिश्चाद्यक्षरः स्मृतः।
ज्वलन्तं तं समाकुच्य वायुनाभ्राम्य यत्नतः।। २६।।

१९. हेवज्रतन्त्र, २.४.५९, २०. हेवज्रतन्त्र, २.५.२०.

ज्ञानानि चक्षुरादीनि पञ्चबुद्धास् समासतः।

पञ्चभूतान् यथात्मानं दग्ध्वा सत्त्वार्थकृच्छशी।। २७।।

सम्प्रदायव्याख्या

चण्डा प्रज्ञा वामनाडी आलि-रूपा उपायो दक्षिणनाडी।

ते द्वे गुरूपदेशतः संयोगं गते चण्डालीत्युच्यते।। २८।।

ज्वलिता नाभौ इति नाभिशब्दो मध्यवाची तयोर् मध्ये अवधूत्यां दहतीति। महारागाग्निना पञ्चस्कन्धान् **लोचनादीनीति** पृथिव्यादीनि, दग्धे हँ इति। अहं-कार ममकारौ दग्ध्वा-श्रवते महासुखज्ञानं उत्पद्यते तद् वक्ष्यति

नान्येन कथ्यते सहजं न कस्मिनयि लभ्यते।

आत्मना ज्ञायते पुष्पाद् गुरुपर्वोपसेवया[२१] **।। २९।।**

सम्प्रदायव्याख्या - **चण्डा** प्रज्ञा - उत्पत्त्युत्पन्नक्रमसमाधीनां विचारः। आलिर् महाकरुणामयचित्तम्। अतः शून्यता करुणे चण्डाली शब्देनोच्यते - नाभौ तयोर् मध्ये महामुद्रायां प्रभास्वरमयलक्षणायां तत्र **ज्वलिता चण्डाली** निरुत्तरप्रज्ञा किं करोतीत्याह। **पञ्चतथागतान्** - अक्षोभ्यादिमण्डलेशमण्डलेयान् **लोचनादींश्च** दहति भस्मशादपि न विजह्यात्। पश्चाद् **दग्धे हँ** इति। अहंकारमम-कारास्पदान्यतमाभावे चित्तमात्रम् अहंकारममकारास्पदान्यतमाभावे[२२] चित्तमात्रं अहं दग्ध्वा किं करोतीत्याह। **श्रवते शशी** - तस्मात् प्रभास्वरमयसमाधे र्व्युत्तिष्ठते - शशी **वज्रधरः**।

अनागतमतीतञ्च वर्तमानं जगत्त्रयं।

तत्क्षणान् निस्वलं पश्येत् प्रभास्वरविशुद्धितः।। ३०।।

वज्रकुलपटल इति - वज्रशब्देनात्र हेवज्रः तस्यकुलं शरीरं - अथवा तस्योत्पत्तिः कुलं तदभिद्योतकः पटलो वज्रकुलपटलः।

इति योगरत्नमालायां कृष्णाचार्यपादकृतौ हेवज्रपञ्जिकायां

प्रथमः पटलः।

२१. हेवजतन्त्र, १.८.३६; २२. त. अहंकारममकार-स्फुटान्यतमाभावे.

मन्त्रपटलो द्वितीय :

सामर्थ्यं बहुविधं मतम् ।

स्तम्भनोच्छाटनं चैव सैन्यस्तम्भाभिचारिकम्।।[1]

इत्युक्तं द्वितीयपटलमधिकृत्याह। **मन्त्रपटलमिति** (१) परमार्थमनन्तात् जगत्-त्राणनाच्च मन्त्रः पारमार्थिकबोधिचित्तं मन्त्रः मन्त्रनिष्यन्दत्वात् ओं-कारादिस्तथोक्तः। तत् द्योतकपटलस्तथोक्तः। इन्द्रादयः सपरिवाराः सर्वभूताः ते देवता ऽ स्येति[2] **सार्वभौतिकाः** बलिः पूजोपहारः तदर्थं मन्त्रस्तथोक्तः । **सर्वेत्यादि** - हेवज्राणां जाप्यमन्त्रपदाः ओं-कारादि **हूँ हूँ फट्** - कारविदर्भिताः स्वाहान्ता वेदितव्याः। अन्यत्र गुरूपदेशाद् यथायोग्यं विदर्भणं वेदितव्यम्। **आः फु - कारं** इत्यादि नागाधिष्ठितहृदात् कृष्णमृत्तिकां आनीयानन्तनागाकृतिं चतुरंगुलप्रमाणं **कृत्वा** सप्तफणार्थितां पञ्चामृतेनेति। दधि, दुग्ध, घृत, गोमूर्त गोमयैः। **कृष्ण-गोक्षीरेणेति-** शरावं वेष्टयित्वा सम्पुटं स्थापयेत्। **पुष्करिणीमध्ये** अध्यात्म इति सदर्पक्रूरचेतसा **अर्जकस्येव** मञ्जरी पत्राशस्येव परसैन्येत्यादि। **पञ्चामृते-**नेत्याध्यात्मिकेन। **ब्राह्मबीजमिति** पलाशबीजम्। **विकालवेलामिति** अष्टम्यां चतुर्दश्यां व वज्रागौरीत्यादि अयं मन्त्रयोगः ऑ-कार निष्पन्नं शुक्रां शवारूढां **कर्तृकपालखट्वाङ्गधरां** वज्रीं विभाव्य ओं हूँ स्वाहेति पूर्वसेवार्थं लक्षं जपेत्। पश्चात् अपक्वशरावे ममकारं खटिकयाभिलिख्य तन्मध्ये **ओं हूँ देवदत्तं स्तंभय हूँ स्वाहेति** श्मशानभस्मना पूरयित्वा अपरापक्व-शरावेन संपुटीकृत्य तदुपरि माहेन्द्रमण्डलं वगलं दिग्वज्रै रुपशोभितं विलिख्य भूमितले संस्थाप्य पादेनाक्रम्य पूर्ववत् समाधिस्थान-मन्त्रं जपेत् - **आँ हूँ वज्रे[3] देवदत्तं स्तम्भय हूँ स्वाहेति** अष्टोत्तरशतं सहस्रं वा जपेत्। स्तम्भितो भवति एवं **इं** - काराक्षरनिष्पन्नां कुङ्कुमारूणां गौरीं विभाव्य पाशाङ्कुशधरा **अं**-कारं बन्धुकभं (स्वं आरुणं) स्वहृदि ध्यात्वा[4] **आँ अँ स्वाहा** इति पूर्वसेवार्थ लक्षं जपेत् , साध्यां रक्तवर्णां नग्नां मुक्तकेशां अग्रतो ध्यात्वा तस्य भगे **अँ**-कारंअग्निवर्णं ध्यात्वा, अथवा पुरुषस्य हृदये अँ- कारवह्निना प्रताप्यमानं विह्वलं ध्यात्वा **ओं अँ गौरी अमुकी मे वशं आनय अँ स्वाहा,** पाशेन गलके बध्वा, अंकुशेन हृदि विद्ध्वा समाकृष्य पादतले निपतितां ध्यात्वा जपं कुर्यात् नियतं वश्या भवति तथैव इ-कारनिष्पन्नानं **वारियोगिनीं** नीलवर्णां मुकुरतर्जनी - हस्तां ध्यात्वा हृत्सूर्ये नील खं-कारं दृष्ट्वा पूर्वसेवार्थं लक्षं जपेत्। आँ खँ स्वाहेति साध्यन् नग्नं मुक्तकेशं नीलवर्णं दंष्ट्रारूढं ध्यात्वा दक्षिणाभिमुखं क्रूरैः लगुडहस्तै र्निहन्यमानं

---

१. हेवज्रतन्त्र, १.१.८. २. त. ता देवता आसामिति. ३. त. वज्र। ४. पा. बन्धूकभावे आरूढं स्वहृदि ध्यात्वा;

पलायमानं ध्यात्वा मन्त्रं आवर्तयेत। **आँ खँ वारियोगिनी, अमुकं उच्चाटय खँ हुँ हुँ हुँ फट्** सप्तरात्रेण नियतं उच्चाटयति[५]। तथैव **वज्रयोगिनीयोगं** उ-कारेण ध्यात्वा हृत्सूर्ये ज्रीं - कारं नीलवर्णं ध्यात्वा **ओं ज्रीं स्वाहा** इति लक्षं जप्येत पूर्वसेवार्थं साध्यौ ऽ स्वमहिषा-रूढौ ध्यात्वा अन्योन्यं बध्यमानौ जपं कुर्यात् तथैव **आँ ज्रीं वज्रडाकिनी देवदत्त यज्ञदत्तयो**[६] विद्वेषं कुरु **ज्रीं हूँ हूँ हूँ फट्** नियतं विद्वेषयति। तथैव अँ-कार-निष्पन्ना नैरात्म्यां विकृतरूपां कपाटखट्वांग-कर्तृधरां विचिन्त्य हृत्सूर्ये नील-बुंकारं दृष्ट्वा पूर्वसेवां कृत्वा ब्रह्मकपाले विषराजिकारवणरुधिरेण[७] षट्कोणं चक्र-मभिलिख्य कोनेषु हूँकारं विलिख्य मध्ये **आँ बुँ अमुकं ज्वरय हुँ,** अन्यतमोपद्रव्येषु नागविदर्भ्य तुषाग्नौ तौ ताप्येत्। सर्वं कुर्यात् क्रूरकर्मणि मन्त्रशेषे सर्वत्र **हूँ हूँ हूँ फट्** कुर्यात्। तथैव स्वबीजेन परिनिष्पन्नां स्ववारूढां[८] खेचरीं विभाव्य पूर्वसेवां कृत्वा वायवग्निमण्डलोपरि साध्यां विह्वलं ध्यात्वा हृद्बीजाद् रक्तवर्णरश्मिज्वालां निश्चार्य साध्याया दक्षिणनाशापुटेन प्रवेश्य हृदयं विद्ध्वा वामनाशापुटेन निष्काश्य हृद्बीजे आनाय श्वासवायुना आकर्षयन् मन्त्रं जपेत्, नियतं आकर्षयति। तथैव स्वबीजनिर्यातभूचरी योगं नीलनिभम् ध्यात्वा पूर्वसेवां कृत्वा **घुः** काराक्षर निष्पन्नं ज्वलद्वज्रं साध्यस्याधोमुखं कटिदेशे निखन्यमानं ध्यात्वा मन्त्रं जपेत्। **आँ घुः भूचरि अमुकं मारय हूँ हूँ फट्** नियतं मारयति।

इति योगरत्नमालायां कृष्णाचार्यपादकृतौ हेवज्रपञ्जिकायां

मन्त्रपटलो द्वितीयः।

देवतापटलो तृतीय :

देवतापटलमिति - देवतानां हेवज्राणां वज्रयोगिनीनां पटलं हेवज्रादीनां उत्पत्तियोगान् यथोक्तविस्तीर्णान् इहैव विशेषेणाख्यास्यामः। **प्रथमम्** (१) इत्यादि करुणाद्यपेक्षया प्रथममित्युच्यते। सर्वप्रथमन्तु मनोरमे स्थाने स्थित्वा सुखासने निपद्य स्थानात्मयोगरक्षार्थं **ओं रक्ष रक्ष हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहेति** त्रिरुच्चार्य पटादिगतमूर्तिं भगवन्तं अभ्यर्च्य स्वमन्त्रेणार्धं परिजप्य पापदेशनापुण्यामोद त्रिशरणं कृत्वा बोधिचित्त-मुपस्थाप्य ततः **प्रथमं भावेन मैत्रीं** सर्वसत्त्वेषु निरुत्तरसुखोपनयाकारां **द्वितीये क्षणे** तेष्वेव **सर्व दुःखापनयनाकारां करुणां तृतीये तेष्वेव** दिव्यसुखा विच्छेदनियमाकारां **मुदितां उपेक्षां सर्वशेषतः**। तेष्वेव सकलक्लेशोपक्लेश-

५. पा. उच्चाछ्यति; ६. त. देवदत्त यजिकद्दतयो; ७. पा. राजिकार्नवणरुधिरेण; ८. त. पुष्पारूढां.

प्रतिपक्ष - मार्गोपसंहाराकारां भावयेदिति वर्तते। अयमाद्यस्य योगस्य परिकरः सकलयोगसाधारणमायोपमस्य शरीरमाह[१]। ततपुनरपीति। ततो ऽपि पश्चाद् भावयेदिति वर्तते। किं **तच्छून्यता-बोधिमित्याह(२)।** सर्वभगवान् मनसावलभ्य चित्तमात्रं एवेदं असति बाह्ये विषयाकारं भ्रान्त्या प्रतिभासते। तद्यथा स्वप्न इति। तदपि प्रतिभासस्वरूपं चित्तं एकानेकस्वभावरहितं। निराभासं प्रभास्वरमयं पश्येत् **द्वितीयबीजसंग्रहमिति** । तस्मिन्नेव प्रभास्वरे यथायोगं सूर्यादिमण्डलोपरि किरणमालिदेवताबीजं दृष्ट्वा तस्माद् बीजाद् योगिनीकुलानन्तनिर्माणेन जगदर्थं कृत्वा तस्मिन्नेव बीजे समुपसंहारो बीजसंग्रहस्तं भावयेत्। **तृतीये बिम्बनिष्पत्तिमिति।** तेन बीजेन देवतादेहस्य विश्वदल - कमलकर्णिकारस्थित - सूर्यादिमण्डलोपरि शवारूढस्यार्धपर्यङ्कताण्डवकारिणो निष्पत्ति बिम्बनिष्पत्तिः । तां भावयेत्। **चतुर्थं न्यासं अक्षरमिति।** ततः स्वहृदि मण्डलस्थं बीजाक्षरं विभाव्येत् । इति मृदुयोगसमाधिः । इदानीं द्वितीययोगसमाधिं अधिकृत्याह। **रेफेनेत्यादि (३)।** अत्रापि शून्यताबोधिपर्यन्तं परिकरः। पूर्ववत् दृष्टव्यः। तदधिकं रेफेनेत्यादिना गाथाद्वयेन रक्षार्थमाह। रेफेनाग्निवर्णेन सूर्यमण्डलं दृष्ट्वा तदुपरि नील - **हूँ - भवविश्ववज्रम्।** ताभ्यां तिर्यग्[२] वज्रप्राकारम्। उपरिष्टाद् वज्रपञ्जरम्। अधो वज्रमयीं (भूमिम्) बहिर् वज्राग्निज्वालां भावयेदिति श्लोकार्थ। ततस्तं मन्त्रेणाधिष्ठेपेत्। आँ रक्ष रक्ष हूँ हूँ हूँ फट् स्वाहा। **प्रथममिति (४)** योगस्य शरीरात प्रथममित्यर्थः। वज्रप्राकारमन्तर्[३] विश्वदलकमलसूर्यादिमण्डलोपरि **मृतकंभावयेत्।** कस्मादसौ देवतानां आसन्नमाह। **धर्मधात्वात्मकं विदुरिति।** मृतको हि निरात्मकः नैरात्म्यञ्च धर्मधातुः धर्मधातुनिष्ठाश्च डाकडाकिन्यः। **योगी** भावकः। **तस्योपरि स्थितमात्मानमधि-मुच्य** हेरुकत्वं आत्मनः प्रसाधयेत्। मध्ययोगस्य परिकरः। **स्वहृदीत्यादि (५)। द्वेषात्मानं विभावयेदिति।** हेरुकरूपं आत्मानं भावयेदित्यर्थः । अत्र तन्त्रे नायकं हेवज्रमधिकृत्य सर्वासां देवतानां योगं प्रस्तूयते। अन्यासां स्वचिह्नबीजपरिणामेन यथायोगं बोद्धव्यम्। **नीलपंकज इति।** नीलोत्पलनिभं **श्रद्धयेति।** आत्मनः प्रतिभासेन वर्णानां यादृशं रोचते तादृशं भावयेत्। तृतीययोगमधिकृत्याह-**व्योमित्यादि(८)।** यथा द्वितीये परिकरः तथा तृतीये ऽपि । अधिकस्त्वारम्भे तं आह[४]। हृदबीजकिरणाकृष्टं भगवन्तं व्योम्नि दृष्ट्वा मनसा विचित्रपूजभिः संपूज्य **अष्टदेवताभिर्** गौर्यादिभि पूजयेत् । **मृगलाञ्छनम्** कर्पूरं **मार्तण्डं** इति सिंह्लकम् । **भाजनमिति** सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। **वारि** अक्षोभ्यम्। भैषज्यं चतुःसमं वज्रं शालिजं। **रसो** मधु **डमरुकं**कृपीतम्। **डोम्ब्या** इति । **आलिंगितकन्धरम्।**

---

१. त. सकलयोगसाधारणयोगस्य शरीरमाह; २. क. तिर्यक; ३. क. प्राको अधो। ४. त. प्रथमस्यारम्भेनाधिकं देशितम्।

यथा भवति तथा पूजयति। एवं भगवतः पूजां कृत्वा द्वितीयपरिकरवन्मृतकासनाधिमोक्षपर्यन्तं कुर्यात्। तृतीययोगस्य परिकरः। योगशरीरं पुनरत्र पञ्चाकाराभिसम्बोधिः। तामाह। **चन्द्रालीत्यादि (११)। अ**-कारादिपञ्चदशस्वरा आलिः। क-कारादि चतुस्त्रिंशद्व्यञ्जनानि। **कालिः**। सचहृदि **आलि-** परिणतचन्द्रः। चन्द्रालि। **कालि** - परिणतसूर्यः। कालिः मार्तण्डः। **बीजमध्ययोगतं** भवेदिति। चन्द्रसूर्यस्वोपरि बीजं चिह्नम्। तद्वरटके बीजं भवेत्। भावयेद् इत्यर्थः **स एव सत्त्वं** इत्याहुः। तदेव बीजम्। **हेतुवनधरमाह।** किं विशिष्टं तत्। परमानन्द **स्वभावकम्। विस्फुरन्तीति।** विश्वं अभिव्याप्य **स्फुरन्ति।** हेवज्रदेहनिभा आभाः। तदेव बीजात् **संहार्यानये हृदयमिति**। तान् एवं संहृत्य तस्मिन् एव बीजे प्रवेशयेत्। ततः स योगी द्वेषात्मको भवेत्। चन्द्रसूर्यबीजचिह्नपरिणामेन हेरुकरूपो भवति। इयता पञ्चाकाराभिसम्बोधिः। तथा च वक्ष्यति। अष्टमे पटले

अदर्शज्ञानवांश्चन्द्रः समता सप्तसप्तिकः।
बीजैश्चिह्नं स्वदेवस्य प्रत्यवेक्षणमुच्यते ।। १ ।।

सर्वैरेकमनुष्ठानं बिम्बनिष्पत्तिः सुविशुद्धधर्मतेति[5]। **नीलारुणाभवर्णेनित्यादि** [6](१३) एते त्रयः। एक वीरयोगाः सर्वासां देवतानां साधारणभृताः। इदानीं चतुर्णां हेवज्राणां नैरात्म्यायाश्चतुर्थस्य योगस्य मण्डलचक्रात्मकस्य सूचना क्रियते। **श्मशानेत्यादि (१६)** यथा तृतीये योगपरिकरः। तथा चतुर्थे ऽपि। वज्रप्राकारास्वन्तरे घोराष्टश्मशानानि तन्मध्ये कूटागारोदरे विहरति। **नाथो** हेवज्रः। गौर्यादिभिर **अष्टयोगनीभि** परिवृततः। **श्वसतीत्यादि**। शवानां वसतिर् इति। नैरुक्तो वर्णलोपः। शवानामावास इत्यर्थः। उत्पन्नक्रमस्यापि अष्टमे पटले वक्ष्यमाणस्यानेन श्मशानशब्देन सूचना क्रियते। श्मशाने निरात्मके देहे नाथः। परमानन्दमयो विहरति। कथं देहः श्मशानम्। श्वसतीत्यनया युक्त्या श्मशानेत्यभिधीयते। इदानी चतुर्भुजहेवज्रस्य विशेषं वस्तुमाह। **चतुर्भुजचतुर्मारनिर्जितेत्यादि। भगवद्-रूपिणीति।** वर्णसंस्थानाभ्यां द्विभुजा **कर्तृकपालधारिणी** भाव्या। तथैव वज्रश्रृङ्खला प्रज्ञा षड्भुजस्य। द्विभुजस्य अत्र तन्त्रे नैरात्म्यैव प्रज्ञा हेवज्रस्य उत्सर्गसिद्धत्वात्। पूजादेव्य एव सर्वेषां डोम्बी न तु मुद्रेत्य आम्नाय ः।

इति योगरत्नमालायां कृष्णाचार्यपादकृतौ हेवज्रपञ्जिकायां

तृतीयः पटलः

---

५. हेवजतन्त्र, १.८.६-७. ६. पा. नीलारुणाभवर्ण्णेनत्यादि.

अभिषेकपटलश्चतुर्थः

अभिषेको हि भावनायाः परिनिष्पत्तिः सकलयोगसाधारणः। तमाह-**देवताभिषेकपटलमिति** । अभिषेको ज्ञानाम्बुभिः शवासनसर्वावरणक्षालनार्थं **मूर्धनि** इत्यादि। देवतानां यथायोगं तद वक्ष्यति। **देवता मूर्त्या स्थातव्यम्।** स्वेष्टदेवता सैव मूर्ति। तया स्थातव्यम् ।

इति योगरत्नमालायां कृष्णाचार्यपादकृतौ हेवज्रपञ्जिकायां चतुर्थः पटलः

तत्त्वपटलः पञ्चमः

उक्तो देवतायोगः। तत्र च तत्त्वाधिमोक्ष्यं विना नास्ति शीघ्रतरा बोधिर् इति। तं आह। **तत्त्वपटलमित्यादि (१)।** तत्त्वद्योतकः पटलस्तथोक्तः। **रूपं** नीलपीतादि। तन्नास्ति कथन्नास्ति यावता दृश्यत[1] एव स्वरूपेण नास्ति यद् अस्याकृत्रिमं परं अनिरपेक्ष्यं निजरूपं स्वभावस्तेनाकारेण नास्ति प्रतीत्यसमुत्पत्तेः। यश्च प्रतीत्यसमुत्पादः स एव भावानां अनुत्पादः यदि हि उत्पादाद् पूर्वं भावानां[2] स्वभावो भवेत् तदात्मसत्ता -लाभार्थं हेत्वन्तरं अनपेक्ष्यं भवेत्। अपेक्षते च हेत्वन्तरं अतः सिद्धं भावानां निःस्वभावत्वम् । तथा चोक्तं नागार्जुनपादैः

अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च।
यदि निःस्वभावा भावाः स्वभावतो न विद्यन्ते।। १ ।।

कथं तर्हि विचित्राकाराः प्रतिभासन्ते? प्रतिभासन्त[3] एव बालानां न हि प्रतिभासमात्रेण स्वरूपसिद्धिः । केशद्वि-चन्द्रशिखिचन्द्रमक्षिकादयः किन्न प्रतिभासन्ते। तेषां तिमिरस्वभावा[4] प्रतीतिः चेत्। अन्यो ऽपि अविद्या[5] तिमिरोपहतमतिनयनाः सर्वभावान् स्वरूपेणाविद्यमानान् तैमिरिकोपलब्धकेशान् इव पुरतो विवर्तमानान् पश्यन्ति, न पुनरार्या अपेतविद्यामलधीचक्षवो ऽपि। तथा च सर्वविवरणनिष्कम्भी बोधिसत्त्वः संस्तौति भगवन्तम्।

आदिशान्ताद्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव तु निर्वृताः ।
धर्मास्ते विवृता नाथ धर्मचक्रप्रवर्तने ।। २।।

---

१. पा. कथं नास्ति कथं नास्ति यावता दृश्यत एव। २. पा. भावनाम्. ३. त. प्रतिभासन्त तिमिरोधतानां. ४. त. तिमिरबलेन. ५. पा. अन्यो ऽपि ऽविद्यया

तस्मात् स्वरूपेण रूपादयो न सन्त्येवेति स्थितम्। **न दृष्टेत्यादि** यो हि रूपस्य दृष्टा चक्षुर्विज्ञानादिको धर्मः । सो ऽपि नास्ति सर्वधर्माणामनुत्पत्तिः । एवं शब्दादयो वाच्याः। **न चित्तमित्यादि** - चित्तं परिनिष्पन्नं विज्ञानं चैत्तिकं परतन्त्रं कल्पितम्। एतत् त्रयं परमार्थतो नास्त्येव कथं नास्ति। उक्तञ्च भगवता "चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम् इति तत् कथं सत्यं उक्तं विनेयानां रूपाद्यभिनिवेशप्रहाणार्थम्। अत्रार्थे नागार्जुनपादैरुक्तम्"

चित्तमात्रं इदं सर्वमिति या देशना मुनेः ।
उत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः।। ३।।

तस्मात् परमार्थतो नास्त्येतच्चित्तम्। इयता सर्वभावानां तत्त्वमुक्तम् । इदानीं आध्यात्मिकयोगमाह। **जननीत्यादि (२)**। **जननी** हितैषिणी **भगिनी** वत्सला। **नटी** पटुप्रचारा. **राजकी** शुक्लकर्मरता। **वज्री** ध्यानप्रेया. **चण्डाली** निहतमानत्वात् । क्षमाशीला ब्राह्मणी अनवद्यकर्मरता **प्रज्ञेत्यादि** - नैरात्म्या प्रज्ञा, उपायो हेवज्रः । अनयोर् एकरूपेण वक्ष्यमाणनित्या पूजयेत्। **तत्त्ववत्सलास्तत्त्वप्रियः**। **प्रयत्नेनेति** गुप्तौ यत्नः प्रयत्नः । **यथा भेदो न जायते**। भेदे दृष्टादृष्टदोषः। तमाह। **क्रियते दुःखमित्यादि**। अक्षरार्थव्याख्या। **जननीत्यादि। जननी** अवधूती, **भगिनी** ललना, **च** कारात् रसना, ताः पूजयेत्, योगः संयोगः। तासामेव प्रज्ञोपायाद्वयस्वभावानां तिसृणां नाडीनां योगात् महासुखं उत्पद्यते, अतस्तासां योगवित् योगी सदेति सर्वकालं महासुखमयीं पूजां कुर्यात्। **नटीत्यादि** -रसना रसस्तद्विज्ञानं नटी स्पर्शस्पर्शेन्द्रियं तद्विज्ञानम्। **रजकी** - श्रवनेन्द्रियं शब्दस्तद्विज्ञानं **वज्री**। घ्राणं गन्धस्तद्विज्ञानं **चण्डाली**। चक्षुर् रूपं तद्विज्ञानं, ब्राह्मणी **प्रज्ञेत्यादि** सर्वधर्मशून्यता प्रज्ञा। **उपायो** महाकरुणा तयोर् विधानं महासुखमयः समाधिः। तत् पुनर् गुरूपदेशतो बोद्धव्यम्। तेनेत्यर्थः किं एते शब्दरूपरसादयः परिहर्तव्या। योगिना न वेति। **सेवितव्याः (३)** प्रयत्नेनेत्यतिशयेन **यथा भेद** इति। यथा शब्दादिषु त्रयोपलम्भो न स्यात्। यदि तथोपलम्भः स्यात् तदा को दोष ? आह- **अगुप्तेत्यादि** - **व्याडादिभिः** सांसारिकैर् दुःखैर् अभिभूयते। **व्याड** सर्पव्याघ्रादयः। **भूचराः** पिशाचादयः। कथं एते चक्षुरादयो **मुद्रा (४)** - शब्देनाभिधीयन्ते? एते रूपादयो एवं **पञ्चकुलानीति** कृत्वा, तथापि न ज्ञायन्ते। तदर्थमाह। **वज्रेणेत्यादि**। वज्रं अभेद्यं ज्ञानं, तेनानेन **मुद्रयते** मुद्रं हर्ष महासुखं ज्ञायते, तेन हेतुना **मुद्रेत्य** उच्यते। **वज्रपद्मेत्यादी**। उक्तमर्थ स्पष्टयति। **कुलाञ्चैतदिति, वज्रपद्मादिकं** तथतायां गत इति प्रभास्वरप्रविषः। **श्रीमान् (८)** इति पुण्य ज्ञानसंभारसंभृतः। **आगतिश्चेति**। प्रभास्वराद्व्युत्थितो जगदर्थकरणाय। **कुलानीत्यादि (१०)** - चित्तशाश्वतरत्नेशवागीशामोघ - सात्विकाः **षट्कुलानि** वज्रसत्वसंक्षेपरूपाः पञ्चतथागताः तेषां संक्षेपाः शाश्वताक्षोभ्यवागीशः। एतदुक्तंभवति

चक्षु श्रोत्र घ्राणजिह्वाकायमनांसि षट्कुलानि संक्षेपात्, रूपवेदनासंज्ञासंस्कार - विज्ञानानि, पञ्चतथागताः। कायवाक्चित्तं योगिनः कुलत्रयं **नास्ति भावकेत्यादि (११)** सर्वधर्माणां तथागत - स्वभावत्वात् भाव्यभावकभावनाः परमार्थतः त्रितयं नोपलभ्यते। कथं तर्हि लोके दृश्यत? इत्याह। **निःप्रपञ्चस्वभावात्** इति प्रपञ्चो नानात्वलक्षणः। तस्य चैकानेक स्वभावविरहात्। यस्तेषां अनुत्पादलक्षणस्तथता तेनैवाकारेणास्तीति भावः। **वैरोचनेत्यादि (१२)**। स एव वैरोचनः प्रभास्वरमयत्वात् स एवाक्षोम्यः क्लेशैर्न क्षुभ्यत इति कृत्वा, **स एवामोघ्यः** सर्वाकार जगदर्थ करणात्, स एव **रत्नेशः** सर्वबुध्दरत्नानां आश्रयत्वात्। **स एवारोलिकः**, तेषां एव सर्वाकारतया परिच्छेदात्। स एव **सात्विकः** पञ्चज्ञानमयत्वात्। **ब्रह्मेत्यादि (१३),** स एव ब्रह्मादिर् उच्यते। कथं? इत्याह। **निर्वृतितः** निःशेषक्लेशानां निर्वृतिर् **मोक्षज्ञानम्** तद्रूपत्वात्। बुद्धतत्त्वो बुद्धः। अतः स एव **बुद्धः। विशनादिति।** तस्मिन्नेव तादात्म्येन प्रवेशात्। **सदा** सुकल्याणादिति परमकल्याणमयत्वात् स एव **शिवः। सर्व** इत्यादि कथं स एव सर्वः यस्मादसौ सचराचरं अभिव्याप्य स्थितः। तस्मात् सर्वः **सत्सुखेनेति (१४)** अनाश्रवसुखरूपत्वात् स एव तत्त्वं विबुद्ध इति तस्यैव निरुत्तरप्रीतिः सुखस्य वेदनात् ब्रह्मादिकं यदुक्त तन्निर्दिष्टम् । यदि सर्व-स्वभावोऽसौ व्यापकः, तर्हि केनोपायेनाभ्यसनीयः कुत्र वाभ्यसनीय इत्याशंङ्क्याह। **देहे संभवतीत्यादि** । देह एव संभवति ततो देहे तस्याभ्यासः कर्तव्यः। यस्मात्[६] कारणात् **देवेतेति निगद्यते।** हेवज्रो वज्रयोगिनश्च देवताः। अत एव महासुखमयत्वेनाद्वयज्ञानं तच्च देह एव वसति। परमार्थतः स एव बुद्धो भगवान्। **भगवान्(१५)** इत्यादि[७]। इदानीं जननन्यादिशब्दैर् निरुत्तरप्रज्ञैवाभिहिता न च बाह्याध्यात्मिक विशेषा इति देशयति। **जननीत्यादि (१६)**। महासुखाकारेण विश्वस्य जननाज्जननी। संवृतिपरमार्थयोर् विभागकथनात् **भगिनी। रजकीत्यादि (१७)** निरुत्तसरुखेन रञ्जनात् राजकी।। निरुत्तरबुद्धगुणानां परिपूरणाद् **दुहिता (१८)**। आदिकर्मिक सत्त्वैः स्थिरीकर्तुं अशक्यत्वात् **नर्तकी।।** इन्द्रियाणां अगोचरत्वेन **डोम्बी** शब्देनोच्यते। यदि सर्वं निष्पन्नक्रमसमाध्यन्तरगतं तर्हि **जपध्यानमुद्रामण्डलादिकं**। यदुक्तम्-तत् किं सर्वथैव नास्ति अथवास्त्येव। तद्विनेयानां आदिकर्मिकानां तद् असति तत्त्वोपदेशेनानुग्रहात् । तथा चोक्तम् -

त्रिष्वेतौ मन्त्रदेवौ च[८] निःप्रपञ्च स्वभावतः। यद्येव निःप्रपञ्चक्रमपक्षे जपध्यानादीनि कथं कर्तव्यानि, तद् आह जल्पनं (२०) इत्यादि (१९) जल्पनं अधिगमनं विधारणञ्च कस्याः, **आली - काल्योर्** वामदक्षिणपुट - नाडीवयोर् गतागतनिरीक्षणं

६. पा. कस्मात्, ७ त. बुध्दो भगवानिति कथं भगवानिति भग इत्याह, इदानी।.... ।८. पा. त्रिष्व एतौ मन्त्रदेवौ च; त. संस्थितौ मन्त्रदेवौ च; द्रष्टव्यं हेवज्रतन्त्र, १.५.११,

तयोर् इव गुरूपदेशतो विद्यारणञ्च जापः स एव वज्रजाप शब्देनोच्यते। मण्डलमित्यादि। **मण्डलं** सारमित्युक्तम्। महासुखं ज्ञानं लाति गृह्णातीति मण्डलं। किन्तत् **पादलेखः** पादाङ्गुष्ठयोर् दृढाकुञ्चनं मलानान् मण्डलं उच्यते। मल मल्ल धारण[१] धातुः महासुखस्य धारणानं मण्डलमुच्यते। महासुखविधारणोपाय-श्चायमुपदेशः। **करस्फोट (२०)** इति। ज्येष्ठांगुल्या अनामिकाक्रमणं करस्फोटः स **एव मुद्रा भवेत्। अंगुल्यामोटनं** तथेति **अंगुलीति**। जिह्वा लिंगं च तयोर् **मोटनं** ऊर्ध्वनियोजनं तद् ध्येयं इत्यादि। **तदिति** यच्चिन्तितं सकलेन तत्त्वपटलेनानुत्पादलक्षणं तद् ध्यातव्यं यस्मात् कारणात् परमसारतरं तद् विचिन्तनम्। यस्य प्रभास्वरलक्षणस्य विचिन्तनं अतस्तदेव ध्यातव्यं **पिता (२१)** वज्रधरः। तृतीयार्थे सप्तमी वज्रधरेण **यद् आप्तं सुखं तत् सुखं** उपभुज्यते। स्वयमित्य बाह्यमुद्रया सह तावद् उपभुज्यते। योगमाहात्यात् स्वयमिति बाह्यमुद्रा निरपेक्षं एवोपभुज्यते। तद् **ध्येयं चिन्तितं** इत्यादिना प्रभास्वरध्यानं उक्तम्। तत्र ध्याता ध्यानं ध्येयं इति त्रितयाभावात् कथं ध्यात्वयम् **मरणमित्यादी**। मरणं मोक्षः तत्रैव चित्त - चेतसिका विद्यालक्षणानं अष्टङ्गमात् तदेव मरणं। **येन सुखेनेति** सकलक्लेशोपक्लेशक्षय लक्षणेन महासुखेनेति।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां तत्त्वपटलः पञ्चमः

चर्यापटलः षष्ठः

इदानीं सतत्त्वसंनिरतस्य[१] योगिनः चर्यया विना नास्ति शीघ्रतरा बोधिर् इति तमाह। **अतःपरमित्यादि (१)**। गुरुबुद्धानां आज्ञया दुःश्करव्रतचरणं चर्या तां प्रवक्ष्यामि। **पारंगतमिति** लोकातिक्रान्तां वरामिति श्रेष्ठां गम्यते प्रतीयते। **येनेति** - यया किन्तु प्रतीयते **सिद्धान्ते** इति निश्चयः। **सिद्धिहेतुनेति** - सिद्ध्यर्थम् - इहैव जन्मनि सिद्धि र्न वेति निमित्तलाभान् निश्चयः स्यात्। **भावकेनेति चर्यायोगिना दिव्यम्** निरंगकमयत्वात्[२]। **दशारद्धामृतम्** पञ्चामृतम् हेरुकयोगस्येत्यादि विहरणं भिक्षादि-क्रमणं **पञ्चवर्णा** नीचतराः पञ्चवर्ण इति वा नैर्विकल्पतम्। इदं सत्याभिनिवेशात्। जाड्यादिभिः दोषैस्समायुक्तं इति कृत्वा[३] स्वरूपतस्त्वेक एव वर्णः कुत इत्याह - **अनेकेनैकवर्णेन यस्मात् भेदो न लक्ष्यते (५)**। भिन्नजात्याः

---

१. मल, मल्ल धारणे; पाणिनी धातुपाठ, १-५२३.

---

१. त. सततभावनासं निरतस्यापि, २. त. निरंशुक मयत्वात्, ३. त. पञ्चवर्णाः नीचतराः पञ्चवर्ण इति वा नैर्विकल्पितं इदं सत्वाभिनिवेशाज्जडादिभिः पापादिदोषै स्समायुक्त मिति कृत्वा.

प्राणिनो भिन्नकृतयः। तद्यथा-करि-तुरंगविहंगा[४]: सजातीयास्ते समानाकृतय एव। यथा गावो गावां करिणः करिणां तेभ्योऽभिन्ना वर्णा न परस्पर-विजातीयाः। आकारसाम्यात्। तदेवं लोकव्यवहारतोऽपि वर्णानामेकवर्णता सिद्धा। कि पुनर् योगिसंवृत्ता अनादिमति संसारे सर्वेषां सर्ववर्णत्वात्। चर्यानुरूपं स्थानमाह। **एकवृक्ष** (६) इत्यादि। यस्य छाया नान्येन वृक्षेनाक्रम्यते, यश्च नान्यस्याक्रामति स एक वृक्षः। अविच्छिन्नयोगप्रधानेयं चर्या, एकवृक्षादिष्वेव **विजने** युज्यत इति भावः। न चेयं औद्धत्यात् सहसैव कर्तव्येति[५]। शिक्षयति।

किञ्चदित्यादि (७) - **ऊष्मा** समाधि मन्त्रजः प्रभावः तत्प्राप्तौ सत्यां **कर्तव्येति** भावः। सर्पव्याडमनुष्यामनुष्यादयो न प्रभवन्ति रक्षन्ति च न तेभ्योऽपि विभेति क्षुत्पिपासादिभिर, नोपपीड्यते। इह जन्मनि महामुद्रासिद्धिं, प्राप्तुमिच्छा चेद् भवति, तदा अनया चर्यया चरेदिति भावः। **वज्रकन्यामित्यादि** । वज्र - कुलकन्यां **बुध्यते** युज्यते तस्याः कुलातिशयत्वात्। परैरकार्यत्वादिति[६] **बोधिबीजनिक्षेपो** (९) ऽभिषेकादिस्तेन **संस्कृतां वज्रान्वितं** वज्रमहासुखज्ञानम्। तदभिधायकम् **वज्रपदैरिति।** वज्रो हेवज्र : तस्य पदैर् आलीडप्रत्यालीडमण्डल समपादारद्धपर्यङ्कादिभिः। **द्वेषविशुद्धिर्** इति हेवज्रविशुद्धि **सदा सदेति** - नित्यं नित्यं **भैषज्यं** चतुः समम्। **वारि** अक्षोभ्यः। **नित्यतेति** नित्यम्। **रक्षाभूत** इति पिशाचादीनां अधृष्यः। **चौर्यकेशः** (१५) । उद्बद्धकेशः। हूँ-भवो हेवज्रमूर्तिः। अक्षोभ्यादिपञ्चबुद्धस्वभावानि कपालानि पञ्चयोगः प्रज्ञोपाययोगः समापत्तिः। तत्र लीला बाह्याध्यात्मिक पूजा तदर्थम् । **पञ्चाङ्गुलकपाल-खण्डं** (१६) **ध्रियत** इति भावः

कचडोरी केशरज्जुः **भस्मेति** भस्मोद्धूलनम्। **केशपवित्र** इति केशयज्ञो परितः। **व्रीडा** (१८) लज्जा, **निद्रा** महानयोगविघ्नः कायजीवितापेक्षापि तथैवेति। सापि त्याज्या न संशयः निःसन्देहो भूतवेत्यर्थः। **शरीरमित्यादि** (१९) - आदित एव सर्वबुद्धेभ्यः सर्वसत्त्वेभ्यो दत्त्वा यथाशयं शरीरं निर्यात्य **भाग्याभाग्येति** योग्या-योग्यविचारं अपहाय निरपेक्षदानात्। **अभिवन्दयतीति** - वन्देत् अवंद्यमानो ऽ वीचौ पचेत्[७] त्याज्य हेतुनेति - परिहारार्थं कालभोजनादि **शिक्षा** (२३) शिरोमुण्डनादि **व्रत-दीक्षा सर्वभावस्वभावेनेति।** सर्वासु अवस्थासु हेवज्राहंकारेण। **होमेत्यादि** हेवज्रादिमोक्ष एवास्य सुयोगः। तथैव दृढीकरोति। बाह्यहोमादिः सर्वथा परिहर्तव्यः। कुतः यतोऽस्य हेवज्रात्मनो यत् किञ्चिद् भक्षणं होमः प्रज्ञासेवनञ्च योगः। सर्वं कायकर्म तपः, डमरुकस्वनिखट्-वाङ्गधारणे अपि मन्त्रध्याने वज्रनृत्यगीते, अपि

---

४. त. वराहाः, ५. त. न चेयं सहसा द्विचेतसा च कर्तव्या, ६. त. परैर् अहार्यत्वात्, ७. त. पटेत्.

मन्त्रध्याने तथा यदेव करोति तदेवास्य समयः। यदेव न करोति स एवास्य संवरः। अत्र तन्त्रे मृदुमध्याधिमात्राधिमात्रतर - सत्त्वभेदेन चतस्रो मुद्राः प्राग् उद्दिष्टाः । तत्राधिमात्रतरसत्त्वस्य कस्यचिच् चतुर्थाभिषेक लाभ समकाल एव महामुद्रायाः साक्षात् क्रियेति तं प्रतिप्रथच्चर्या नोक्तैव । अतो मृदुमध्याधिमात्रेन्द्रियाणां शिष्याणां चर्यया विना नास्ति शीघ्रतरा बोधिरिति चर्ययापि त्रिधाकथितैव सप्रपञ्चता निःप्रपञ्चता अतिनिःप्रपञ्चता चेति । इयं निःप्रपञ्चता चर्या मध्येन्द्रियाणां उक्ता! अधिमात्रेन्द्रियाणां पुनर् वक्ष्यति। चतुर्दशमे पटले "भो भो योगिन्य" इत्यादिना[८] अत्यन्तनिः प्रपञ्चचर्या, मृद्विन्द्रयायाणां प्रपञ्चताचर्यायाः। सूचना मात्रं कथयिष्यति, द्वितीयकल्पस्य सप्तमे पटले। **करुणेइत्यादि (२६)**। सालम्बनभावना करुणा। तस्या[९] महासुखरसास्वादः पानं, तदेव पीयते नित्यं अहर्निशं जगदर्थकरणाय। तदेवाह। योगः समाधिः स एव पानं तत्रैव रतिः प्रीतिः। अतो नान्य-मदिरादि-पानेन चर्यायोगेन **मज्जनं** कर्तव्यम्। मोहप्राधान्यान् महान् योगविघ्नः स्यादिति शिक्षयति।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां चर्यापटलः षष्ठः

छोमापीठपटलः सप्तमः

छोमा (१) मिलिच्छा योगिनीनां संकेतेनाभिसमय-जल्पनम्। सापि परमोपायत्वेन विज्ञेया। अत आह। **अथ छोमेत्यादि** छोमाज्योतकपाटलः। तथोक्तः **भ्रातेति** योगी, **भगिनीति** योगिनी, **एकांगुली स्तर्जनी**। स्वागतार्थं **यस्त्विति** ये (ने) त्यपि[१] दृष्टव्यम्। द्वाभ्यामिति तर्जनीमध्य (मा) भ्यां **पट्टिं संदर्शयेत् (४)**। ताभ्यामेव ललाटोपरि पट्टबन्धाभिनयहस्तम् दर्शयेत्। **त्रिशूलमिति।** कनिष्ठांगुष्ठे नाक्रम्य शेषभिस्त्रिशूलाभिनयात्। **सीमान्तमिति** सीमान्तं चक्रं चक्राभिनयं। **भृकुटिं** (६) भ्रुवोः कुटिलतां **शिक्षामोक्षेत्यादि**[२] नेयार्थव्याख्या। **एकांगुली दर्शयेदित्यादि** (२)। यस्तु एकांगुल्या तर्जन्या **द्वाभ्यां** मध्यमातर्जनीभ्यां वारविन्दं दर्शयेत् संचोदयेत् तस्मात् इदं **सुस्वागतो** भवेत्। **शु** इति शुक्रंअंगुलीप्रयोगात् आकृष्टं भवेदित्यर्थः। **क्षेममुद्रेत्यादि (३)**। क्षेमस्य मुद्रा कुशलस्य निष्ठा, धर्मधातुः प्रतिपत्तिः तां विजानीयात्। कथमित्याह। **वामांगुष्ठनिपीडनात्**। वामा प्रज्ञा तस्याः कमलोदरे अंगुष्ठो वज्रम्। तेन क्षरदवस्थापरिप्राप्ते निपीडनात्। **अनामिकेत्यादि (४)**।

८. हेवज्रतन्त्र, २.३.३९, ९. पा. तया; तस्या (?).

१. त. यो इति येन दृष्टव्यम् ।२. फ. त. शिखामोक्ष,

अनामिका प्रज्ञाज्ञानभिषेकम्-य इति यस्मै, अनेन क्रमेण दद्यात्। **दद्यात् तस्मै कनिष्ठिकां।** कनिष्ठो अन्तिकसे चतुर्थ इति यावत्। कथं दद्यादित्याह। **मध्यमां** अवधूतीं दर्शयेद् वस्तु यो गुरुः। शिष्ये चतुर्थोपदेशाख्यं अवधूतिं दर्शयति। सप्रदेशिकां अनामिकां ललनारसने **दद्यात्** कथयेत्। कथं कथयेदित्याह। **यस्तु ग्रीवां प्रदर्शयेत्।** पादपतनादिना यो गुरुं सम्यक् परितोषयति। तस्मै शिष्याय कथयेदित्यभिप्रायः। **पट्टीशमित्यादि** । अंगुरीद्वयेन पट्टबन्धाभिनयः पंट्टीशः प्रज्ञोपाय सूचकः। तं अत्रैव दर्शयत्येवं पृच्छति। **त्रिशूलं तस्य दर्शयेत्।** त्रिशूलं प्रज्ञोपायाद्वय - सूचकं [लल] ललनारसना ऽ वधूती तस्मै विभज्य दर्शयेत्। **स्तनमित्यादि** (५)। यस्तु शिष्यः स्तनं प्रज्ञोपाय - सूचकं तयोर् अनुभवं दर्शयति कथयति **सीमान्तं** महासुखं चक्रं तस्मै प्रदर्शयेत्। **मेदिनी** निर्माणचक्रं दर्शयति। **यस्त्विति** पश्चात्। **चक्रं** धर्मचक्रं तस्मै प्रदर्शयेत्। **भृकुटीं** (६) संभोगचक्रं तस्य दर्शयेत्। यस्तु इति पुनः शिक्षामोक्षोऽभिधीयते इति। मोक्षार्थं शिक्षा प्राणिनश्च त्वया[३] घात्येत्याद्यभिधीयते।[३]। **ललाटं दर्शयेदिति** पुनर् वन्दनाय कुर्वीत। **पृष्ठं** पाणिना **दर्शयेत्** इत्यभिप्रायः। न केवलं पाणिना स्पृशेत्,

पादतलं (७) भूमण्डलं **दर्शयेत्** । अनेन योगेन **युक्तो** भूम्यां यथासुखं विहर इत्येवं ब्रयात्। यस्तु एवं गुरुणा कृतानुज्ञातो विहरति **क्रीडत्यसौ** योगी भगवान् बुद्धः। तेन सार्द्धं क्रमात् तथाविधगुणालंकृत्य इति नीतार्थ व्याख्या। **प्रतिमुद्रेणेति** - द्वयंगुलिदर्शनादिना उद्घटयति। केशगर्भान् मालाकर्षणं **मालाहस्तः** तस्याभिमुखे प्रेषणम्। उभयं इदं साक्षात् अभिनयेन बोद्धव्यं सर्वान् चैतद् वामहस्ते दर्शयेत्। **मालाभिः प्रेषितार्थमाह** (९)। **समयेत्यादि। तिष्ठेति** सेवां कुरु दिव्या योगिन्याः ।

हे भगवन्नित्यादि (१०)। एता द्वादशेति (११) पीठादयः। भवन्त्यसौ इ कृत्वा भूमयः। क्रमात्। मुदिता, विमला, अर्चिष्मती, प्रभाकरी, सुदुर्जया, अभिमुखी दूरंगमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघा, समन्तभद्रा, निरुपमा, ज्ञानवती चेति, त्रयोद भूमिस्तु[४]; अप्रतिष्ठित निर्वाण धातुरूपा तेनेह नोच्यते। **दशभूमीश्वरं** बोधिसत्त्वम्। नाथं बुद्धं कथ्यत इति सम्बन्धः कतमाभिर् भूमिभि। एभिरि पीठादिभिरित्यर्थः।

हे भगवन्नित्यादि (१२)। पोल्लगिरिम्। पुल्लीरमलयम्। **नगर** पाटलिपुत्रम्। **लवणसागरमध्यम्** (१५) इति हरिकेलस्य विशे **चामीकरान्वितम्** सुवर्णद्वीपं तत्सन्निवेशं (उपपीळवम्) **वापिका** (२०) दीर्घि

३. हेवज्रतन्त्र, २.३.२९. ४. त. भूमिस्तु वज्रधरभूमिर्,

दिवसं चैवेत्यादि। **प्रेतपक्षः** कृष्णपक्षः। इयता बाह्यमुक्तम्। इदानीं दुष्टावतारणार्थं बाह्यं आध्यात्मिकञ्च शिष्याणां योगं एकरुतेन वक्तुमाह। **ध्वजं** इति तद् वधः (२१)। **शस्त्रहतः**। संग्रामादिषु, आघातितः। **सप्तावर्तः** सप्तजन्मा। कृपेति तस्यैव सांसारिक दुःखं विचिन्त्य। **विदुरिति** विदुषा, इति ऐका व्याख्या। **ध्वजं** सालम्बनं चित्तं। **शस्त्रहस्तं** प्रज्ञाशस्त्रेण चित्वा एकानेकस्वभावविचारणेन निःस्वभावीकरणं शस्त्रेग हननम्। **च**-कारात्। येनैव विचारकेण चित्तेन विचार्यते, तस्यापि निःस्वभावीकरणं दर्शयति। **सप्तावर्तनञ्चेति।** सप्तधा पुनर् आवर्त्य[५] खाद्यते निःस्वभावीक्रियत इति। इयता तथाविधस्थाने स्वपरयोः परमा रक्षा कृता स्यात्। सर्पादयो ऽपि नोपसर्वन्ति[६], शून्यतासमाधिर् आमुखीभवतीति। **कृपेत्यादि (२२)-** कृपेत्युपलक्षणं प्रागेव चतुर्ब्रह्मविहारभावनां कृत्वा यत्नेनेत्यवश्यम्, **विदुरिति** विदुषा यदि जगन्मारणं अनु(प) लम्भीकरणं[७] तत् कथं आदौ चतुर्ब्रह्मविहारभावनां कर्तव्येति आह, **कृपेत्यादि।** यद्यादौ चतुर्ब्रह्मविहारभावनां सदा (न) स्यात् सम्यक् संबुद्धरूपेण सिद्धिर् न स्यात्। केवलया शून्यताभावनया कदाचित् श्रावकादि निर्वाणेन निवृतिः स्यात्। **अतस्तस्मादिति** आदिनोपसंहरति। **दुष्ट** इति सुगतशासनविद्विष्टाः कौलादयः। तेषां मन्त्रयाने नियोगनार्थमुक्तम्। **विधिमुख्यादित्यादि** विधिमुखेनैवात्र प्रसिद्ध्यति यत्र यत्र मारणादयः शब्दाः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तत्र तत्रैवं मन्तव्यम्। **दिनस्तु भगवान् वज्रीत्यादि (२३)। सदेति** सर्वकालं, तेन पुनर् लोकानामग्रतो ध्वजादयः परिहर्तव्याः गणचक्रादौ एकान्ते पुनर् भोक्तव्या इति। **नाचिन्त्यम् (२४)** इत्यादि। अन्यथा चिन्तनं अचिन्त्यं, **यथा आत्मनि** हेवज्राहंकार-**स्तथा सत्त्वे**ऽपि कर्तव्यः। **तथात्मनीति।** समुच्चयेनाहं असौ हेवज्रः। **अहं परमिति,** आत्मानां परञ्च **पदेस्थित** इति। **अद्वयमिति,** सर्वधर्मशून्यता सेव प्रभास्वरमयत्वात् **धेतुः** कारणं आदिशब्दात् स्वभावः। शून्यतारहिता। **ऊहो** वितर्कः। तेनापगतं परित्यक्तं क इति शून्यतानिमित्ताप्रणिहितानभिसंस्कारार्था। **श्रीहेरुक-शब्दार्थ (२६)** इत्युक्तः। षड्गतिषु जायन्त इति **जन्तवः** पञ्चस्कन्धाः **पिशितं** स्वभावः अश्नीयते निराभासीक्रियते। **बुद्धैरिति** हेवज्रयोगयुक्तैः,- ते ते सत्त्वा इति ते ते भावाः। **वश्यं यान्तीति,** तत्र तत्र वशितां लभन्ते। विचित्ररूपादिना निर्माणेन विश्वविनयनात्। **वज्रो** हेवज्रः। कं सुखं पालयतीति नैरात्म्या शून्यता करुणयोर् उभयोर् **योगः** समाधिः ततः।

इति योगतन्त्रमालायां हेवज्रपञ्जिकायां छोमापीठपटलः सप्तमः

---

५. पा. पुनर् आवर्त्तय, त. पुनर् आलोक्य, ६. पा. सर्प्पादयो, त. मारादयो ऽपि नोपप्लवन्ते,
७. पा. अनुलम्भी =. त. अनुपलम्भीकरणं।

अष्टमः पटल
योगिनीचक्रो नाम महायोगिनीनां मेलापको

अथेत्यादि। **चक्रं** मण्डलं परमाद्यभवनं, महामोक्षपुरमित्येको ऽर्थः। तत् द्विविधं [1] आधारमण्डलं आधेयञ्च । तदत्र आदियोगमण्डलराजाग्रीकर्म राजाग्रीसमाधियोगो [2] वक्तव्यः। स च देवतापटले एकवीरयोगानां प्रस्तवत्वान् नोक्तः। **योगिनी** नैरात्मा तस्याश्चक्रं योगिनीचक्रम्। **खधातावित्यादि। (१) वज्रप्राकार-पञ्जराभ्यन्तरखधातौ। भगं** शरत्शशिधवलं त्रिकोणं धर्मोदयाख्यं भावयेत्। **मध्ये कुर्वीत्** भावनामिति। तन्मध्ये आधारचक्रस्योत्पादन-हेतुभूत-चतुर्भूत-**भावनां कुर्वीत**। कथं इत्याह। **चक्रं पूर्वं** इत्यादि, अयं उद्देशः। **चक्रंक्षोणीत्यादि (२)** निर्देशः। **क्षोणीति** पृथवी मण्डलम्। अस्य **पूर्वं** प्रथमं **जलं** वारुणमण्डलं, अस्य च पूर्वं **यथान्यायं हुताशन-**मण्डलं, तस्यापि पूर्वं **देवतानामिती वायुमण्डलं** भावक्षय-चित्तं, एवं एवाकारेणावस्थितम्। **यथोदयम्,** तदत्र प्रथमं धर्मोदयमध्ये **यं-**कारपरिणतम्, धन्याभं नीलं चलत्पताकांकितकोटिद्वयं वायुमण्डलम्। तदुपरि **रं**-भवं त्रिकोणं कोणेषु रेफम् अंकितं अग्निमण्डलं। तदुपरि **वं**-भवं वारुणं शुक्लं वर्तलं, घटाङ्कं तदुपरि **लं**-भवं पृथवीमण्डलं चतु (र) स्त्रं [3] पीतं कोणेषु वज्राकं भावयेत् **धर्मेत्यादि (३) धर्मोदयः** सैव त्रिकोणमुद्रा तस्मिन्त्र, उद्भवो वाय्वादिचतुर्मण्डल-परिणामेनास्येति। यथोक्तम् । **चक्रं**आधारमण्डल चतु (र) [3] स्रादिगुणयुक्तं। तथा च वक्ष्यति

अस्माच्चक्रं त्वया कथितं हाराद्र्धहारभूषितं।
चतुष्कोणं चतुर्द्वारं वज्रसूत्रैर् अलंकृतम् [4] ।।१४।।

इति **द्विपुटं** इति पुटद्वयं **किञ्जल्के [के] नेति,** मध्याष्टदल कमल वरकेनैकं पुटम्। त्रिकोणेनेति धर्मोदयं अभिव्याप्यापरञ्चतुरस्त्रं **तन्मध्ये (४)** द्विपुटकूटागारमध्ये **पञ्चदश-योगिनीनां आसनानि** तासाम्वेव स्थानेषु प्रत्येकं **शवासनं** चिन्तयेत् **तस्येति** - मध्यशवासन - हृदये चन्द्रं, आलिपरिणतं तदुपरि **बीजकमिति** । आद्यस्वरं तदुपरि कालिपरिणतं **मार्तण्ड-मण्डलम् (५)** । **द्वयोरिति** प्रज्ञोपायस्वभावं च चन्द्रसूर्ययोः। तन्मध्ये महासुखस्वभावं **[बीजं]** बीजमुक्तम्। चन्द्रसूर्योः पुनर् किं स्वभावमित्याह। **स्थितालीत्यादि - गौर्यादयः** पञ्चदशयोगिन्यः यस्मात् एताः चन्द्रसूर्यबीजोद्भवाः, इयता प्रज्ञोपायमहासुखमयत्वेन

---

१. त. इत्यर्थः। तच्च द्विविधम, २. त. समाधि योगमयम्, ३. पा. चतुस्र, ४. हेवज्रतन्त्र, २.५.४.६,

योषिदित्याह (२८)। अनयोरिति सप्तमी द्विविध्यं आनन्दस्य कथं इत्याह। **विवृतीत्यादि** ।महासुखरूपं विवृतिः। यथोदयं **संवृत्तिः।** आकारलेशेन संवृतत्वात्। **अतएवेति** । तयो द्वैविध्यात् **चतसृणां(३०)** चतुर्णां **प्रभेदिति।** सह (ज) सामान्येन। प्रभेदेन। ननु चान्यथैव चत्वार आनन्दाः। पठ्यन्ते इह तु अन्यथैव कथं न विरोध इत्याह। **सहजमित्यादि।** आनन्दपरमानन्दादयश्चत्वारः क्रमेणोत्पद्यन्ते इति उत्पन्नक्रमपक्षः । तदेवं सहजस्य **द्वैविध्यं चतुर्विधं** उक्तं "एतत् सर्वं गुरूपदेशतो....[११]" ।- भवात् सुखात्। द्विधं सहजं महासुखाकारात्मकं शुक्राकारं द्वितीयञ्च[१२], कर्ममुद्रादिभेदेन सहजं द्विविधमुक्तम्, किं अयं एकस्यैव पुरुषस्योत्पद्यते, आहोस्वित् स्त्रीपुरुषयोर् अपीति। तदर्थमाह। **योषिदित्यादि। अत्रैव** हीति। **आनन्दानां** चतुर्णां **चतसृणां** मुद्राणां **प्रभेदनमित्यर्थः** । अत्र **योगिनीतन्त्रे** यथा स्त्रियस्तथा पुरुषाणामपि मृदुमध्याधिमात्रभेदात् सेकादिना अनुग्रहीतव्या इति। भवतु नाम मुद्राचतुष्टयभेदाः। आनन्दानां चतुर्णां कस्माद् भेद इत्याह। **सहजं** इत्यादि, **उत्पन्नक्रम** इति सुखस्योत्पाद लक्षणस्येति[१३] भावः। द्वितीय व्याख्या। तदेतत् सर्वं गुरूपदेशतो बोद्धव्यम्। इदानीं साकल्येन त्रैविद्यमाह। **आनन्दम् (३१)** इत्यादि। **वीर** इति साधकः, आरब्धवीर्यत्वात्, **परमानन्दं तु योगिनीति।** तया विना आनन्दोत्पादाभावात्। **सुरतानन्दः** सहजलक्षणः समस्त एव सर्वं एव त्रयं अपीत्यर्थः। तदेवाह। **उपायो** मुद्राणां उपदेशः। तद्भावनाजनितं सुखं **तत्सुखं सर्वविद्** वज्रधरः। उत्पत्तिक्रमे सहजस्योपलक्षणार्थं चत्वार आनन्दाः पश्यन्ते। निष्पन्नक्रमे सहज एवैको भाव्य इति। अत्रार्थे[१४] युक्तित्रयं श्लोकत्रयेणाह।

आनन्देनेत्यदिना (३२)। सहजानन्दन्तु शेष इति परिशेषाद् यदेतत् त्रयं भवनिर्वाणस्वभावत्वेन भ्रान्तत्वेन संसारावाहकम्। अतः कारणात् साध्यस्य महासुखस्य धर्मकायलक्षणस्य प्रापकं सहजमिति। स चैको भाव्यः। कस्मात् पुनरेतत् त्रयं मोक्षावाहकं न भवतीत्याह। **प्रथममित्यादि (३३)।** स्पर्शेति कमलकुलिशयोः **द्वितीयं** तदधिकवाञ्छया। **तृतीयमिति।** विरमानन्दं रागनाशत्वात् तदिति वैराग्यरूपत्वात् चतुर्थं सहजाख्यं तेन कारणेन भाव्य इति भावः। **परमानन्द (३४)** इत्यादि। भवं संसारलक्षणं सहजसाकांक्षत्वात्। **विराग** इति विरमानन्दम्। निर्वाणमुक्तम्। **मध्यमेति** प्रथमानन्द मात्रं सुखसारण मात्रं[१५] **एभिरिति** एभिरुक्तैर् वर्जितम् सहजं संसारनिर्वाणयोर् दोष [कलं] कानंकितस्वभावं[१६] अतस्तदेव भाव्यन् नान्यदिति

---

११. इति तिब्वतनप्रतौ उपलभ्यते, १२. त. महासुखाकारं एकं दुःखच्छेदनं द्वितीयञ्च, १३. त. सुखस्योत्पाद लक्षण - क्षणस्य, १४. त. परमार्थे, १५. त. सुखसाधारणमात्र, १६. त. भवनिर्वाणयोर् दोषैर् अनंकितस्वभावम्,

यावत्। यद्येवं सहजसुखं साध्यस्य महावज्रधरपदस्य प्रापकं तदा प्रज्ञारविन्द एवानुभूतत्वात्, कृतकृत्यता स्यात् किमर्थं भाव्य इत्याह । **नान्यनेत्यादि (३६)** गुरुवज्रधरादिना न कस्मिन्नपि चक्रचतुष्टये प्रज्ञाकमलसंपर्के ऽपि प्रत्यात्मवेद्यस्य तस्य वाग्विकल्प विषयातीत्वादिति भावः। कथं तर्हि तस्य देशना श्रुतं वा उद्भावना संवृत्या न तु तत् स्वेन रूपेण सुरनारक सुखदुःखवेदनाश्रुतवत्[१७]। कथं तर्हि तज्ज्ञायत इत्याह। **आत्मनेत्यादि।** भावना विशेषाद् आत्मनैवोपलभ्यते न भावना व्यर्था ऽतः। भावना परिनिष्पत्तिं विना तस्य साक्षात्कर्तुं अशक्यात्। तथा चोक्तम्-

देशितो यो मया मार्गस्तृष्णाशल्यस्य[१८] कर्तनः।
युष्माभिर् एव कर्तव्यं आख्यातारस्तथागताः ।। २।।

ननु मण्डलचक्रभावनादावेष न्यायः। सहजानन्दस्तु प्रत्यक्ष एवोपलभ्यते न हि प्रत्यक्षे ऽ र्थे परोपदेशो युक्तः। अत आह **पुण्याद** इति। एवं मन्यते नहि लौकिक एव सहजानन्दस्तु प्रत्यक्ष एवोपलभ्यते न हि प्रत्यक्षेऽ र्थे परोपदेशो युक्तः। अत आह **पुण्याद** इति। एवं मन्यते नहि लौकिक एव सहजानन्दः साध्यः सिद्धत्वात्[१९] साश्रवत्वेन मलिनत्वात् सांसारिकानां[२०] किं तर्हि तथागतानां एव यः प्रत्यात्मवेद्यो धर्मकायः सहजः स इह साध्यः। स च गत्यन्तराभावाद् अस्मिन्नेव लौकिक-सहजानन्दे यथोपदेशं अधिमुच्यमानो भावना परिपाकाद् **आत्मना ज्ञायते** न प्राक्। अतो नात्र श्रुतचिन्ताभावनावैयर्थ्यं इति। **उपायो** मार्गः, तस्य सेवा सम्यग्, भावना तस्या बहूनि पर्वाणि बहवः प्रकाराः इत्यर्थः । गुरुलभ्यं पर्वं गुरुपर्वं यद् योग्याय शिष्याय गुरुणा विधवत् दीयते। उपदेश इत्यर्थः। कथं सहजभावना कर्तव्या ? किं एकदेश एव आहोश्विद् विश्वं अभिव्याप्येत्याह[२१]। **हीनेत्यादि (३८),** अयं उद्देशः, तस्यैव व्याख्यानं **सूक्ष्मपदार्थं** आत्मनश्चित्तचैत्ताः। भावं आत्मनः शरीरं द्वाभ्यां इति स्वदेहावयवाः षडिन्द्रियं देहस्थाश्चक्षुरादयः, **स्थिरचलं (३९)** इति, बाह्याश्चेतनाचेतनाः। **नैवाह-मिति** [२२] । नाहं एव केवलं महासुखस्वभावो वज्रधरः, किन्तु हि **सर्वाण्यचेतानि तुल्यचेष्टानि** अभिन्नस्वभावानि, कथं इत्याह- **तत्त्वभावनैरिति,** अस्यैव व्याख्यानं, **समरसैरिति** , अस्यापि व्याख्यानम्। **सममित्यादि (४०),** सदृशमित्यर्थः, तस्येति हीनमध्यादेः। **रसः** सारं भावः इति पर्यायाः। को ऽ सौ रसः **चक्रः**, महासुखलक्षणः सहज इत्यर्थः, समुदायार्थमाह। **समरसं एकस्वभावत्वाच्चेति,** तत्पुनः समरसत्वं कथं भावयेत्। **मदित्यादि, एवं मत्वेति (४२).** एवं अवधार्य **सुसमाहित** इति सर्वावस्थासु तदेव स्फुटीकर्तुं आह,

---

१७. त. सुरनारकसुखदुःखदेशनाश्रुतत्वात्, १८. पा. तस्ष्णा शल्लस्य, २१. पा. अभिव्याप्योह, २२. त. एवाहमिति, २३. त. स्वत इति निजस्वभावेन व्रर्तते,

खाने पाने (४३) इत्यादि. **सातत्यं** इति सुरसवाहितं, **महामुद्रेत्यादि**। महामुद्रार्थं अनेनाधिमोक्षयोग उक्तः। इदानीं अत्रार्थे चेतसः स्थरीकरणं आह। **भाव्यन्ते (४४)** हीत्यादि। **जगत् सर्वमिति**, सत्त्वभाजनलोकाः ते सर्वे भाव्यन्त एव कस्मादित्याह, **मनसेति** विकल्पज्ञातेन यदि न विकल्प्यन्ते, न तर्हि भाव्यन्ते इत्याह, **सर्वधर्मेति**। परिज्ञानं सहजरूपतया नै**व भावनेत्यर्थः स्थिरचलेत्यादि (४५),** सर्वे परमं एव तत्त्वम्। तत्त्वरूपेण भाव्यन्ते, किं पुनः तत्परमतत्त्वम्[२४]? **आत्मेत्यादि**। आत्मनः स्वचित्तस्य सहजलक्षणस्य स्वरूपम्। **तेषां एकं(४६)** इति सहजलक्षणं तत्त्वम्। किं पुनस्तदेकं इत्यादि, **स्वसंवेद्यनम्।**

ननु भूतकेटिः सर्वधर्माणां तत्त्वं नातः परं तत्त्वं अस्तीत्याह, **स्वसंवेद्यादिति।** महासुखमयाच्चित्तादेव महामुद्रासिद्धि र्भवेत्, **स्वसंवेद्यमिति** , महासुखलक्षणं चित्तं एवोत्पन्नक्रमपक्षे **भावना स्व (सं) वेद्यं** इति (४७), यत्किञ्चित् दृश्यते, सत्त्वानां कर्मविपाकजनितं वैचित्र्यं स्थावर-जंगमादिकं तदेव कर्म, यद्यत्र[२५] कर्मोपपद्यते स्वसंवेद्यात्, कथं तर्हि महामुद्रासिद्धिः। तदर्थमाह - **बोधनादिति,** बोधो ग्राह्यग्राहक-रूपेण प्रतिपत्तिः, तस्मात् कर्मोत्पद्यते न पुनर् विश्वस्य सहजैकरसभावात् अत एव यस्मात् सहजमयं कर्म तस्मात् **स्वयं कर्ता स्वयं कर्तेति** तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्य कर्तरभावात्। स्वयमेव कर्ता सुकृतदुःस्थितकर्माणां, **स्वयमेव राजत** इति राजा, **स्वयमेव** सकलक्लेशक्षये प्रभवतीति प्रभुः। **रागमित्यादि,** रागाद्यस्तत्पद इति स्वसंवेद्यपदे भावनायां कालेति षोडशीमपि कलां **नार्घन्ति** न लभन्ते विद्यात् करणाय, इदानीं स्वसंवेद्यस्य स्वभावमाह, **धर्मोद्भवमिति (४९),** धर्म (आर्य) आर्यधर्माः तेषां समुदयो ऽ स्मिन्निति, **धर्मोदयो धर्मधातुः**। इह त (न्) मुद्रायोषित्कमलं धर्मोदयः। तथा अधिमोक्षवशात् तस्मिन्नुद्भवो ऽ स्येति धर्मो (दयो) द्भवं ज्ञानं कीदृशं खसमं आकाशस्वभावं उपायो मार्गः। स चानेकप्रकारः उक्तो वक्ष्यति च अनेकेनाप्युपायेन निष्पन्नक्रमपक्षे सहजमात्रं एवैको भाव्यः। कथं तेन महावज्रधरपद-प्राप्तिरित्याह **त्रैलोक्य** इत्यादि। दशदिक्त्रयध्ववर्तिनां बुद्धानां कायवाक्चित्त (म्) गुह्यानि प्रत्येकं अनन्तानि त्रयो लोकाः। तेषां समाहारः, त्रैलोक्यं महावज्रधरः, स तत्र जातः। तस्माज्जातं ज्ञानं भावयेत्। केन रूपेण प्रज्ञोपाय स्वभावता इति, प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञा धर्मकायः। उपायो जगदर्थकरणाय तन्निष्यन्दभूत - संभोग - निर्माणकायद्वयं तयोस्तत् स्वभावतः, तत्स्वभावो जात इत्यर्थः। कथं तयोः स्वरूपेण जात इत्याह।

---

२४. त. - तत्त्वं आत्मभाव इत्याद्युक्तम् , २५. पा. यद्य ओत्र,

शुक्रेत्यादि (५०), भगवानिति कायद्वयसंग्राहक उपाय उक्तः तत् **सुखमिति,** यत् तत् सुखं खसमं ज्ञानं उक्तं, तत् कामिनी प्रज्ञेत्यर्थः। **एकानेकेत्यादि, असाविति** उपायभागः शुक्राकारः एकानेकस्वभावविरहत्वात् निःस्वभावो विचारशून्यो इत्यर्थः। **क्षणेति - एका रतिः** प्रीतिः सहजमहासुखज्ञानं सर्वधर्मशून्यता सैव परा श्रेष्ठा भावनीयेत्यर्थः। तत्रैकानेकविचारस्याविद्यमानत्वात् इति भावः। यदि तत्र विचारस्यानवकाशः। कथं ज्ञायते तदित्याह। **स्वसंवेद्येत्यादि (५१)**। नान्येन कथ्यते प्रत्यात्मवेद्यं **वाक्पथ**[२६] इति, वाचः पन्था प्रतिपत्तिर् **वाक्पथस्यातीत-गोचरः** तद्विषयातिक्रान्तं इत्यर्थः। **अधिष्ठानक्रम** इत्यादिः सर्वतथागतानां कायवाक्-चित्तसंग्राहकत्वेन तन्मयम्। **पृथिवीत्यादिना (५२)** श्लोकेन द्वयेन सहजभावनायाः फलमाह, कथं पृथिव्यादिभिर् न बाध्यते यत् आकांक्षमोणो भावकः पृथिव्यां उन्मज्जति निमज्जति, तिरः कुड्यं तिरः पर्वतं असज्जमानो गच्छत्यागच्छति। विषशस्त्रादिभिश्च न क्लिश्यते, अपां उपरिष्ठात् अधस्ताच्च शेते निषीदति तिष्ठति चंक्रमते वातवृष्ट्यादिभिश्च न क्लिश्यते। एवं अन्यत (:) अपि योज्यम्। **स्वपरसंवित्तिवेदनम् (५३)** इति स्वपरचित्तान्यतीतानागत-प्रत्युत्पन्नानि जानाति, **स्वर्गमर्त्येत्यादि,** एकमूर्तिर् एकस्वभावः **स्वपरेति** गतार्थः। आगमान्तरेभ्यो हेवज्रतन्त्रस्य विशेषदर्शनार्थमाह। **ससमस्तेत्यादि (५४),** वेदाः ऋग्यजुः। सामाथर्वलक्षणाः सिद्धान्ताः तीर्थिकप्रणिताः पुराणादयः। श्रावकपिटक-सूत्रान्ताद्यश्च सिद्धिः पुनर् भवस्यान्त एभिरिति कृत्वा कर्मप्रसराः क्रियातन्त्रादयः, एभिर् उक्तलक्षणा सिद्धि र्न स्यात्। पारमितानये किं भवति न भवतीत्याह। भवेदित्यादि शुद्ध्येत्यनेनात्मनः[२७] क्लेश - ज्ञेयावरण - क्षलनादिति शुद्धिः, षट्पारमिता लक्षणमार्गः तया शुद्ध्या भवत्येव बोधिः। किन्तु पुनर्जन्म इति, त्रिकल्पासंख्यजन्मपरम्परयैत्यर्थः, तत्र <u>योगतन्त्रे</u> ऽपि इहैव जन्मनि बोधिरुक्ता। तेभ्यः को ऽस्यातिशय इत्याह। **न च तेने त्यादि (५५)।** तेन स्वसंवेद्यलक्षणेन सहजेन विना, इहैव जन्मनि जन्मान्तरे वा न सिद्धिः, अस्य तर्हि तेभ्यः को विशेष इत्याह। **हेवज्रमित्यादि।** तन्त्रान्तरे सुचित्रस्य सहजस्य हेवज्र एव परिस्फुटाकारेणोक्तत्वात्। अतः कारणान् **न ज्ञातं येन हेवज्रं (५६)** तस्य श्रुतचिन्ताभावनापरिश्रमो ऽपि व्यर्थ एवेति संदर्शयति, नानु दुर्लभा बोधिः कथं इहैव जन्मनि प्राप्यते वेत्याह, **नदीत्यादि**, नदीश्रोतो नदीप्रवाहः। तद्वद् अपरिच्छेदेन् दीपज्योतिर् दीपशिखा तस्याः प्रवाहः। तद्वद् सततं निरन्तरं **तत्त्वयोगः** सहजानन्दयोगः, तेन **स्थातव्यं** अहोरात्रम्। एवं सत्यवश्यं इहैव जन्मनि बोधिः

---

२६. पा. वाक्पान्थ, २७. पा. शुद्ध्यन्त्य.

सिद्ध्यतीत्यर्थः। **महायोगिन्यो** नैरात्म्यादयः तासां मेलापकं मेलकः, कूटागारे सहजानन्दे च, तद्द्योतकपटलस्तथोक्तः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां अष्टमः पटलः

विशुद्धिपटलो नवमः

विशुद्धिपटलमिति। विशुद्ध्यन्त्यनयेति विशुद्धिः यथासर्वभावः निर्दोषा भवन्ति सा विशुद्धिः। तत् द्योतकं पटलं विशुद्धिपटलम्। **सर्वेषां भावानां (१)** व्यापिनी विशुद्धिः तथता सर्वधर्मे शून्यता, **स्मृतेत्यष्टमे** पटले कथिता, **पश्चादि -त्यधुना देवतानां (२)** वज्रगौर्यादीनां कथं तद् अशुद्धिं, कथं वा विशोद्ध्यते। **षडिन्द्रियं स्वभावेनेति**। तथता-स्वभावेन, यदि शुद्धं किमर्थं विशोद्धयते, **अज्ञानेत्यादि, अज्ञानं** स्वभावापरिज्ञानानं ज्ञेयावरणम्, **क्लेशा** रागादयः क्लेशावरणं **तैःआवृतं** आच्छादितम् अतः कारणाद् **विशोद्धयते,** या तर्हि तथतात्मिका शुद्धिः कीदृशी सत्याह। प्राग् अष्टमे पटले कथिता नान्यया शुद्ध्या विशुद्ध्यत इति भावः। **विषयानामिति,** रूपादीनां **स्वसंवेद्यसुखं परं (३)** उत्कृष्टा शुद्धिः। ये ऽ प्यन्य इति बाह्यरूपादयः शुद्धभावाः शुद्धस्वभावाः कृत इत्याह। यस्माद् **बुद्धमयं (४) जगत्** सहजमयं जगत् सचराचरम्। इदानीं **हे भवन्न् (६)** इत्यादिना देवता विशुद्धिं प्रच्छति **चक्षुषेति** गृह्यते परिच्छद्यते वेति पटिच्छिनत्ति **आस्वादनं** रसः **आप्नुत** इति गृहणाति। यद्यशुद्धा न तर्हि **सेवितव्या** इत्याह। सेवितव्या इति सेवार्थाः, कथमेते निर्विषीकर्तव्या इत्याह। **रूपस्कन्धेत्यादि**। वज्रा शुद्ध्या रूपस्कन्धं परिज्ञायेत्यर्थः। अत आह **तत्त्वयोगिन** इति। **ऐषान** इत्यादिना बाह्यं आरभते, नन्वभ्यन्तरपुटे गौरी पठिता तत्कथं बाह्यपुटे ऽ पि पठ्यत इत्याह। **अपरेति।** अन्या **गौरी** नामैव **पुनः** समं। **द्विदेवतीति (१३)** देव्यौ द्वावित्यर्थः। स्थानभेदो देवीनां भेदपरिज्ञानार्थं उक्तः। विशुद्धिरूपता पुनर् आसामाह।

रूप (१३) इत्यादिना **तत्त्वयोगिना** इति देवता तत्त्वयोगिनः। **भुजानामित्यादिना (१५)।** षोडशभुजानां तत्त्वं षोडशशून्यता। तद्यथा अध्यात्मशून्यता, बहिर्धाशून्यता, अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, महाशून्यता, शून्यताशून्यता, परमार्थशून्यता, संस्कृतशून्यता[1], असंस्कृतशून्यता, अत्यन्यताशून्यता, अनवराग्रशून्यता, अनवकारशून्यता, स्वलक्षणशून्यता, प्रकृतिशून्यता, सर्वधर्मशून्यता, अभावशून्यता, अभावस्वभावशून्यता। एता एव भुजाः कृता इत्यर्थः। **चरणा माराणां**

---

१. पा. संवृत शून्यता.

भंगविशुद्धितः स्कन्धमारः क्लेशमारो मृत्युमारो देवपुत्रमारश्चेति। **मुखेति** मुखानां, **त्रिवज्रिणेति** कायवाक्चित्तवज्रैः, पृथिवीत्यादि, पृथिव्यादीनां विशुद्धिः पुक्कस्यादिभिरित्यर्थः। **एतेनेत्यादि**। स्कन्धादयः। एवमत्वात् उत्पत्तिक्रमपक्षे विशुद्धिं आख्याय। पुनरुत्पन्न क्रमपक्षे तामेवैकरसां विशुद्धिमाह। **येनेत्यादि (१९)**। येन येन रूपादिना लोको बध्यते तेनैवाहं मुञ्चामि। नापि देवताद्याकारभावनया। यदि न तेनैव मुच्यते लोकस्तर्हि कथं बध्यत इति इत्याह। **मुह्यति लोकस्तत्रैवेदं** सत्याभिनिवेशात्, **वेति न तत्त्वं** तेषां अनुत्पादस्तत्त्वं तत्र वेत्ति तत्त्वविवर्जितः । अनुत्पादभावनारहितः सिद्धिं वज्रधरपदं न प्राप्नोतीति भावः। यत एवं तस्मात् कारणात् गन्धादयः परमार्थतो नैव नैव विद्यन्त इति भावः। **न च चित्तस्यापि विशुद्धिः** पृथक्कर्तव्या, तस्याप्यनुत्पादरूपत्वात्। **सर्वविशुद्धेति।** सर्वजगद्विशुद्धम्, कया उक्तया सर्वधर्मशशून्यता विशुद्ध्या। अतः **शुद्धस्वभावं जगत्**। कः पुनर् एवं जानातीत्याह। **जगदहं मन्ये** जानामीत्यर्थः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां विशुद्धिपटलो नवम्।

अभिषेकद्योतको दशमः पटलः

इदानीं शिष्याणामभिषेको दातव्यः। स चात्र लेख्यमण्डल एव दातव्यः। तदर्थमाह- **अथात (१)** इत्यादि **यथाक्रमं** अविपरीतविधिं। शिष्यो ऽपि यथा विधिताभिषिच्यते सो ऽपि विधिः प्रवक्ष्यत इति योज्यम् । **वसुधामिति (२)** पृथिवीं देवतात्मक इति द्विभुजहेवज्रयोगयुक्तः **हूँ- वज्रीकृत्येति।** शून्यतां विभाव्य रेफेण सूर्यमण्डलं तदुपरि हूँ- कारेण विश्ववज्रं ताभ्यां वज्रमयीं भूमिं वज्रप्राकारपञ्जरं तद्बहिर् वज्राग्निमालां विचिन्त्य ओं रक्ष ३ हूँ ३ फट् स्वाहेत्यनेनाधिष्ठाय मण्डलं लिखेत, **बोधिसत्त्वा (५)** वज्रपाणिप्रभृतयः। **त्रयहस्तमित्यादि, अङ्गुष्ठयादिकमेव** तदित्यर्थः । इति मण्डलोद्देशः पश्चादस्य निर्देशो भविष्यति। अभिषेकं प्रस्तवनाह। **विद्येत्यादि,** दिव्या इति, उत्तमाः, **अथवेति** यद्यशक्तः। तदा **यथालब्धा** यौवनप्रधाराः प्रवेशयेत्, महारागनयश्चायं योगिनीनय इति, इति शिष्यलक्षणोद्देशः। इदानीं गुह्याभिषेकमुद्देशयति, **तावत् सेव्यते मुद्रेति (८)।** मुद्रायास्त्विवति शिष्याः, **उपायस्येति शिष्यस्य कारितव्य** इत्यादि, तस्यामेव प्रज्ञायां, **समरसं** प्रज्ञाभिषेकं शिष्यगोचरे शिष्य मुखमुद्घाटय एतेन किं

१. त. तयोः स्वभावात्मा,

स्यादित्याह। **स्वसंवेद्यादिति,** एत एव समरसात् स्वसंवेद्यं ज्ञानं भवेत् किं विशिष्टं तदित्याह। **स्वपरेत्यादि** - स्वपरविभागभेदरहितं, **खसमं** (९) इति, निराभासत्त्वेनाकाशसमं । निःक्लेशात्वात्, **विरजं** प्रपञ्चातितत्वात्, शून्यं भाव उत्पादः अभावो विनाशः भावात्मास्येति[१] तथोक्तः **परमिति** परमार्थरूपं सर्वधर्माणां शून्यता **प्रज्ञा,** उपायो महाकरुणा, सर्वसत्त्वेष्वात्मसमतानुभावः। ताभ्यां व्यतिमिश्रं। तयोरेकरूपत्वेन प्रख्यानात्। **रागः** परमानन्दः। **अरागो**[२] विरमानन्दः ताभ्यां व्यतिमिश्ररूपं **प्राणिनः (१०)** सत्त्वाः, तेषां स एव जीवं, तेन विना जीविताभावात्। **परमाक्षरो** ऽनादिनिधनः। धर्मधातुरूपत्वात्। **व्यापी** सर्वधर्माणां तन्मयत्वात्। **सर्वदेहे व्यवस्थित** इति। विज्ञानाधिष्ठिततत्वात्, जीवदेहानां तस्मादेव जगदुत्पत्तिः। तदात्मकर्मक्लेशोद्भव-त्वादित्येतदाह। भावः शरीरं, अभावो वेदनादि अन्यानि षडिन्द्रियाणि **यानि** तानीति बाह्याभावः स्थिरचलादयः तीर्थिकैरपि स एवात्मादित्वेन परिकल्पित इत्येतदपि प्रतिपादयन् आह।

सर्वं विज्ञानरूपञ्चेति (१२) वेदान्तवादिनः। चिद्रूपः पुरुष इति संख्या। **पुद्गल** इति **पुद्गलवादिनः** । नित्या जगद्कर्ता **ईश्वर** इति सिद्धान्तवादिनः। **आत्मैव** जायते जीवति म्रियते बध्यते मुच्यतेत्यात्मवादिनः। **जीव** इति दिगम्बराः **सत्त्व** इति सत्त्ववादिनः। **काल** इति कालवादिनः

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।। १।।

इति पूर्यते कर्मभिर् गलति तेषामेव निर्जरणात् एवं पुद्गलवादिनः। **सर्वभावा** लौकिकलोकोत्तराः **मायारूपी** चेति विचित्रनिर्माणनिर्मितेव ततः समरसं पुनः शिष्याय गोचरं कर्तव्यमित्याह[३] **प्रथमानन्दमात्रन्त्विति।** आनन्दमात्रं साधारणसुखमित्यर्थः। **द्विसंख्यत** इति द्वितीयं **तृतीयं** इति भिन्नयोगः कार्यः। **विरमाख्यम्** विरमानन्दः। सहजमिति, सहजानन्दरूपः। इत्येका व्याख्या । **प्रथममित्यादि। प्रथमादौ** आचार्याषिके वाह्यकमलकुलिशयोगाद् आनन्दमात्रमुत्पद्यते, कस्मात् आनन्दमात्रं साधारणरूपत्वात्। अन्यो ऽपि कमलकुलिशयोगतः। तथाविधसुखं अनुभवन्तीति कृत्वा आनन्दमात्र-मुच्यते, **परमानन्दमित्यादि (१३),** परं उत्कृष्टं गुरूपदेशतो गुह्यमणिना संवेदनात् **द्विसंख्य** इति द्वितीयाभिषेकसंख्या। **तृतीयमित्यादि।** विशिष्टोत्तररमो विरमः[४] प्रज्ञाभिषेकलक्षणः। तदन्तर्गतमणिना महासुखस्यवेदनात्। **चतुर्थमित्यादि।** चतुर्थं

---

२. पा. रागो, ३. त. तदीदृशं समरसं शिष्यानां गोचरं कथं कर्तव्यमित्याह। ४. पा. विगमः, ५. त. क्षणभेदेन, ६. पा. यत्परिवृतम्,

चतुर्थाभिषेकः **सहज** इति अप्रतिष्ठित - निर्वाणधातुरूपतया संवेदनात्। एवं शिष्यगोचरीकर्तव्ये सहजानन्द एव समरसादिशब्देन लक्षणभेदेन[५] निर्दिष्टे तस्यां भगवतः पर्षदि परिवृतं[६] तदाह संगीतिकारः। **एवमित्यादि (१४), विस्मय** इति आश्चर्यप्राप्त्या अवनौ पृथिव्यां पतिताः। किमर्थं पतिता इत्याह, **प्रथमान्दं जगद्रूपं** इत्यादि जगद्रूपं जगद् वेद्यत्वात्। **परमानन्दं जगदिति,** मार्गरूपत्वेन संवृति सत्यभावत्वात्। **तथेति** - तथैवेत्यर्थः। यो ऽपि **विरमानन्द** रूपत्वेनाख्यातः सुसूक्ष्मचित्तप्रतिवेधरूपः सो ऽपि जगत् संवृति-सत्य-स्वभाव चित्तमात्रस्यापि संवृतिसत्यत्वेन संग्राहात् । **एवाकारो** अवधारणे दृष्टव्यः। त्रिविधा एव लौकिको जगद्वेद्यत्वाज्जगदुच्यते, **न विद्येत्** सहजं तृष्विति नाप्येतेषु सहजमस्ति, संवेद्यते वा, वैलक्षत्वादित्यर्थः। **इति** शब्दः संगीतिकारवचनपरिसमाप्त्यर्थः। एवं सति विस्मयमापन्ना इति।

भगवान् आहेति (१६) - संगीतिकारस्य वचनं **सर्वबुद्धैः** सहाभिन्नशरीर **एकविग्रहः। संशयमपनीयमिति** - संशयमपनीयते येन **दिव्यं** श्रेष्ठं **बोधये** प्रतिपत्तये, **न राग (१७) इत्यादि,** रागः परमानन्दः **विरागो** विरमानन्दः, **मध्यमेति** प्रथमानन्दः। एतत् त्रयं सम्यक् संबोधिरूपेण **नोपलभ्यते, त्रयाणामिति,** एषान्तु त्रयाणां वर्जनात् पृथक्करणात्[७]। **सहज** इति सहजानन्दः संबोधिः संबोधिहेतुत्वात् **न राग** इति, रागालम्बनत्वात् रागः। प्रथमाभिषेकः। **विरागो** विशिष्टसुखालम्बनत्वात् तृतीयाभिषेकः। **मध्यमेति** - तयो र्मध्ये च द्वितीयाभिषेकः **नोपलभ्यते** सम्यक् संबोधेः समनन्तरकारणरूपत्वेन, अतः करणादुक्तं **त्रयाणां वर्जनादिति। सहज** इति - सहजाभिषेकः सहजश्चतुर्थ इत्यर्थः। **संबोधिरुच्यत** इति कारण- कार्यापचारात्।[८] अन्यत्रापि सेकान्तरे कस्मान् नोच्यत इति कारणकारणत्वात् इति भावः। अत एवोक्तं **आनन्दत्रयवर्जितमिति (१८)।** यद्यन्यत्र सर्वथैव न स्यात् तदा तस्य सहजक्षणस्य व्यापकत्वं[९] एव न लभ्यते। तस्मान् मुख्यकारणत्वेन सहजः संबोधिरुच्यत इति। इदानीं कथमपि सहजं उत्तानीकर्तुमाह। **विरमेत्यादि** - विरमानन्दस्यादौ किं परमानन्द एवापन्नेत्याह - **आनन्दत्रयवर्जितमिति** - अर्थादुक्तं भवति । परमानन्दा-द्दूर्ध्वमिति। तथा त्रयोदेशे पटले वक्ष्यति -

सहजानन्दस्वभावो ऽहं परमानन्दं विरमादिकम्[१०] एका व्याख्या - **विरमादाविति** तृतीयाभिषेकादौ लक्ष्यत्। यथायोगतः प्रतिपत्तिं कुर्यात् किं विशिष्टं तदित्याह। **आनन्दत्रयवर्जितम्** -आनन्दपरमविरमरहितः तेभ्यो

---

७. पृतक्रणातः, ८. पा. कार्योपचरात, ९. त. सहजस्य नाम व्यापकत्वम्, १०. हेवज्रतन्त्र, २.२.४०.

विलक्षण-रूपत्वेन भिन्न-स्वभावत्वात् एवं सम्यगुपलक्षिते सहजे उपदेशेण भावयतः समाधय उत्पाद्यन्ते। तानाह- **मेघोपमः मायोपमः स्वप्नोपमः स्वप्नजागरोपमश्चेति (१९)। प्रथममिति-** प्रथमाभ्याससमये कथं **मेघोपमः।** तत्र मेघच्छन्नपूर्णचन्द्रवत् अपरिस्फुटत्वात् कथं मायोपमः। तस्य महासुखरसनिमग्नस्य जगन् मायेव प्रख्यानात्। यदा साक्षात् भवति तदा सिद्धः। **सहसेति** - तदूद्र्ध्वं स्वप्नोपमः कथं **स्वप्नोपमः** स्वपटयोरनुपलम्भात्। तस्मात् स्वप्नजागरोपमः। जाग्रतस्वप्नावस्थयोरभेदेन समाहितत्वात्। एवं चतुस्समाधिनिष्पत्तौ योगी कथं सिद्ध्यतीत्याह।

अभेदेत्यादि (२०) रूपादीनां भेदाभावो अभेदः। कथं भेदाभावः, **लक्षणासिद्धौ** सत्यां भेदाभावः। लक्ष्यते ऽ नेनेति लक्षणम् स्वभावस्तस्यासिद्धौ। सर्वभावानां महासुखत्वेन निःस्वभावीकरणात् मुद्रायोगीति **महामुद्रायोगी** सिद्ध्यतीत्यर्थः। **इतीति।** एवंविधा महामुद्रासिद्धिः सेकैर्विना (न) भवतीति।[११] अभिषेखा दातव्या इति हेतोः शास्ता वज्रधरः तदर्थं **मण्डलं** आह। **समुज्ज्वलं** नानारत्नैरलंकृतं **विचित्र - चामरैरिति** नानावर्णचामरैः **वस्त्राच्छादितकन्धरा** इति नूतनवस्त्रवेष्टितग्रीवा **पञ्चरत्नानि (२३)** प्रवाल-मुक्ता - राजावर्ता - स्वर्ण - रौप्याणि **दद्यादिति** स्थापयेत्। **चक्रेशस्येत्यादिना (२५)** पूर्वसेवामाह - **प्रागिति** भूमिशोधनात् पूर्वम्। **अ-कारादिमन्त्र** इति - **अ-** कारो मुखं सर्वधर्माणां आद्यनुत्पन्नत्वात्। **ओं आः हूँ फट् स्वाहेति वलिः** । पूजा ऽ भ्यर्थना गुरोः। **यथाख्यातेति** <u>**तत्त्वसंग्रहादौ**</u> - **वज्रसत्त्व** इति हेवज्रः। **पश्चादिति** - सेकप्रदानानन्तरं विशुद्धं सांसारिकै र्दोषैः। **ज्ञानरूपिणं** सर्वज्ञज्ञानसमं। **संसारव्यवदानेनेति** यत्र ज्ञाने भवनिर्वाणयो **र्नास्ति भेद** इति शेषः सर्वप्रपञ्चातीतत्वाद् इति भावः। एतदेव गाथद्वयेन स्पष्टयति।

परमेत्यादि (३३)। परमरतिः परमा प्रज्ञा प्रभास्वरलक्षणं ज्ञानं तस्यां न **भाव** इति न किञ्चिद् भाव्यं असति, **भावकं** चित्तं तदपि नास्ति, **विग्रहं** शरीरम्, ग्राह्यं परतिभासमानं वस्तु, **ग्राहकं** चक्षुरादि, एवं **मांसशोणितादयो** ऽ पि न सन्ति **तित्थं** क्लेशावरणासंभवं प्रतिपाद्य ज्ञेयावरणासंभवं प्रतिपादयनाह। **न दृश्यमिति,** दृश्यादि [१२] वाह्या भावना न विद्यन्त इति। **निस्तरंगेत्यादि** - तरंगा विकल्पाः तेषां क्षयान् निस्तरंगः[१३], विचित्रो नानाप्रकार प्रतिभासः तस्याभावाद् **अविचित्रमिति** [१४]। एवमुक्ते भगवता **आहेति (३६)** पृष्टवान् वज्रगर्भः।

---

११. त. न भवति, १२. पा. दृश्यापि, त. दृश्यादि, १३. पा. नितरंग, १४. पा. चित्तो नाना --- विचित्रमिति,

किमर्थमाह। **कस्मादित्यादि** । अयमभिप्रायः। सहजरूपत्वेन प्रकृतिपरिशुद्धो देहः। कस्मात् सास्रवो महाभूतात्मकः। सदृशात् कारणात् । सदृस्यैव कार्यस्योत्पादो युक्त इति न्यायात्। प्रभास्वरव्युत्थितवज्रधरशरीरवत्। सहजजनित्वात् सर्वेषां देहः स्यादिति भावः। **भगवान् आहेति।** लौकिक एवायं सुखमात्रं कथं सहज इत्युच्यते। सादृशात्। करुणारूपत्वात्। अत आह। **बोलकक्कोलयोगेनेति (३८)।** स्पृश्यमानकाठिन्यने धर्मः। धर्मिणि **पृथिवी (३८), बोधिचित्तं** शुक्रं, **द्रव**-स्वभावत्वात्। **घर्षणात् तेजः** शुक्रस्य **गमनाद् वायुः।** तत्सुखं आकाशधातुः। अनाभासरूपत्वात्। भवतु पञ्चात्मकता स्कन्धस्य महासुखजनितत्वेनास्रवरूपता तु कस्मान् न स्यात्। अत आह- **तस्मादित्यादि।** संवृतं कमल-कुलिशं जनितं **तत्त्वाख्यं** पारमार्थिकं सहजं। कस्मादित्याह - **मोहाभूत** इत्यादि। महाभूतजनकत्वात् महाभूत इत्युच्यते।[१५] तर्हि कथं प्राग् वर्णित[१६] इत्याह। **सहजेत्यादि (४१)।** आध्यात्मिकप्रज्ञोपायाभ्यां सहजाभ्यां यद् उत्पन्नं अनास्रवलक्षणं तत्सहजं परमार्थशब्देनोच्यते। एदेव स्फुटीकर्तुमाह - **स्वभावमित्यादि।** सर्वधर्माणां प्रकृतिस्तथता भूतकोटिः स्वभाव इति पर्यायाः। तदेव सहजशब्देन प्रागुक्तं न सुखमात्रं किं विशिष्टं तत् सर्वेत्यादि। **सर्वाकाराः** सर्वबुद्धधर्माः संक्षेपः **संवरं** तदाश्रितत्वात्। सर्वधर्माणां, एवमाध्यात्मिक-प्रज्ञोपायजनितं[१७] सहजं आख्याया, इदानीं अनालम्बन[१८]-रूपप्रज्ञोपायजनितं सहजं आख्यातुकाम आह।

कृपेत्यादि (४२) - सर्वसत्त्वेषु आत्मसमताचित्तं कृपा[१९] सैव परमोपायः। सम्यक् संबोधिप्रसाधनोपायरूपत्वात्। स च योगी योगिनां प्रधानधर्मत्वात्। मुद्रा प्रज्ञा कासावित्याह[२०] - शून्यता सवधर्माणां अनुत्पादः। कथं अनुत्पादः शून्यता, आह - हेतुवियोगतः। स्वतः परत उभयतो अनुभयतः सर्वभावानां अनुत्पत्तेः, अनुत्पादलक्षणा शून्यता सैव परमा प्रज्ञा, ताभ्यां अभिन्नं प्रभास्वरलक्षणं पारमार्थिक-संबोधिचित्तशब्देन कथितं न पुनर्[२१] बाह्यमुद्रासुखानुभवमात्रमिति भावः। अतः केवलं उत्पन्न क्रमं योगी भावयन् मन्त्रजापादिकं कुर्यान् न वेत्याह। **न मन्त्रेत्यादि (४३)** मन्त्रः **ओं**-कोरादिः **तपस** त्रिवेलपरिवर्तादिः। अग्नौ घृतादीनां हवनं **होमः** । मण्डलमध्यवर्तिनो **माण्डलेयाः।** मण्डलं कूटागारं, तर्हि मन्त्रजापादिफलं योगिनो[२२] न स्यात् इत्यत आह। **स** इत्यादि। निष्पन्नक्रमक्रमसहज-भावना समाधिमन्त्रादीनां तत्त्वं यथोक्तम्

---

१५. पा. इच्यते, १६. पा. अवर्ण्णित, त. कथं वर्णित, १७. त. प्रज्ञोपायसमाधिजनितम्, १८. पा. इदानीं नालंबन, १९. पा. कृप, २०. पा. कासौ, २१. न पु बाह्य -- १, २२. पा. मन्त्रजापादिमण्डलस्य योगिनो, २३. पा. एवास्य

बोधिचित्तं तदेव समाजः सर्वधर्माणां एकरसमीलनं **तद्रूपो** भवेद् योगी, अयं एवात्र[२३] चतुर्थो महामुद्राभिषेकः सर्वविकल्पमालानां क्षालनात् साक्षात् अनेन। अभिषेकद्योतकः पटलस्तथोक्तः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां दशमः पटलः

एकादशमः पटलः

अभिसंबोधिद्योतकः

मन्त्रनीतौ सत्त्वानां अवतारणाय चतस्रो दृष्टयः पातना, वश्या, आकृष्टिः, स्तम्भना, चेति । **समेत्यादिमा (१)** समा अवक्रा **क्रूराः** सक्रोधा **ललाटी** पुत्तलीभ्यां ललाटाश्रिता **पातना। या वामाश्रिताभ्यां** वामप्रेक्षणी **सा वश्या। या ऊर्ध्वाश्रिताभ्यां** दक्षिणप्रेक्षणी **सा आकृष्टिः**[१]। या तु[२] **नासाजडाश्रिताभ्यां** समुखप्रेक्षणी सा **स्तम्भना।** नासया निःसचल- **रेचको (३)** वायुः[३]। प्रविशन् **पूरकः** पूरिताभ्यन्तरः **कुम्भकः**। प्रविश्य निश्चलीभूतः प्रशान्तः । आसां अभ्यासस्थानान्याह[४] सरसद्रुमः रक्तकुसुमं स्नुहीतरुः सचलतृणं **भ्रान्तिः** संशयः। मारणादृष्टि नोक्ता। कस्मान् नोक्तेत्याह। नात्र कार्यं स्यात्। सत्त्वावतारणार्थं दृष्टयः प्रोक्ता[५] इति। **सप्तावर्तं (१०)** सप्तजन्मा **विरमानन्ददूषकीति** सहजानन्दलक्षणा सिद्धिः। वश्यकर्मिणी **कुरुकुल्ला** विशिष्यते। तस्या साधनं **संक्षिप्तं**। यत् पूर्वं उद्दिष्टं तत् विस्तरेणो-दृष्टिम् । उक्तं द्वादशभिः कल्पैः विस्तीर्णहेवज्रतन्त्रे **इषुः (१३)** सारः। **कार्मुकं** धनुः उत्पलं इन्दीवरं, **अंकुशञ्चेति** सर्वं रक्तवर्णम्। **वज्रो** वज्रधरः तस्य **गर्भो** हृदयं वज्रगर्भः। तस्याभिबोधात् बोधिः स वज्रगर्भाभिसंबोधिः। तद्योतकः कल्पः तथोक्तः।

---

१. पा. या आकृष्टिरर, २. पा. या त, ३. त. नाससाया निःसरन् स रेचको वायुः, ४. त. - आह स्निग्धवृक्षे इत्यादि, ५. हेवज्रतन्त्र, १.११.६.

अभ्यासलभ्यः। अतस्तामाह। **प्रथमेत्यादि (३)** -निशाकाल इति रात्रौ अन्यकाले विपक्षसंभवात्। सिद्धो ऽ हं इति अधिमुक्तिविशेषात्। रात्रौ समाहितयोग उक्तः। तदन्यकाले निरन्तरयोगमाह। **अंघृत्यादि (५), सेवयेदिति,** आराधयेत्, कां आराधयेत?, योगिनीं नैरात्माम्। अन्यरूप इति, नैरात्माविलक्षणरूपः। वज्रगर्भेत्याद्युपसंहारः (८) किल्विषा दोषाः। दाढ्योंत्पादनार्थमाह - **कौतुकेनापि** पक्ष इति मासार्धं **दिनम्,** अत्यन्तसमाहितरूपेण, **अविच्छिन्नमिति** - सकृदिति प्रत्यहम्, एकसन्ध्यायां अभ्यासिता[६] **भयेत्यादिना** प्रत्ययं दर्शयति। **एवमित्यादिना-** एवं **मृष्यमाणा** विमर्षशीला **हितं** कुशलं तस्योदयं **अहितस्या-** कुशलस्योदयं लोकचरित रौरव इति नरकहेतौ लौकिकचरिते। इत्थं वर्तमानानामपि पापिष्ठादीनां महामुद्रासिद्धिः, को ऽ वकाश इति चेदाह। **पञ्चानन्तर्येत्यादि- (१३)।** विकलगात्रा हीनांगाः, **चिन्तयेति** नैरात्मभावनया। धार्मिकाः तर्हि न सिद्ध्यन्तीत्याह। **दशकुशलेत्यादि,** सिद्धिः समाधिलाभः। अत एव **समाहितः।**

मासमित्यादि (१६)। गुह्यमिति गुह्यव्रतं, मुद्रालाभार्थं ततो योगिनी-भिरादिश्यते **बोधिचित्तेनेति त्रिशरणगमनादि देवतारूपचित्तं** देवतायोगः। समयो रक्षणीयादि, एकचित्तता सहजयोगः। **भव्येति** सिद्धिभव्या, **संकल्पो** विकल्पः कृष्टवेति, आकृष्य तामिति वरलब्धां आकृष्टां वा **धैर्यप्रत्ययादिति** धैर्य प्रतिपद्य[७] कस्मादित्याह, **न चर्येत्यादि (२२), व्याख्यातेति** पूर्वञ्चर्यापटले **भीमरूपिणी** कष्टतरत्वात्। **वज्रगर्भ आहेति,** किमर्थमाह, **नैरात्मेत्यादि। मुद्रेति** बाह्यमुद्रा किमर्थं अर्थयत[८] इति **मुद्रया मुद्रयेति द्वाभ्यां** मुद्राभ्यां कथं मुद्रासिद्धिः स्यात्, **स्त्रीरूपं** नैरात्मारूपं, **भगवत** इति हेवज्रस्य, **स्तनं** हित्वेति[९] स्तनद्वयं अपहृत्य **तद्बोलं** कुर्यादित्यर्थः। **तीरेत्यादि (२५)** पार्श्वद्वयं **घणथेति** मुष्कः **किञ्जलकेन** नरनाशया बोलं कुर्यात्।। **महारतेरिति** महारागमयस्य मुद्रासिद्धिरिति मुद्रासिद्धिः। **यस्मादिति,** अनेन क्रमेण **व्यक्तं अव्यक्तस्येति,** उत्पत्तिक्रमभावनायुक्तस्य, तत्र महामुद्रासिद्धिर् देवतादेहद्वये[१०] सिद्धिः। ततश्च विमानचारिणां ब्रह्मादीनां देहः। संवर्तविवर्ताभ्यां उत्पत्तिविनाशाभाक्तद्वद् अयं महामुद्रासिद्धस्यापि न वेत्याह।

उत्पत्तीत्यादि (२७) - उत्पादविनाशाभ्यां नैव बाध्यते। कस्मान् न बाध्यत इत्याह- **उपाय** इति सततं संभवतीति **संभवः**। यावद् आकाशप्रवर्तं नित्यतया नित्य इत्यर्थः। स उपायः, तत्फलं भावनानिष्पत्तौ, अतः **प्रलयः, लयो** हि सर्वभावानां अनुपलम्यः, सा

---

६. पा. अभ्यसिता, ७. त. धैर्यप्रत्ययादिति धैर्यप्रतिपादनार्थं। ८. पा. अर्थिस्यत, ९. पा. कृत्वेति, १०. पा. देहाद्वया,

प्रज्ञा, तस्मात् असौ **भवान्तकी** देहाभिनिवेशस्यान्तकी, ताभ्यां एकरसीभूतं स्वप्नेन्द्र-जालामायामरीचिसंकाशं यावद् आकाशनिष्ठं देहद्वयं महामुद्रासिद्धिः। येनैवं तेन कारणेनास्य प्रलयो नोत्पादः। अपि तु तत्त्वतो न कश्चिद् प्रलीयते। यदि भावरूपः स्यात् तस्योत्पादविनाशौ स्याताम् यावता ऽ प्रतिष्ठितनिर्वाणरूपत्वात् असंस्कृतलक्षणः। तस्मात् कः प्रलीयते तदभावात्। क्षयो विनाशस्य। तदेवं महामुद्रासिद्धस्योत्पादव्ययौ न भवत इति सिद्धम्। स च भावनालभ्यैव। भावना तु कीदृशीत्यत आह। **उत्पत्तीत्यादि-(२९)। प्रपञ्चमिति** आधाराधेयलक्षणं नानाप्रकारं **स्वप्नवत् कृत्वेति**। यथा स्वप्नचित्तं नानाकारेण प्रभाति।[११] तद्वत् कृत्वा **प्रपञ्चैरिति** वाग्विकल्पै र्निःप्रपञ्चयेत्। इत्थं क्रमेणाभ्यस्यतः किं स्यादित्याह। **यथेत्यादि (३०)।** गंधर्वनगरमिति। हरिश्चन्द्रपुरी **तथैव भवतीति।** तद्वत् स्फुटाभतां गच्छतीत्यर्थः। इदानीं निष्पन्नक्रमलक्षणस्य महासुखस्यैव स्वभावो ऽ यं मण्डलचक्रभावनेति प्रतिपादयन्नाह। **महामुद्रत्यादि (३१)। महामुद्राभिषेकः** प्रज्ञाभिषेकः। तेषु चतुर्षु **यथाज्ञातं** गुरूपदेशतो यथाप्रतीतं। गुरूपदेशतो यथाप्रतीतिः किं **तन्महासुखं** साध्यसाधनलक्षणं **तस्यैव प्रभाव** एतन् **मण्डलमित्यर्थः।** प्रभाव इति तन्मय इत्यर्थः **मण्डलं** हेवज्रनैरात्मामण्डलम्। **नान्यसंभवमिति (३२)।** नान्यस्मात् उत्पन्नं। ननु प्रज्ञाज्ञानाभिषेकेषु निःप्रपञ्चलक्षणं सुखमात्रं उपलब्धं यत्। कथं तस्मात् सर्वाकारवरोपेतं मण्डलचक्रं उत्पन्नमित्युक्तम्। सदृशात् सदृशस्यैवोत्पादो युक्तः नैतदेवम्। लोकव्यवहारमात्रं एवैतत् सदृशात् सदृशस्यैवोत्पाद इति। यथा हि आलयविज्ञानवादिनो जगद्बीजाधारत्वेनालयविज्ञानं वर्णयन्ति तद्वत् प्रज्ञाज्ञानाभिषेकप्रतीतं महासुखलक्षणं सर्वधर्मशून्यतेति कृत्वा सर्वबुद्धधर्माधारत्वेन **मन्त्रमहायाने** त्वनुवर्ण्यते। तदेव प्रतिपादयन्नाह। **सुखमित्यादिना रजमिति**[१२] प्रज्ञोपाययोः समापत्तिः **भावः** पञ्चबुद्धस्वभावः। अभावस्तेषामेव निष्प्रपञ्चता।[१३] भवतुप्रज्ञोपायस्वभावत्वेन, श्रीहेवज्रमण्डलस्य सुखरूपता, नैरातममण्डलस्य तु कथं सुखरूपतेत्याह। **वज्रसत्त्व-**इत्यादि, प्रज्ञोपायस्वभावयोश्चन्द्रसूर्ययोः समायोगजनित - बीजोद्भवचिह्नं वज्रं तद्गर्भस्थितं, बीजं सत्त्वं वज्रसहितः सत्त्वो वज्रसत्त्वः। सोऽपि सुखं स्मृतः।

वज्रगर्भ आहेति (३४), किमर्थमाह। उत्पत्तिक्रमस्यैव भगवता सुखरूपत्वेन प्रशंसनार्थम्। **उत्पन्न** इत्यादी **भावनेति,** देवतादेहभावना तया रहितं, **उत्पत्त्या किं प्रयोजनमिति** प्रयोजनाभाव इत्यर्थः। अयं अभिप्रायः। महासुखाभिमोक्षेण मण्डलचक्रभावनया, आयामबहुलया किं प्रयोजनं महासुखेनैव केवलेनाभिमतस्य सिद्धत्वादिति। गौरवं उपदर्शयति। **श्रद्धावेगेन नष्ट** इत्यादि(३५)। **उत्पन्नक्रमे**[१३]

११. पा. प्रख्याति, १२. त. कुन्दुरु, १३. त. निःप्रपञ्चता; त. उत्पत्तिक्रमे,

गौरवं तेन नष्टो ऽ यं उत्पन्न क्रमप्रतिक्षेपात्[१४]। देहेत्यादिना, तदेवोत्पत्तिक्रमं· स्तौति, कुतः सौख्यमिति, नान्यत्र[१५] सौख्यमुपदेष्टुं शक्यत इत्यर्थः। तस्मात् **सुखेन व्याप्तं जगदुच्यते**। न तद्[१६] व्याप्यरूपेणापि तु व्यापकरूपेणापि उभयोर्व्याप्य-व्यापकरूपत्वात्, यथा सुखं बिना न देहादि, तद्वत् देहं विना पि न तदिति। **यथेत्यादिना** दृष्टान्तमाह। यद्येवं मण्डलचक्र - भावनैवास्तु किं केवलया महासुखभावनयेत्याह। **भावो ऽ हमित्यादि (३७)**। भावो ऽ हं, संभोग निर्माणकाय-स्वभावमण्डलचक्रादिरूपतया, **नैवभावो** ऽ हं धर्मकायस्वभाव-महासुखरूपतया, यदि भावस्वभावत्वं मण्डलचक्राकारतया, तदा एकानेकस्वभावरहितत्वान् मण्डलचक्रस्य भ्रान्तत्वम्। तस्मान् न बुद्ध इति भावः। अत आह- **बुद्धो** ऽ **हं** इति। वस्तूनि सर्वधर्मास्तेषां बोधः सर्वाकारज्ञानं तेन ज्ञानेनाहं बुद्धः। तस्मादहं परमगंभीरकायद्वयस्वभाव इति दर्शयितुमाह। **मामित्यादि** - मूढा इति अश्रुतवन्तः कल्याणमित्रपर्युपासनरहिताः। तदेव गंभीररूपं कारद्वयं प्रकटीकर्तुमाह।

विहर ऽ हं इत्यादि (३८)। अमिताभस्य तथागतस्य बुद्धक्षेत्रं सुखावतीत्युच्यते, इह तु नैरात्मादीनां भगानि सुखावतीसंक्षेपाणि निरुत्तरसुखस्य रक्षणात्। तत्राहं विहरामि, एकमहासुखरूपता सूचनार्थं सर्वधर्माणां **ए-कारार्कृतिरूपता**, बुद्धा एव रत्नानि तेषां करण्डके निकेतस्थाने, इदानीं इत्थंविधस्यात्मनो माहात्म्यं द्योतनार्थमाह। **व्याख्यातेत्यादि** ईदृशस्य द्योतको यो धर्मो हेवज्रादिः। **श्रोतेति** शिष्यगुणयुक्तः। **साध्यो ऽ हं** इति। यत् प्राक् साध्यत्वेन च वर्णतः स चाहमेव, **जगतः शास्ता**[१७] संभोगनिर्माणकायाभ्यां अहमेव **लोक** इत्यादि, सुरतोद्भवो लोकस्तस्यैव कारणभूतो बोधिचित्तद्रवो लौकिकः लोकः प्रयोजनं अस्येति कृत्वा संभोगकायस्वभावः, **सोऽप्यहम्**। ननु मुख्यत्वेन महासुखस्वभावत्वं कतम[१८] तदित्याह। **सहजमित्यादि**। विशिष्टं सहजानन्दं, **परमेत्यादि,** परमान्ते विरमादौ यत् तदहमित्यर्थः। ननु साध्यं महासुखमयं सर्वात्मकं यदुत **भगवानिति** प्रागुक्तं संसारिकन्तु [१९] सहजसुखं नैतत् साध्यं तत् कथं [२०] तदेव भगवानिति। **तथा चेत्यादि च- शब्दो** हेतौ यस्मात् तदेव मुख्यस्य[२१] दृष्टान्तिकस्य तथा प्रत्ययसदृशेन दृष्टान्तत्वेन प्रतीतिसाधनं तस्मात् तदेव मुख्यं अयं तु प्रचारः। तदेवाह- **अन्धकारप्रदीपवत्**। क्वचित् यथा - अन्धकारदेश-वर्तिनां घटपटादीनां प्रदीपः प्रतीतिसाधनं तथैव दृष्टान्तत्वेन लौकिक-सहजसुखं एव महासुखस्य साध्यलक्षणस्य साधनभूतं दृष्टव्यम्। विचरे ऽ हं इत्यादिना प्राग् यदुक्तम्। तदेव विस्पष्टयन् आह।

---

१४. त. उत्पत्तिक्रमप्रतिक्षेप, १५. पा. नात्र, १६. त. तद् केवलं, १७. पा. जगस शास्ता, १८. पा. कतम, त. कथं, १९. पा. संरिकम्, २०. पा. कर्म्म, २१. पा. सुखस्य,

द्वात्रिंशद् इत्यादि (४१) - लक्षणव्यञ्जनोज्ज्वलशरीरः प्रभुरिति बुद्धधर्माणां भर्ता, योषिदिति, दृष्टान्तवज्रयोषित्, तद्भगे शुक्रनाम्ना स्थितो ऽहं शुक्रं सुखं बाह्यरेतश्च, **तेन** शुक्रेण विना, अतश्च रेतसि साक्षेयं सुखं उपलब्धम्। शुक्राभावे कारणानन्तराणां तथाविधसुखोत्पादने सामर्थ्याभावात्। देवतायोगादेव सुखं उत्पद्यत इत्युच्यते, तस्मान् महासुखार्थिना देवतायोगो ऽवश्यमेव भाव्यः। यस्मान् मार्गो न भावो नाभावः शुक्रसुखरूपत्वात्। तत्फलमपि **बुद्धो न भावो नाभावः (४३)**। कुतः इत्याह **भुजमुखेत्यादि।** संभोगकायेन रूपी, न रूपी **परमसौख्यतः।** धर्मकायो न वा रूपी, अतश्चाप्रतिष्ठितत्वात्, न भावो नाप्यभाव इति स्थितम्। यत् एवं तस्मात् सहजमयं जगत्, सर्वसत्त्वाः सहज इति को ऽर्थः **स्वरूपं उच्यत** इति धर्माणां प्रकृतिः, सहज इति पर्यायः। तदेव **निर्वाणं** कथं इत्याह। **विशुद्धीत्यादि।** विशुद्धिर् धर्मलाभः[२२] प्रभास्वररूपता, अतः सा चित्तस्य यदा स्यात्[२३] तदा निर्वाणं इत्याह। यदि बुद्धमयं जगत्। भावाभावस्वरूपत्वात्, तथापि कस्मात्, देवताकारभावना क्रियत इत्याह। सत्यमुक्तम्। **देवतेत्यादि (४५), भुजमुखेत्यादि,** देहसामान्यादित्यर्थः। ततो व्यर्था भावना स्यात्। किन्तु इत्यादि, प्राकृतस्य देहान्तरस्य तत्र वासनेति शेषः। तत्र प्रहाणार्थं अनाश्रवस्कन्धवासनापरिपुष्ट्ये देवतादेहभावना क्रियत इति भावः। इदानीं देहभावना चाप्रतिष्ठितनिर्वाणहेतुरिति, दुःसहमेतत्।[२४] तदिदं बहुभिर् दृष्टान्तैः साध्यन् आह। तेनैवेत्यादि स्फोटयेदिति हन्यात्। कथं आयो वातः, अपानं वातहेतुत्वाम्, कथं विपरीतः सहजातीयत्वात्।[२५] अस्य कल्पनविधिः[२६] भावः संसारः शुद्धि परिक्षीणः। **भावेनैवेति,** चन्द्रसूर्यचिन्हपरिणामेन भवतीति भवो देवताकारः, तेनैव क्षीणो भवतीत्यर्थः। **विकल्पः** संसारः। **परिकल्पितो** देवताकारपरिकल्पितः क्षीणो भवतीत्यर्थ। **कर्णे तोय** इत्यादिना दृष्टान्तमाह। **तथेत्यादि,** भावो विकल्परूपः संसारः, आकारैः देवताकारैः **खल्विति** निसंदेह इत्यर्थः, **यथेत्यादि** (४९)। **रागः** क्लेशः ता एवाग्निः, **दग्धाः** पतितप्ताः, **स्विद्यन्ते** परिपाच्यन्ते रागवह्निनेति महारागभावनया प्रज्ञोपाय देहाद्वयलक्षणया, **येन येनेत्यादि, बध्यन्ते** इति बन्धं उपगच्छन्ति **रौद्रकर्म** प्राणाभिघातादि, उपायो महाकरुणा, रागेनेति लौकिकरागेण **मुच्यते** सहजरागेण। **विपरीतं** सपक्षस्यापि विपक्षरूपत्वात्, परमार्थतस्तु नैकस्य रागमात्रस्यापि तु सर्वेषां लौकिकधर्माणां **न ज्ञातेति,** एवंविधा महासुखभावना न ज्ञाता न प्रतीता, बुद्धतीर्थिकैः श्रावकादिभिः। कथं ते बौद्धा इति, बुद्धं शास्तारं उपगच्छन्ति, कथं। तीर्थिकाः[२७], भगवच्छासनसारे वज्रयाने प्रद्वेषात्। इयता मण्डलचक्रभावनया महामुद्रासिद्धिर् इति प्रसाधितम्।

---

२२. त. विशुध्दिर् विमल (आभा), २३. त. तदाकारस्चित्तस्य यदा स्यात्, २४. पा. साध्यमेतत्, २५. पा. एकजातीयत्वात्, २६. पा. अस्य कल्पनात् तस्यैव हिते, २७. पा. कथं ते बुद्धतीर्थिकाः,

इदानी परममहासुखस्यैवानेककुलरूपतेति दर्शयन् **भवेदिति** (५२) भवन्ति, **पञ्चेति** पञ्चविधसंभोगाः। **पञ्चभूतस्वरूप** इति पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतरूपतः। किं पुनस्तानि, एक एवेति पञ्चतामिति पञ्चाकारताम्, **भेदनैरिति** पञ्चमहाभूतभेदैः। **बोलकक्कोलेत्यादि, (५३) काठिन्य** वासना काठिन्यज्ञानं पृथिवीधातुः स एव मोहस्य दृढत्वात्। **तेज** इति, उष्मरागस्तेजसीति रक्तता।। **समीरणरूपं** गतिमत्वात्। अत्र चेर्ष्या इरगताविति पाठात्, **सुखं** सुरतानन्दः, तदेव रागं, असंग[२८] लक्षणत्वात्, तदेव **रक्तं** जगद्रञ्जनात्, तस्याकाशलक्षणं निःस्वभावत्वात्। पिशुन-वज्रो **रत्नेशः** परमार्थप्रकाशनात् पिशुनः, **महाचित्तं** महासुखरूपं चित्तं महाचित्तं पञ्चेति, तत्रेति[२९] तस्मिन् एव, दशगंगेत्यादि, **एककुलेष्विति** , एकस्येव तथागतकुलेषु संघकुलेषु इति **तथागतसंघकुलेषु,** तथागत-संघकुलानां कुलेषु ततः **कुलानि शतानि** भवन्ति, [३०] **लक्षकुलानि** कोटिकुलानि प्रतिस्वं भवन्ति, अन्येषां असंख्यकुलानि[३१] भवन्ति, सर्वाणि तानि परमानन्दकुलोद्भवानि, डाकिन्यो वज्रडाकिन्यः, तासां जालं समूहो मण्डलचक्रं तेन संवरं सुखवरं तस्मात् सिद्धिस्तस्य[३२] निर्णायः।

योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयः पटलः

तृतीयः पटलः

हेवज्रसर्वतन्त्र-निदानसन्ध्याभासो

अथेत्यादि (१)। वज्री वज्रधरः। **सर्वतन्त्रनिदानं** सकलस्य हेवज्रतन्त्रस्याधिकारणं [१] तदेवोद्दिश्यादौ तन्त्रस्य दर्शनात् । **नामेति** तेनैव नाम्ना प्रसिद्धं **उपायं** सम्यक् संबोधिसाधनम्। तस्यैवोद्देशमाह। **संवरेत्यादि-** संवराणि महासुखज्ञानानि **अभिषेकं** चत्वारो ऽभिषेकाः।- अभिसंबोधिभाषणं **सन्ध्याभासं आनन्दं** आनन्दश्चत्वाराः। क्षणभेदं चत्वारः क्षणाः। **अन्यदिति-** निःप्रपञ्चतादिचर्या। चकाराच्चक्षुरादीनां शुद्धिः। **भोजनं** आचार्यस्य,[२] आदिशब्दात् आराधनगाथा। **संवरमित्यादि।** केषां संवरं? सर्वबुद्धानाम्। कथं?[३] महासुखरूपत्वेन सर्वबुद्धानां [illegible]ार्थस्याभावात्। **एवं-क्कारे (३)** धर्मोदयमुद्रायां **स्थितं** कथं ज्ञायत इत्याह, **अभिषेकात् ज्ञायते** इत्यादि ज्ञायते गुरूपदेशात् प्रतिपद्यते। **डाकिनीनामिति** -

---

२८. त. असंग, २९. पा. तत्त्वेति, ३०. पा. कुलेषु ततः कुलानि तल्लक्षणानि भवन्ति, ३१. पा. संख्यकुलानि, ३२. पा. तस्या.

---

१. पा. आदिकारणं, २. पा. आदिरस्य, ३. त. कथमिति शब्दो न विद्यतेऽत्र,

डइ विहायसगमने धातुरत्र विकल्पितः सर्वाकाशचरी सिद्धिः। **डाकिनीति-** डाकिनीच्छयेति [४] भगवता व्याख्याततत्वात्। डाकिन्यो वज्रडाकियोगिन्यः, तासां संवरं संक्षेपवरत्वात्। सर्वतथागतानां कायवाक्चित्तानां एकरूपतासूचनार्थं।

ए-काराकृतिः (४) दीव्यन्त्यस्मिन्त्र् इति दिव्यं **वँ-कारं** [५] वरटकं तेन **भूषितं** शोभितम्। **आलय** इति आधारः। **बुद्धरत्न** इति पञ्चतथागतकरण्डकं तेषां आधाररूपत्वात् **तत्रैवानन्दा जायन्ते। क्षणेति** विचित्रादिभेदेन भेदितः यद्यानन्दा एव भिद्यन्ते। किं क्षणभेदेनेत्याह। **क्षणेत्यादि।** क्षणानां स्वरूपपरिज्ञानात् सुखं आनन्दानां भेद परिज्ञानं स्यान् नान्यन् चेति भाव्यः। तमेव क्षणानां भेदं दर्शयन् आह। **विचित्रमित्यादि (६) -** विविधं नानाप्रकार-चातुर्यं आचार्यपरिकर्म च। **विपाक-मित्यादि-तस्मात्** विपर्यासं च विपरीतं ज्ञानस्येति महासुखज्ञानस्य भुञ्जनं अनुभवं। **विमर्देत्यादि -** आ लोचनं अनन्तरस्य स्मरणं अथवालोचनं ज्ञानस्य प्रत्यक्षता सुखं भुक्तं मयेति, पूर्वस्यावधारणं **विलक्षण** इति त्रिभ्यः प्राग् उक्तेभ्यः, रागारागेति भवनिर्वाणरहितं। **विचित्रेत्यादिना** चतुःसेकेष्वानन्दानां व्यवस्थापनं करोति, आनन्दा अपि प्रतिस्वं आचार्यगुह्य-प्रज्ञाचतुर्थाख्या लभन्त इति भावः। अतएवाह **आनन्दाद्या** इत्यादि - **क्रमश** इति। आनन्द आचार्याभिषेकः परमानन्दो गुह्याभिषेको। विरमानन्दः प्रज्ञाभिषेकः सहजानन्द-श्चतुर्थाभिषेक इति, एवं अभिषेकेषु चतुर्ष्वपि प्रतिपत्तिरूपदेशतश्चत्वारः [६] क्षणा आनन्दाश्च वेदितव्याः। इत्थं चतुःसंख्यातो बोद्धव्याः। **हसितेत्यादिना (११)** सेकानां विशुद्धिमाह। क्वचित् क्रियातन्त्रे देवतानां प्रज्ञोपाययोर् अनुरागसूचकं हसितं तद्विशुद्ध्या **आचार्य** इति आचार्याभिषेकः । क्वचिच् **चर्यातन्त्रे** प्रज्ञोपाययोर् अनुरागसूचकंअन्योन्य-**निरीक्षणं** तद्विशुद्ध्या गुह्याभिषेकः। क्वचिद् **योगतन्त्रे** प्रज्ञोपाययोर् अन्योन्यलिङ्गनं तद्विशुद्धिः **प्रज्ञाभिषेकः**। क्वचिद् अनुत्तरादौ [७] प्रज्ञोपाययोर् द्वन्द्वतन्त्रणं द्वन्द्व-समापत्तिः, तद्विशुद्धिश्चतुर्थो ऽभिषेकः। अतःकारणात् षेकमित्यादि (१२)। **चतुर्विधं** चतुःप्रकारं **ख्यातं।**

कथमत्र [८] **हेवज्रतन्त्रे,** अस्य तन्त्रस्य योगिनीनिरुत्तरत्वेनात्राधिकृतस्य सर्वाधिकारत्वं। अत एव सत्त्वानां **हितहेतवे** हितार्थं, अभिषेकशब्दस्यार्थं दर्शयन् आह। **स्नाप्यते ऽनेनेति** अभिषेकः। **तेनाभिधीयत** इति प्रक्षाल्यते निर्मलीयत इत्यर्थः। **पाणिभ्यां (१३)** तु इत्यादिना। आचार्याभिषेकस्य लक्षणं आह। **घण्टावज्रसमायोगो** हस्तयोः कमलकुलिशयो र्वा यथोपदेशं **आचार्याभिषेकः।**

---

४. त. म्लेच्छभाषया, ५. पा. दिव्य सुकारं ६. त. प्रतिस्वं गुरूपदेशयोगतश्......। ७. पा. क्वचिद् योत्तरादौ, ८. क्व (?),

चारुवक्त्रेत्यादिना (१५) गुह्याभिषेकार्थं प्रज्ञायाः स्वरूपमाह। **ज्येष्ठानामिकाभ्यां** इति वामकरज्येष्ठानामिकाभ्यां समापत्तिरस्यां **शिष्यवक्त्रे** गुह्याभिषेकगाथा पुरस्सरं **निपातयेत्।** एका व्याख्या। अथवा ज्येष्ठा ललना **अनामिका** रसना ताभ्यां शिष्यकुलिशमणिवक्त्रे प्रज्ञाया बोधिचित्तं **निपातयेत्।** तदुपदेशं कथयेति। **कारितव्यञ्च (१५)। तत्रैव समरसं** इत्यादि। तत्रेति तस्यामेव प्रज्ञायामुपदेशः, कथितः। **सम** सममिति। प्रज्ञोपाययोर् बोधिचित्तसंयोगं **शिष्यगोचरं** प्रतीतिविषयं कुर्यादित्यर्थः। इति गुह्याभिषेकः। **प्रज्ञामित्यादि।** तन्त्रविहितलक्षणोपेतं पूजयेदिति प्रथमं **शास्तेति,** गुरुः। विषमकरणभक्षमा[९] न वेति परीक्षणार्थं तन्त्रोक्त वक्ष्यमाणगाथया समर्पयेत्। **गृहणमुद्रामिति (१६)।** धर्ममुद्रा इति प्रज्ञाभिषेकः। **ज्ञात्वेत्यादि। महद्भूतं** महामुद्रासिद्धिभव्यं। **निरीर्ष्यं** अमत्सेरिणं **क्रोधवर्जितं** महाकारुणिकं शिष्यं **आज्ञापयतीति,** उपदेशं कथयतीत्यर्थः। एवं ब्रूते कुन्दुरं कुरु सुरतं महामुद्रासमापत्ति कुरु हेवज्रधृक् वज्रधर[१०] इत्यर्थः। चतुर्थाभिषेकः। इदानीं सेकार्थं शिष्याराधनमुच्यते। **शिष्यकृत्यमित्यादि। अनुनाययेत्। हे भगवन्निति** गुरुस्तुतिः। अद्वययोगेना-वस्थितवान् **महाशान्तं वज्रस्य** कुलिशस्य योगः समापत्तिविशेषः, तस्मन्नेव तत्त्वपरः **तत्परमुद्रा प्रसाधकेति (१९)।**

चतस्रो मुद्राः तासां प्रसाधकः। परिशोधकः शून्यतास्वभावत्वात्। **अभेद्यवज्रास्** तथागताः। तेषां योगः समाधिः, तस्मिन् समुद्भवः। यथेति[११] - यथा यूयं जगद्धितहेतवः। **तदिति** तद्वत्, **विभोः** प्रभोः **पंक** इति (२०) पंकः संसार-संपातः[१२] समूहः, तत्र **मग्नो ऽ हं त्राहीति** त्रायस्व, **अशरणं** मामिति शेषः। **मिष्टेति** सुस्वादं अन्नं, पानं खाद्यञ्चे त्युद्देशः। मदनं **बलमहत्तरं** निर्देशः, **वज्रधारिणं** अद्वयज्ञानधारिणं गुरुं। **परमानन्देत्यादि (२२),** तमुत्पन्नेति,[१३] अतिक्रान्ते **नानात्ववर्जिते** सहजाख्ये[१४] चतुर्थे **महासत्त्वेति** शिष्यं बोधयित्वा, इदं ज्ञानं महासूक्ष्मं इत्यादि वक्ष्यमाणगाथया धारणीयं **महासुखमिति।** आज्ञां यथोपदेशतो दद्यात्, **यावदित्यादिना (२३)** वक्ष्यमाणलक्षणं ज्ञानं सूचयति। इति **दीक्ष्याभिरभिषिच्य** - सर्वक्रियाचयैः क्रियासमूहैः। **वज्रीति** गुरुरेवं ब्रूयात्। किन्तदित्याह, **एतदेवेति।** अभिषेकोपलब्धं सहजात्वान् **महाज्ञानं सर्वदेह** इति(२४) चतुर्मुद्रादेहे **व्यस्थितम्।** अद्वयं प्रज्ञोपायद्वयाभासरहितं **द्वयरूपं** तयोः स्वभावं भावाभावात्मकं इति। परमानन्दविरमानन्दयोः स्वभावं[१५] प्रभुं इति। आनन्दानां त्रयाणां प्रधानभूतं स्थिरं धर्मसमयमुद्राभावना, चलं बाह्यमुद्रासमापत्तिः। ततसर्वं अभिव्याप्य

९. पा. क्षमा, १०. पा. वज्रधरम, ११. पा. तथेति, १२. हेवज्रतन्त्र - II. ३. २० संघाटे। १३. त. संप्राप्त, १४. पा. सहजख्ये व चतुर्थे। १५. त. परमानन्दानन्दविरमानन्दानां स्वभावम्।

तिष्ठत्ययं एव **मायारूपीवेति** नानानिर्माणनिर्मितेव, तर्हि सातत्यमसौ केनोपायेन **यातीत्याह-मण्डलेत्यादि।** आदिशब्देन मुद्राद्वयोपदेशैकवीराधिमोक्षादीनां संग्रहः।

अथेति (२६) मण्डलचक्रशब्देन महामुद्रोपदेशं **मृषित्वेति** क्षमयित्वा। **आहेति** पृष्टवान्। **पूर्यते सर्वबुद्धैरिति** पुरं किं इति कस्मादित्यर्थः। **मण्डलेत्यादि।** मण्डलशब्दः सारपर्यायः। किं तत् सारमित्याह-**बोधिचित्तं महासुखं** इति। सकलक्लेशोपक्लेश-जनितदुःखक्षयरतिलक्षणम्। **आदानं** आत्मीकरणम्। **तदिति** महासुखज्ञानं **मीलनं** सर्वबुद्धसमायोगः, ततः पारमार्थिकमण्डलमित्यर्थः। **चक्रमिति (२८)** महासुखलक्षणं **निवहं** करुणा खधातुः, सर्वधर्मशून्यता **विषयादीनां विशुद्धिः।** तयोर् एकरसरूप प्रभास्वरं **बोलं** महाकरुणामयश्चित्तवज्रः। **कक्कोलं** सर्वधर्माणां प्रकृतिः। यथोपदेशन् तयोर् योगः संयोगः। तेन तस्येति महामुद्रायाः सौख्यं प्रभास्वरलक्षणं प्रतिपद्यत इति भावार्थः। परितुष्टो **वज्रगर्भ आहेति (२९)।** किमर्थमाह। तस्य निरुत्तरस्य योगस्य समयं संवरं चेन् नोक्तम्। तदर्थमाह। **प्राणिनश्चेत्याद्युद्देशः।** असौ च निर्देशः। **एकचित्त (३०)-** मित्यादि। चित्तस्य[१६] प्रभास्वरतापत्तिः एकचित्तता तदेव प्राणिवधम् कथमित्याह - **प्राणमित्यादि।** यतः प्राणभूतं चित्तं अस्यानुत्पाद एव घातः। **लोकमित्यादि। उत्तारयिष्यामीति** मृषा परमार्थतः सत्त्वलोकानुपलम्भात् इति भावः। **योषितो** वज्रयोषितः, तासां शुक्रं अद्वयज्ञानं तदद्वयमार्गभावनया[१७] लभ्यं अतश्चादत्तम्। **स्वाभा** सुन्दरी नैरात्मादिः। स कथं **पटधाराः** परमोत्कृष्टरूपत्वात्। **एषामिति। विषयादीनां मोहवज्रादियुक्तानीति।**

यथा वक्ष्यते, **षडेतानि (३२)** चक्षुरादीनि, विषयिल्लकाः विषयिनश्चक्षुरादयः। **संस्कारान्ता** इति। विज्ञानं मध्ये[१८] पठित्वा, योगिनीनां इति आदिकर्मिकयोगिनीनां बोधय इति, प्रतिपादनार्थं। एषां किं स्वभावमिति। **आद्यनुत्पन्नमिति (३६)।** आदावेवानुत्पादस्वभावः। कथं प्रतिभासन्त[१९] इत्यादि। **सत्यं, (न) मृषेति।** यथा प्रतिभासमानं अलीकत्वान् न सत्यं न मृषा। **उदकचन्द्रेत्यादि,** अन्यस्वभावस्यान्यथाप्रतिभासनात्। **जानत** इति जानीत। **इच्छयेति,** इच्छाविनीतः। **काण्डम्** उत्तरारणी। **मथनीयं** अधरारणी। **पुरुषहस्तव्यायामो** व्यापारः। अकस्मादिति[२०] तेषु विद्यमानेषु अपि नोपलभ्यते। न सत्यमिति। एकानेकस्वभावविरहात्। **न मृषेति।** तथा प्रतिभासमानत्वात्। मनसिकुरुतेति मनसि मनसिधारयेत्। **पिवयति** पापयति। **वज्रामृतम्** बोधिचित्तरसम्। तुष्टे सतीति तुष्टौ

---

१६. पा. एकचित्तस्य, १७. त. तद् आर्यमार्गभावनया, १८. पा. विज्ञानमध्ये, १९. पा. प्रतिभाषन्त, २०. पा. अस्माद्.

सत्याम्। यया चर्यया ऽ त्यन्तनिःप्रपञ्चलक्षणया ऽ नुष्ठितया वज्रसत्त्वो ऽ धिष्ठितः। **अधिष्ठानं दर्शयति** प्रकाशयतीति भावः। तत्त्वप्राप्तिनिमित्तं **तत्त्वम्। पूजा** वज्रं दृढत्वात्। **इच्छया** आदरेण। **भगवतो** भाषितं भगवद्वचनम्। **बोधिचित्तेनेति।** बोधिपरिप्राप्तिचित्तेन। अथवा सर्वधर्मानुत्पादचित्तं तेन तदेवाह। अद्वयज्ञानचेतसेति। **प्रेतालयः** श्मशानम्। **मूर्धजाः** केशाः। **इन्द्रियाणीत्यादि।** देवताकारेण प्राक् शोधितानि। **सर्वविषयस्येति** सर्वस्य ज्ञेयमण्डलस्य। **मोहवज्री** वज्रा। **द्वेषवज्री** नैरात्मा। **मात्सर्यवज्री** गुप्तगौरी। **रागवज्री** वारियोगिनी। **ईर्ष्यावज्री** वज्रडाकिनी, **सन्धिर्** अभिप्रायः। अभिप्रायप्रधानं भाषणं। नाक्षरप्रधानं इत्यर्थः। **महासमयमिति।** गुप्तसंकेतम्। न चिद्रितम्। न लक्षितम्। **हसितेत्यादिना (५४)** अतिगुह्यतामाह। न चतुर्णामिति। क्रिया चर्या, योग योगोत्तरानामिति। **न शब्दितम्,** न कथितम्। **कुलमित्यादि। पञ्चविधं** पञ्चप्रकारं तद् वक्ष्यति। **सन्ध्याभासया बुद्धाः पञ्चकौलिकाः** स्युः। **डोम्बीत्यादि (६२)।** कुलमेव **कुली,** ख्यातेति। **योगिनीतन्त्रेषु** कस्माद् एताः कुलानि यस्मात् सुसिद्धिदाः। **वज्रमिति।** वज्रज्ञानप्राप्तिनिमित्तं। **पूजयित्वेति** । कमलकुलिश - योगेन। **वज्रगर्भेत्यादि।** **महासत्त्वेति** समयपरिपालः। **समयविद्रोहनं**[२२] समयखण्डनम्। ईतयो व्याधयः तेषां उपद्रवं परिपीडा, **स्वसमयविदामिति।** हेवज्रयोगिनां प्राप्य क्षोमं द्वेषं, सर्वतन्त्रनिदानं स सन्ध्याभासं द्योतकः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे तृतीयः पटलः

चतुर्थः पटलः

हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थो

अथेत्यादि (१)। वज्रगर्भप्रमुखाः। वज्रगर्भपूर्वङ्गमाः। **संशयः** संदेहः। कस्मात् संदेहः प्रकृतिगीतनाट्योर् विपक्षरूपत्वात्। **देवाभिषेकत** इति देवाभिषेकपटले। अभिषिच्यमानो मूर्ध्यां[१] स्वकुलेशो भवतीति वचनात्। **मुद्रयमिति** मुद्रणम्। किं बीजमिति कस्य तद्[२] बीजकं कस्मात् देवतायाः, **भ्रान्तिर्** अपरिज्ञानं समाभूदित्यर्थः। **कोल्लगिरिः (६९)** पीठविशेषः। **मुम्मुणिः** क्षेत्र **बोलकक्कोलेति।** तदुपलक्षितयोर् योगियोगिन्योर् दूरस्थयोर् अपि मेलकं सूचयति। **घण** इति निरन्तरं **किपिटं** डमरुकम्। **करुणेति** करुणाया अन्योन्यवाच्छल्यात्[३] न क्रियते

२१. पा. पिवावयति, २२. पा. समयविद्योहनं।

१. पा. मूद्र्धयाम्, हेवज्रतन्त्र १.४.३, २. पा. क तद्, ३. पा. वाच्छय्यात्,

रोलः कलकलः किं तत् न[४] क्रियत इत्याह। **बल** इत्यादि। **गाढेनेति** निर्भरं यथा भवति[५]। **हले** इति योगिनीनां संबोधनं कालिञ्जराः समयिनः। **दुन्दुराः** असमयिनः। चतुःसमादयः समालभ्यन्ते।[६] **तहि** [७]**भरु खाइअ** इति तत्र मेलके निर्भरं खाद्यन्ते। **शुद्धः** परिनिष्पन्नः। अशुद्ध[८] आदिकर्मिकः। तौ उभौ न ज्ञायते। अंगचडावी इति आरोप्यते। **तहिं जेति** तत्र **शराव पणिअइ** इति श्रायो ऽपि प्रवेश्य इत्यर्थः। इयता चतस्रो गाथाश्चतुःपादिकाः। चतसृणां गाथानां अन्ते बूवकं गातव्यम्। तदेवाह। **मलयजेत्यादि** - कोल्लगिरौ शिरिसि स्थितो ऽ हंकारो **बोलः** मुम्मुणि नाभौ, **ओं-कारः कक्कोलः**, तयो र्योगात्, **घणं** निरन्तरं **कृपीतं** अनाहतध्वनिः। **वाजई**[९] इति समुच्छलति। करुणेति योगिना न किअई न क्रियते। **रोला** बाह्ये सुरतं उद्धः तहिं बलेति बलं आत्मभावं खाद्यते (खरज्जई इति)[१०] अनुपलम्भीक्रियते। **मयणा पिज्जई (७)** इति योगजं महासुखपानं पियते। कालिञ्जरो यायुः। **पणिअइ** अन्तः प्रवेश्यते। **दुन्दुराः** रागादयः क्लेशाः। **चतुःसमं (८)** रूपस्कन्धं। **कस्तुरिका**[११] वेदना। सिह्लकं संज्ञानं, कर्पूरं विज्ञानं। **लाइअई** मार्जना क्रियते[१२]। **मालतीन्धनं** संस्कार - स्कन्धं। सर्वेषां अहंकारस्पन्दनं आत्मा[१३]। **तहीति**[१४] तत्र योगे खाद्यते। निःस्वभावीक्रियते इत्यर्थः। **पेखणखेड** इति बोधिचित्तद्रवस्य महासुखादा गतिः प्रेखणं पुनर्गति **खेट**।। **शुद्धशुद्धेति** भावाभावौ न ज्ञायते, इत्यर्थः। अत एव **निरंशुक** साधर्म्यात् निरंशुका रेतोबिन्दवः। **अंग** इति प्रत्यंगनाडीभिर् आरोप्यते। (तहिं) तस्मिन् योगे सर्वधर्मनैरात्मा **सराव पणिअइ** इति, अनुप्रवेशः क्रियत इत्यर्थः। **मलयज**[१५] नाडीनां मेलकम्। **डिण्डिमं** सर्वानुपलम्भ[१६] समाधिः। **न वज्जई इति,** आत्मसात्क्रियते।

नाट्यमित्यादि (९) हेरुकस्य स्वभावो हेरुकमूर्तिः। कथं तेन ? **अमुषित-स्मृतियोगतो** दृढसमाधिः। तदेवाह, **भावनेत्यादि। वज्रधर्मैरिति (१०)** पद्मनर्तेश्वररूपेण, **बुद्ध** इति वैरोचनरूपेण, **मातृभिरिति भगवतीभिर्** नैरात्मादिभिः। **आध्यात्म** इति उक्तलक्षणाभ्यां परमित्यर्थः[१७]। **गणरक्षेति** गणचक्ररक्षा **वशमिति** वश्यम्, अनेनैव मन्त्रजापः कृतो भवति। **घ्राणमिति** गन्धः। **गीतस्याधिष्ठानम्।** योगिनीभिः, तस्य **लक्षणं** चिन्हं, रुतं शब्दः, हंसभृङ्ग्योर् गीताधिष्ठानं शेषतः श्रुयते। **गोमायुः** श्रृगालः। बाह्योद्याने अपि शब्दात् आकाशेऽपि। इयता गीतनाट्यप्रश्नौ प्रत्युक्तै, द्वितीयं प्रतिवक्तुमाह। **मुद्रणमित्यादि (१५)।** मुद्रणं लिङ्गनं अंगं चेति पर्यायाः। तेन मुद्रणेन लक्ष्यते प्रतीयते। एतेन किं स्यादित्याह।

---

४. पा. "न" शब्दो नात्र विद्यते, ५. त. यथाभवति पिवति, ६. त. चउसमा इति समापद्यन्ते, ७. पा. तहिं, ९. त. बाह्यसुरतं न करोति, १०. पा. नुलम्भीक्रियते, ११. त. कच्छुरि, १२. त. मार्जना क्रियते, १३. त. सर्वेषां अहंकारात्मकत्वं सलिज, १४. पा. तडीति, १५. पा. मलएजम्; १६. पा. सव्वानुलम्भ समाधिः १७. पा. परमत्यर्थम्;

व्यस्तकुलभावनादिः कुलान्तरमुद्रितं भावनायोगे सति, न **सिद्धिर्** नापि साधकः समयभ्रंशात्। अतः कुलपरिज्ञाने यत्नः कर्तव्य इति भावः। **नैरात्मेत्यादि (१६)। द्वेषोऽ क्षोभ्यः, मोहो** वैरोचनः, **पैशून्यं** रत्नसंभवः, रागो अमितताभः, **ईर्ष्या** ऽ**मोघसिद्धिः। पुक्कसीमित्यादि,** पुक्कसी शवरी, चण्डाली डोम्ब्यः, द्वेषमोहपिशुनरागैः। **पुनर् गौरीं** इति द्वारपालीं गौरी चौरी वेताली घस्मर्यः। द्वेषमोहपिशुनरागैः क्रमात् भूचरी मोहेन, खेचरी रागेन, **इच्छयेति** भक्त्या ज्ञानीयात्। तृतीयं प्रतिवक्तुमाह, **आलेरित्यादि (२०),** आलेर् आदिर् **अ-कारः, नैरात्मेति** नैरात्माबीजम्। चतुर्थं वक्तुमाह - **कुलपटलमित्यादि। ख्याताः** कथिताः द्विषोडशेति द्वात्रिंशत्, घ्वेध्वेनाली, एकैकयोगिन्यः। क्रमश इति यथाक्रमम्। **ललनेत्यादि (२५)** - नाडीत्रयं नैरात्मायोगिनी पञ्चदशैव योगिन्यः अर्थादुक्तं भवति गेह[१८] चण्टिका, मारदारिकां। खेचरीयोगिनी ति। ननु द्वात्रिंशन् नाड्यः, तदर्थेन षोडशकला [आलिः] कुतः पञ्चदशयोगिन्यः। अत आह - **सर्वेत्यादि।** सर्वशेषां त्यजेत्। नासौ योगिनीस्वभाव इत्यर्थः कुत इत्याह। **षोडशीत्यादि,** न कला यत इत्यकला[१९], तथा हि तिथिक्रमेण शुक्लपक्षे पञ्चदशैव चन्द्रकलाः। आलोकादिभिर् वृद्धिलक्षणार्थं अर्थक्रियां कुर्वन् षोडशी सा तु क्षयहेतोर् अतो यत्नात् त्यज्येत् तां, तत् किं इत्याह बोधिचित्तमित्यादि। **कर्पूरमित्यादि (२७),** किमितिवितर्के । **न त्याज्यं** न परित्याजनीयं, **सर्वयोगिनीति।** सर्वनाडीसंभवम्। सहजानन्दस्वभावमिति सहजानन्दहेतुभूतम्। पुनः पुनरुत्पत्तेरव्ययम्, सर्वदेहेष्वस्थिततत्वात् पीवरम्।[२०] खे योगौ गच्छतीति खगम्। यथा वदसीति न त्याज्यमेतदित्यर्थः।

मण्डलचक्रादीति (२९) - आदिशब्दात् अन्यत्र सयोगभावनया, **स्वाधिष्ठान-क्रमो** निष्पन्न क्रमभावनोपदेशः। क्वोत्पादनीयमित्याह। **स्त्री-कक्कोलेत्यादि। कथं सुखावतीत्युच्यते** इत्याह। सुखस्य रक्षणादिति। ननु सर्वं इदं अधिमोक्षमात्रं संसार एवायं। वयं तु मोक्षार्थिनः। अत एवाह। **एवं एवेत्यादि-(३२)।** संसाराद् ऋते ऽ न्यत्र निर्वाणं न प्रतीतिविषयं गच्छतीति भावः। **अमी धर्मास्तु निर्वाणम्। मोहात् - संसाररूपिन** इत्यादि। स्वलक्षणधारणाद् धर्माः। परमार्थतो निर्वाणं सर्वेषां भूतकोटिः परमार्थतया यद्येते[२१] निर्वाणं कथं संसार इत्याह। मोहात् संसाररूपिणः। मोहो ऽ ज्ञानं स्वरूपाप्रतिपत्तिः। तस्मात् अमूढ इति। प्राप्तगुरूपदेशः। **संसरन्निति** संसारत्तः [२२] **शुद्ध्येति** प्राग् उक्त्या। **निर्वृतायत इति** निर्वाणवत्

---

१८. हेवज्रतन्त्र, १.१.१८, १९. पा. न कलयतीति अकल, त. अकृतार्था अर्थक्रियां न करोति, २०. पा. नात्र शब्दो ऽयं वर्तते।, २१. दि-एते। २२. पा. संसरत्तः।, त. संसारे स्थितः,

भवति। कथमित्याह। निर्वृति बोधिचित्तं हि विवृतिसंवृतिरूपकम्। विवृतिं[२३] कुन्दसंकाशं संभोगकायलक्षणम्। इयता प्रसंगेन कर्पूरस्य महासुख-लक्षणस्यात्याज्यरूपता समर्थिता। उपायो ऽपि तस्य समर्थितः।[२४] इदानीं संवृत-स्योत्पादमाह। **चारुवक्त्रेत्यादि। सिह्लकर्पूरं-संभवामिति।** गुह्याभिषेकादिना ऽभिषेकतां **व्रती** साधकः, **एधनायेति** वर्धनाय। इयता **कर्पूरं न त्यजेदिति,** समर्थितम्। इदानीं विवृतिरूपस्य पुनः कर्पूरस्योत्पत्तिकर्मान्तरमाह।

कर्पूरेत्यादि (४०)। नैरात्मेति निःस्वभावः कुत इत्याह। **सुख-मित्यादि।** यस्मात् कारणात् सुखं, तच्च नैरात्मरूपिणं निःस्वभावरूपिणं इत्यर्थः। **तस्येति** नैरात्मस्य। सौख्यम् प्राप्तिनिमित्तं किं तन् महामुद्रेति परमा मुद्रा आध्यात्मिकीति यावत्। कुत्र सा ऽस्तीति आह **संस्थिते** इत्यादि। **नाभिमण्डले** निर्माणचक्रे। **धीरिति** प्रज्ञा, कर्ममुद्रायाः प्रकृष्टज्ञानजनकत्वात्। **न सेत्यादि** सर्वप्रपञ्चातीतत्वात्। तस्यामिति **उत्पद्यते योगित्वमिति।** अभ्यासकाले **सौख्यं भुनक्ति,** तयेति, तस्मात्[२५] उत्पन्न-क्रमपक्षे सैव मुद्रा सैव सहज इति। तत् प्रतिप्रत्तिहेतुत्वात्। **दिव्ययोगिनी** सैव नैरात्मा सैव मण्डलचक्रं इति सर्वनाडी समाजरूपत्वात्। **सैवाहमिति।** न केवलं नैरात्मामण्डलचक्ररूपा। साहमपीति मण्डलाधिपतिः। **सैवेत्यादि,** नैरात्मेति। किं तस्यास्तत्त्वं स्वरूपमित्याह इति पञ्चमं प्रश्नोत्तरम्।

वज्रगर्भ आहेति। किमाह ? **संवरार्थम्। योगिन्या देहमध्येत्यादि।** देहमध्यन् नाभिः। **अ-कारमिति** आद्यस्वरः। स्थितमिति सदास्थितमेव, संवरस्यार्थमाह। **यथेत्यादि (४९)।** यथा बाह्ये नैरात्माभावना तथैवेत्यर्थः। न तस्माद् दूर[२६] मित्यर्थः। देहे संवृतत्वात् संवरमिति भावः। तदिह यथैव नैरात्मामण्डलं तथैव नाभिस्थो ऽ कारः संवरं नैरात्मायाः। तथा वज्रायतनं **हूँ-कार** उपायकम्। उपायस्य हेवज्रस्य हृदिस्थसंवरं इति भावः। एतेन किं स्यात् इत्याह। **बोलसौख्य-मित्यादि (५०)।** तयोर् बोलाग्रं नाभौ गतसौख्यं[२७] महामुद्रादेहनिष्पत्तिहेतुत्वान् **महामुद्राया इति भावः। अनयेत्यादि। गुह्यसमापत्तिर्** आध्यात्मिक - समापत्तिः। अस्या निर्दर्शनं किं तदित्याह। **बाह्यद्वन्द्वं** नैरात्माहेरुकयोः सुरतम्। **त्रिकायमित्यादि (५१)।** बुद्धानां कायत्रयं त्रिकायं तद्योगिनो देहमध्यस्थं-कथ्यते। त्रयाणां परिज्ञानं समताज्ञानं स्वाभाविकः कायः **[कायः],** स महासुखचक्रमित्यर्थः। कायत्रयस्य संवररूपेण महासुखचक्राकारेण निर्दिश्यत इत्यर्थः । चक्राणां नामान्याह।

---

२३. पा. नात्र शब्दो ऽयं विद्यते, त. विवृतिं महासुखस्वभावं। संवृत्तिं कुन्दसंकाशं, २४. पा. संबन्धितः, २५. त. यस्माद्, २६. पा. दूरम्, त. हीनम्; २७. पा. अक्षयोर् तयोर् बोलाग्रगतसौख्यम्,

धर्मेत्यादि । योनीत्यादि। **अशेषेत्यादि** - यत्रेति योनौ। गीयत इति प्रकथ्यते। तत्र स्यात् इति भवेत्। निर्माणमिति[२८], साधर्म्यान् निर्माणं। अथ च बुद्धानां यावद् संसारस्तावदेव निर्माणकायेनावस्थानं, तत स्थावरः। अतः स्थावरत्वेन साधर्म्याद्योनिरेव तस्य स्थानम्। अतएवाह उत्पद्यत इति। **धर्ममिति** चित्तमात्राः सर्वधर्माः। अतो धर्मकायस्य स्थानम् चित्तस्थानत्वात्।। **संभोगमिति** - भुञ्जनं उपभोगः रसनं[२९] कण्ठत इति वर्तते। संभोगसाम्यात् तत्र संभोगकायः बोधिसत्त्वानां धर्मरहस्य देशना महासुखमिति। **महासुखकायश्चतुर्थः**। शिरसि स्थितमिति मस्तके स्थितम्। एवं चत्वारि चक्राणि। यथा कायानां संवरः तथा फलानां निकायानां चेति प्रतिपादयन् आह।

एवमित्यादि (५६)। **एवं-कारो** योनिचक्रम्। किं तत्रेत्याह-निष्यन्दफलम्। **धर्मचक्रे विपाकफलं** संभोगचक्रे पुरुष्कारफलं, महासुखचक्रे वैमल्यफलम्। कथं **कर्मफलं** उपभुक्तं कश्च ददातीत्याह कर्मभुग् इति। कर्मफलं तस्योपभोक्त्री प्रज्ञैव नात्मादि। कर्ममारुतो वातः। स च कर्मैव[३०], नान्यः। **आत्मेश्वरादि**। निःस्यन्दादीनां कर्माणां लक्षणं कथं ज्ञेयमित्याह। **यथेत्यादि(५८)**। कर्ममुद्राभावनया प्रपञ्चलक्षणया तदनुरूपता प्रपञ्चचर्यया वक्ष्यमाणया संहरणस्फुरणादिना यथा आत्मनो[३१] वज्रधरकायो जगदर्शकारी कृतः। तथायं भुञ्जनप्राप्तो निःस्यन्द इति शब्दितम्। निःस्यन्दो हि हेतुसदृश इति वचनात्, विपाकमिति। तद्विपर्यासं सदृशात् विपरीतम्। तल्लक्षणं धर्ममुद्रायां अस्तु। तथाहि धर्ममुद्रायां मायोपमसमाधिना निःप्रपञ्चचर्या यां विहारन् सन् स्वल्पे ऽपि कर्मणि महत् फलं वज्रधरपदं प्राप्नुयात्। महामुद्रायां संभोगे च पुनः पुरुष्कारफलं तथा ह्यत्यन्त निःप्रपञ्चचर्यया आत्मनः पौरुषेयं साध्यं फलम्। अतः पुरुष्कारफलं हीनवीर्याणां तत्राधिकाराभावात्। **वैमल्यमिति**। योगो महामुद्रायोगः। तस्य विशुद्धिः सेकानन्तरं **महामुद्रासिद्धिः**। तथाहि अस्य कल्पासंख्येय[३२] - भावनाविशुद्धधियां अधिमात्रेन्द्रियाणां भावनानिरपेक्षैव महामुद्रासिद्धिः। फलं महासुखचक्रे स्थितं, **स्थावरीत्यादि (५९)**। स्थावरत्वयोगात्, निर्माणचक्रे स्थावरीनिकायः। सर्वः सन् वादोऽस्मिन्निति **सर्वास्तिवादः**। स च चित्तचक्र एव। कुत इत्याह। वादानां समुद्भवः कारणम्, धर्म्मः संविद्योयागात्। **सम्विदी** । षड्रसानां सम्वेदनात्।। महत्वात् सर्वधर्माणां संघटत्वात्। महासुखचक्रं महासंघी। अतएवाह - के शिरसि सर्वेषां उपरि स्थितम्। **यत** इति यस्मात् तस्मान् महासंघीभावः।।

इदानीं **अन्यत्संवरान्तरमाह**। **निकायमित्यादि (६१)** निकायो भिक्षुसंघो। तत्संवर - योगिन कायः सर्वधर्मारत्वात्। **उदरम्** मातुः कुक्षिः। **वीतरागो** जन्मकाले

२८. पा. निर्म्मिति, २९. पा. रसनाम्, ३०. त. कर्ममारुतो कर्मवशः, ३१. पा. सिच्, ३२. पा. कल्पसंख्येय -, त. असंख्येया- प्रमेय -,

योनियुक्तस्य रागाभावात्। उज्ज्वल[३३] अम्लानं ध्वननमन्त्रमिति। मन्त्रमुच्चारयन्। **नग्न** इति अबद्धकच्छः। आभिरित्युक्ताभिः। **दशभूमीश्वरा** इति। जन्मनः पूर्वं भूमय इति। एवं भरतीति भगवद्वचनं सत्त्वा बुद्धा एवेति। **खितिजलेत्यादि।** खिति निर्माणचक्रंजल - धर्मचक्रं। पवनो महासुखचक्रं। हुताशनः संभोगचक्रं। **तुह्ये** इति। यूयं लोचना मामकी, पाण्डुरवासिनी ताराः, **भाजनीभूता** [भूता] देव्यः। किमनेनाधिगच्छत [३४] हो सुरय नैरात्म्य त्वं इह साक्षीभूता तिष्ठसि, नाहं मृष्यावचनं ब्रवीमि। [३५] कस्मात् यूयं मूर्च्छिताः। अथ कस्मात् इदं परमरहस्यं उच्यत[३६] इति चेत्, **पवञ्चमीति** प्रपञ्चामि विस्तरयामि। **तत्त्वकथां** परमार्थकथाम्। को ऽपि न **जानितमिति** [३७] परमकरुणया, यूयं पुनरर्थतत्त्वप्रवीणाः, कुतो विस्मयमापन्ना इति भावः। एका व्याख्या।

खितित्यादि (६७)- कमलकुलिशयो र्योगे प्रथमतः काठिन्यज्ञानं पृथिवीधातुः[३८]। द्रुतज्ञानं अब्धातुः[३९]। चालनापरिपाकस्तेजोधातुः। शुक्रसंभावो वायुधातुः। एतेषां भागिन्यश्चतुर्णां अन्यतमान्यतमस्वभावा यूयं महासुखज्ञानं सुरयः[४०], तदेव वज्रधररूपम्। **प्रपञ्चामीति** सत्त्वेभ्यः कथयामि। कुतो युस्मानैतत् तत्त्वं को ऽपि जानाति। अतश्च **जीवप्राप्ता अनुभवन्निति।** यद्येतत् तत्त्वं सत्त्वानां प्रतिपादार्थमुक्तम्। प्राक् तर्हि कस्मादुक्तं सत्त्वा बुद्धा एवेति, सुविशुद्धधर्मधातुरूपत्वात्। **किन्त्वित्यादि। एवमेततदिति। योगिनीनां** वचनं न मृषेत्यभ्युपगमः[४१]। यदि मलैराच्छादिताः, कथमेषां मोक्ष इत्याह। **घुम्म**[४२] इत्यादि, घुर्ण्यते गरलस्य विषस्य भक्षणे सतिं लोकः, यो न चेतनो विषतत्त्वाभिज्ञः। **मोहविवर्जितो** विषतत्त्वपरिज्ञानात्। विषनाशनतत्त्वे मनो ऽस्येति **तत्त्वमनाः**[४३], तस्यैव परं त्रुट्यते शोकः। एष दृष्टान्तः। दृष्टान्तिकमाह।

तथेत्यादिना (७२) - निर्वृतिर् मोक्षः। हेवज्रे कृतश्रमाः। क्लिष्टं अज्ञानं अविद्या आदिशब्दात् क्रोधलोभादयः। सांवृतेषु धर्मेषु इदं सत्याभिनिवेशो **मोहः,** च-एव[४४] बन्धनानि, **किञ्चाबुद्ध** इत्यादि। **सम्बोधात्** इति संवेदनात्। **स्वस्येति,** आत्मनः स्वस्य चेति महासुखस्वभावस्येत्यर्थः। स्वभावदर्शनमेव शून्यतादर्शनं तदेव बोधिः, या पृथगजनतथता सा स [सर्व] ज्ञतथतेति [४५] वचनात्। बुद्धा एव सर्वसत्त्वाः। ननु येषां निरुत्तरं सुखसंवेदनं देवादीनां ते भवन्तु बुद्धाः। न च नारकादीनां तथाविधसुखसंवेदनं अस्तीत्यत आह। **नारकेत्यादि, नित्यमिति** सर्वकालमिति।

---

३३. पा. उज्ज्वल, त. अस्खलन, ३४. पा. किमेन्ना-; ३५. पा. साक्षी भुज तास्थ-; ३६. पा. उद्यत, ३७. पा. प्रति, ३८. पा. पृथीधातु, ३९. पा. अप्धातु, ४०. पा. सुरतः, त. सुरयः, तुलनार्थं दृष्टव्या पृ. १.३१, ४१. पा. अभ्युगमः, ४२. घुण्णी (?), ४३. त. नास्ति भागो ऽयं - "लोकः यो...... तत्त्वमनाः", ४४. पा. त एव, ४५. पा. सज्ञतथतेति,

ननु कुतः, सर्वकालं तेषां सुखं सामग्रीजनितं, सुखं समायोगाद् भवति, **वियोगान्नेति** चेदाह। **स्वभावत** इति प्रकृत्या सुखिनः। **सुखजात्या** साम्यादित्यर्थः। ननु यादृशं देवादीनां सुखं तादृशं तारकादीनात्रास्ति। माभूत्। न जानन्ति यतः। सौख्यं देवस्याप्यसुरस्य च, न खलु बुद्धाः। सुरासुरसुखं सुखरूपत्वेन पश्यन्ति, अनित्यत्वेन सास्रवत्वेन च दुःखमिति मन्यन्ते, तस्मान् महासुखमेव। सुखं तच्च सर्वेषां प्रकृतिरूपतया तुल्यम्। न **बुद्धमित्यादि (७५),** युक्त्यन्तरमाह। **अन्यत्रेति।** **उक्त**लक्षणाद् बोधिचित्तादन्यत्र चित्तमेव हीति बोधिचित्तम्। नान्यत्रेति दर्शितम्। **चण्डालेत्यादिना (७६)** तन्त्रस्य माहात्म्यं दर्शयति। मारणं एवार्थं अर्थोत्पत्तिहेतुत्वात्। तेनार्थेन जीविकाः।[४६] **हेवज्रमिति - हे-कारमिति** महाकरुणां वज्र सर्वधर्मशून्यतां। **आगम्य**[४७] अभ्यन्तर-क्रमेणामुखी कृत्य, इमामिति हेवज्रोक्तामुपपत्तिम् भवचारकः बन्धनागार इत्यर्थः। इयता प्रश्नस्योत्तरम्। इदानीं मुद्रणे कस्यचिद् विपरीतसंभावना स्यादिति तदुत्तराणि भवन्ति। **पृथ्वीत्यादि (७९)।** अनुप्रश्न-श्लोको वज्रगर्भस्य **कक्खटत्वं** पृथ्वी तच्च मोहकायश्च तावुभौ वैरोचनः। तेनैव मुद्रणं युक्तं नान्येनेति प्रश्नार्थः। **तस्मादित्यादि-यत्र** एवं अतः कायस्वभावा[४८] पुक्कसी चित्तेनैवाक्षोभ्येनैव मुद्रयेत्।

आपधातु[४९] (८१), **शवरीत्यादि।** तस्माच्चित्तमेव मोहो वैरोचनः। **तेजश्चण्डालीत्यादि। रागमुद्रणेति** - अमिताभमुद्रेण **रक्तमिति** स्त्री - पुष्पं रत्नसंभवः। **पिशुनेनेति** रत्नसंभवेन। **डोम्बीत्यादि** वायुरूपं वायुस्वभावः। **रागं हित्वेत्यादि।** न स्यात्र भवेत्। रूपमित्यादि, पूर्वोक्तेनेति,। पुक्कस्यामुक्तेनेति, इदमुत्तरम् - **चौरीत्यादि,** एवं घस्मरी चेति, शवरी चण्डाली डोम्बी प्रश्नेषु यथोक्तम्। अविपरीत-मुद्रण मित्यर्थः। **एमित्यादि (९०)** संगीतिकारवचनम्। **समासीनो** नैरात्मासमापन्नः। **वज्रसत्त्वो** हेवज्रः। **दिशेदिति** देशयति। इन्द्र यम जल यक्षेति दिक्पतीनां संबोधनमिदम्। भुद् वह्नि वायु रखेति विदक्पतीनां, **चन्द्रेति** चन्द्रः। **सूर्येति** सूर्यः। **मादेति** पृथ्वी माता, **वप्पेति** पिता **अट्ठेति** अष्टौ नागाः। **स्वाहेति-** स्वाहाशब्दः प्रीणनार्थः। **एदमिति** - इदं बलिं। **भुञ्जेति (९२)** भङ्क्ष्व **जिघेति** - जिघ्र। किं तदित्याह - फुल्लधूपेति पुष्पधूपौ **मांसविङ्घेति**[५०] मांसमांसीयं वेङ्घय वर्धय[५१] अम्बकारिज्ज सर्वसाधेति अस्माकं कार्यं सर्वं साधय, खान्ति खुणि तत् स्फोटय[५२] गात्रात्। एवं बलिदानेन S नुसंशामाह। **शुभायेति** स्वपरयोः शुभार्थं अनाविलं निर्मलं मनः[५३]। जगतः सुष्ठभूतिसंपत्तिः। **एभ्य** इति।

---

४६. पा. तेनार्थः जीविकम्, ४७. पा. अगम्ये, ४८. पा. कायस्ववा, ४९. पा. आपधातु, ५०. त. मंसिपङ्घ — मांसपिङ्घ, ५१. पा. चेङ्घय, त. आत्मनो मांसमुत्पादय वर्धय, ५२. पा. स्फेटय, ५३. पा. निर्म्मलं मनः, त. निर्म्मलं.

ग्निस्तत्कोण आग्नेयकोणः **राक्षसायमिति** नैऋत्यां **मारुतो** वातः, वायव्यकोण इत्यर्थः। अत्राप्युपदेशतो भिन्नयोगः। ततो **वज्रीत्यादि (१९)। त्वया मयेत्यस्यानन्तर** दृष्टव्य **सविद्ययेति,** नैरात्मया सह द्रुतापत्रं ध्यायात्। यत इति विनयान्तरं [5] देव्यः पुक्कसी शवरी, चण्डाली, डोम्ब्यः। स्वदिगागताः स्वासनेषु निपन्नाः चोदयन्ति प्रेरयन्ति क्रमसमाधे र्व्युत्थाय। **नानागीतेति** पृथक् गीतोपहारेण तत्र पुक्कसी तावत् प्रथमं चोदयति। **उट्ठ भराडो** इति (२०)। उत्तिष्ठ भगवन् इति, **करुणमण्डेति** करुणामयमना, पुक्कसी **महुमिति** पुक्कसीं मां परित्राहि इति परित्रायस्व। **महासुहेत्यादि-महासुखार्थं** योगः द्रवोद्भव। हेवज्रमूर्तिः तेन कामय मां **छाडहि** त्यज। **सुन्नसमाहि** आकारशून्यं द्रुतसमाधिः (१-२०)।

ततः शवरी **तोह्या विहुण्ण**[6] **(२१)** इति-त्वया विना मरमीत्यर्थः। म्रियेऽहम्। **उट्ठ तुहुं हेवज्रेति** उत्तिष्ठ त्वं हेवज्रेति। **छाडहि** सुन्नसहावडा इति - त्यज द्रुवरूपतां **शवरी सह्यउ** [7] **कज्जेति** शवर्याः कार्यं सिद्ध्यतु। **ततश्चण्डाली लोअ निमन्तीति** लोकान् निमन्त्रय सुर अप्पहु हे सुरतप्रभो शून्येन द्रुतापत्तया **अच्छसीति** तिष्ठसि कस्मात्। **हौं**[8] **चण्डाली विन्नमीति (२२)**। अहं चण्डाली विज्ञापयामि, **तइं विण्ण उउमि न दिस** त्वया विना ऽहं दिशो न पश्यामि यः सत्वान् दुःखाद् उद्धरिष्यति। ततो डोम्बी इन्दि आली **उट्ठ तुहं इति -** हे ऐन्द्रजालिक उत्तिष्ठ त्वं नाहं ऐन्द्रजालिक इति चेदाह। **हौं जाणामि तुअ चित्त** - जानाम्यहं तव चित्तम्। अम्भे डोम्भी च्छेअमण्ड - वयं डोम्बिका नागरिका जानाहि मा **[कर] करुणाविच्छेत्तेति** - करुणापरिच्छेदं द्रवरूपतया मा कार्षाः। इदानीं द्रवरूपसमाधे र्व्युत्थितस्य भगवतः षोडशभुजस्थितचिह्नान्य-भिधीयन्ते। **हस्त्यश्वेत्यादि (२४) - शरभः** सिंहः। **उतुको** बिडालः। **द्विपादय इति** - गजादयः **तेजो वह्निः अन्तको** यमः **धनदो** वैश्रवणः। **श्रृङ्गारेत्यादिना (२६) - नवनाट्यरसा उच्यन्ते** - इदानीं चोदनानासमनन्तरं द्रवसमाधिव्युत्थानमाह। **अँ हुँ भ्यां इत्यादि (२७)** - द्रवसमाधिपरिणामज-चन्द्रसूर्योपरि **अँ-हुँ** - परिणतकर्तृकपालमध्यचन्द्रसूर्य स्थिताभ्यां महावज्री श्रीहेवज्रः। **कथं उत्थितमित्यादि।** इदानीं निःसृत्या इन्द्रादि गौरीत्यादि[9] - उत्सृजेद् देवी गणस्य यथाक्रमं बीजान्याह। **गं वं चं घं पं शं चं हं। बीजैरुत्सितदिति**[10] **(२८) सृजेदिति** उत्सृजेत् **आसामिति** - गौर्यादीनां बीजान्येतानि - इदानीं अं-हुं-भ्यां इति यदुक्तं तस्यैव विशेषमाह। कि विशिष्टाभ्यां[11] **अं-कार-हुँ**-काराभ्यां अधिपति र्मण्डलाधिपतिः। रतिः प्रीतिः। तस्य **भार्या** नैरात्मा अनयो र्बीजाभ्यां

---

५. त. द्रवापत्रानन्तरम्, ६. पा. (?) तोझविहुण्ण, ७. पा. (?) सिझौ, ८. पा. हं उं, ९. पा. इन्द्रादि गौरीत्या, त. इन्द्रादिदिगाश्रित्या गौर्यादया, १०. त. उक्तम् , ११. पा. त. कीदृशो विशेष इत्याह अथवा किं विशिष्टम्।

सर्वतन्त्रे सहजलक्षणस्य तत्त्वस्योक्तत्वात्। अत्र को विशेष इत्याह। **गोपितमित्यादि** - एतद् वक्ष्यमाणलक्षणं प्रज्ञाभिषेकं ।सर्वे तन्त्रे गोपियतव्यं तर्हि प्राक् किं तत् प्रकाशितम्। **अन्तं अन्तमित्यादि** - आचार्यगुह्याभिषेकौ प्रकाशिताविति भावः। यस्माद् अयं प्रज्ञाज्ञानाभिषेको न प्रकाशितः। प्राक् अतः कारणात् पृच्छति **तत्रेति (६७)** प्रज्ञाज्ञानाभिषेके, सेकस्यान्यस्य उदकमुकुटादेः सर्वस्यैव तुल्यरूपत्वात्। चतुर्ष्वभिषेकेषु वज्रपूजाप्रयोगतो विशेषमतः। तत्र पृच्छति तत् क्षणं कीदृशमिति ? क्षणशब्देनात्र क्षणस्वरूपप्राप्तिश्चाभिधीयते, संगीतिकारस्य वचनम्।

भगवान् आह - आइ न इत्यादि (६८)। आदिः परमानन्दः। **न मज्झिम** नापि मध्यमः, प्रथमानन्दः । **नान्तो** विरमानन्दः।। **नउ भव नउ निर्वाण इति**। त्रयाणां यथायोगं भवनिर्वाणरूपत्वात्। **एहु सो** इति-एष स इति वक्ष्यमाणलक्षणः। **परममहासुह** इति सहजलक्षणः। **नउ पर नउ अप्पाण** इति ग्राह्यग्राहकवर्जितः। अथवा आइ न अन्त न मज्झ तहीति। आदौ क्रियत इति। **आदिराचार्याभिषेकः** अन्त **प्रज्ञाभिषेकः** । मध्ये **गुह्याभिषेकः** । तद् अयं न भवतीत्यर्थः। कुतो न भवतीत्याह। **नउ भव नउ निब्बाण भवन्त्य अनेन बुद्धगुणा** इति भगवतो मार्गः। आचार्यगुह्याभिषेकौ भवः निर्वाणः, तृतीयस्तत्प्राप्तौ कृतकृत्यरूपत्वात्। एहु सो इति एष स प्रज्ञाज्ञानाभिषेकः किं तत्र इत्याह। **नउ पर नउ अप्पाण** - अत्र प्रज्ञोपाययोर् अनु [प] लम्भात्,[१९] अद्वयप्रकाशः। कथं तदुत्पद्यते इत्याह - **स्वसव्येतरेत्यादि- (६९)। सव्यं** दक्षिणं। **इतरो** वामः। **पाणेः** प्राणस्य वृद्धा ललना। **अनामिका** रसना। ताभ्यामिति द्वाभ्यामिति द्वाभ्यां संभोगे संभूञ्जनार्थं लहरीद्वयं वामदक्षिणवायोर्[२०] गतागतं एतेन किं स्यादित्याह- **पश्चादित्याह (७०)।** न केवलं [प्रज्ञा] - ज्ञानाभिषेककाले, पश्चादपि बाह्यप्रज्ञां विनाप्युत्पद्यते। **ज्ञानमिति** - अद्वयलक्षणज्ञानम्[२१]। **कुमारी सुरतं यथेति** सेकान्तरेष्वनुपलब्धपूर्वम् मूर्खस्य स्वप्नयथेति वाग्गोचरातीतम्। अथवा **संभोगचक्रे**[२२] प्राणवयोर्लहरीद्वयम्। **वृद्धा** ललना। **अनामिका** रसना। ताभ्यां पीडयेत्। एतत् प्रयोगद्वयम्। **आम्नायात्** गुरूपदेशाद् बोद्धव्यम्[२३]। किं पुनस्तत्रोत्पद्यत इत्याह। **परमान्तमित्यादि** शून्याशून्यं प्रज्ञोपाययोरेकरसरूपत्वात्। एतदेव ज्ञानं हेरुकशब्दवाच्यम्। शून्यताकरुणयोर् अद्वयरूपत्वात्। हेवज्रस्याभ्युदयः। उत्पत्तिस्तद्योतकः पटलस्तथोक्तः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे पञ्चमः पटल।

---

१९. पा. अनुलम्भात्, २०. पा. - वयो, २१. पा. अद्वयज्ञानं लक्षणम्, २२. पा. संभोगश्चक्रे, २३. पा. बोद्धयम्.

हेवज्रपटविधान नामको षष्ठः पटलः

देवीमित्यादि (१) - कक्षाविति कुचयोरधः।[१] **पञ्चमुद्रामिति** - चर्याकाले गणचक्रादौ वा पञ्चानां मुद्राणां अभिसन्धिः। विधानं उपायः क्रिया आचारः। **समयीति (७)** समानसमयी, **घोरमिति** भयकरं नरकस्थैरिति नरकपालस्थैः कुर्वेति कुर्विकया[२], **गुरुमिति** गौरवेण समयाधिष्ठानयोगो देवीरूपभावनम्। भक्ष्यन्निति भक्षयता निजमुद्रां स्थाप्य वामेन लिख्येदिति सम्बन्धः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे षष्ठः पटलः

भोजनपटलः सप्तमः पटलः

अथेत्यादि (१) - कथमिति[१] कीदृशम्। **महामधुकृतेनाञ्जनेन** मसीं **महामधुमसीं। दुन्दुरो** विहेठकः **न सिद्धिः स्यादिति** साधकस्यापरलोको जन्मान्तरम्। सम्प्रदायमुक्तो हेवज्राधिमुक्तः। **कदाचनेति** कदाचित् अध्वगोचरे अध्वगमनसं[२] **आदिशेदिति** देशितवान्। भोजनशब्देनाप्रपञ्चचर्या गणचक्रविधिश्च कथ्यते । **यत्रेति** गणमण्डले चर्यायाञ्च। **सर्वकामार्थसाधकी** महामुद्रासिद्धिः। चर्यायाः स्थानविशेषमाह। **श्मशानेत्यादि (७)। गिरिकुञ्जेषु** गिरिगुहासु **नवाख्यं** नवसंज्ञकम्। **समयस्येति** गोकुदहनादेः। **भुक्त्वा** भुक्त्वेत्यादि। **मातर** इति। **चक्षुः**[३] श्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनांसि। नृत्यगीतवाद्यादिभि र्निर्भरं[४] पूजयेत्। तदेवाह। यदि **वा मातेत्यादि।**[५] मात्रादिशब्दैः पञ्चेन्द्रियानि अभिधीयन्ते। तानि शब्दरूपरसादिभिः पञ्चकामगुणै र्तर्पयेत्। इयमेव हि तत्र स्थानं देवीनां[६] निरुत्तरा पूजेति। कथं मात्रादयः चक्षुरादय इति चेत् तथा चोक्तं **बुद्धकपाले योगिनीतन्त्रे** अथातः संप्रवक्ष्यामि

> **अशुद्धचित्तशोधनात् भगिनी भवेच्चक्षुर्**
>
> **भागिनेयी श्रोत्रमेव च जननी भव्यते घ्राणम् ।**
>
> **रसना दुहिता तथा मनो भवेद् भार्या ।। १ ।।**

---

१. पा. कक्षविति कचयोः, त. कक्षाविति बाह्वोरधः, २. पा. कुर्वेति कुर्विकया.

---

१. पा. कतमं इति; २. त. अध्वगमनावकाशे; ३. पा. चक्षु; ४. पा. न्निभरम्; ५. पा. मोतेत्यादि; ६. त. एषु स्थानेषु स्थितानां देवीनाम्

पूजयेन् (१२) निर्भरमिति निरुत्तरं अनुभूयात्। **एकखण्डं** इति महानरकं द्विजकपालं दद्यात्। प्रथमं पश्चात् पिवेत् भोजनद्योतकः पटलस्तथोक्तः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे सप्तमः पटलः

विनेयनामको ऽष्टमः पटलः

तत्रेत्यादि (१)। **महामुद्रा** प्राग् अभिहितैव इदानीं प्रपञ्चचर्यायोगिनो यया सार्धं महामुद्रासिद्धिः सा कीदृशी ? अतः आह - **संवृत्येति**। लोकव्यवहारेण आचारः प्रियवादादिः। रूपं वर्णाकारशोभादिः । **मृगनाभिः (३)** कस्तूरिका **समप्रभं** तुल्यप्रतिभासं **इन्दीवरं** उत्पलं **क्षणादिति** [१] कदाचित् **आचरेद्** उद्वहेत्। **सिंह्लकं** (४) तुरुष्कं **तस्या** इति देहस्य **वायसागुरुः** [सुगन्ध्यगुरुः][२] **मनोरमेति** मनोज्ञा गंभीरधर्मपाटको हेवज्रपाठकः। **वैनेयं** इति विनेयत्वम्। **पोषधं** पूर्णमास्यादौ स्वःसूर्योदययावद् अष्टशिक्षापदम्। **दशेति** [३] यावज्जीवाधिकारं कायवाक्मनो[४] दुश्चरितेभ्यो विरतिलक्षणं विरागाय **भाषा** विभाषा सैव **वैभाष्यम्**। तच्च श्रावकयानं। अवदानशत्कत्रिदण्डकमालादिकम्। **सूत्रान्तमिति** - अनभि गंभीराणि सूत्राणि सूत्रान्तानि एकगाथा चतुर्गाथा उपधारिणी[५] षड्मुखी भद्रचर्या ललितविस्तर दशभूमकादीन् **योगाचारमिति (१०)** चित्तमात्रं इदं विश्वं असत्यर्थे ऽर्थप्रतिभासं सम्भ्रान्त्योत्पद्यते यथास्वप्न इति। **मध्यमकमिति** सर्वधर्मानुत्पादः। **सर्वमन्त्रनयं** इति पञ्चविधं क्रिया चर्या योग योगोत्तर योगनिरुत्तरभेदेन[६]। वैभाषिकादिप्रकारकात्र्सन्यं अत्र विवक्षितं न द्रव्यकार्त्स्यन्यं आनन्त्यात्। **गृहणीयादिति कुर्यात्**। **आदरं** अस्मिनस् तंत्रगौरवमिति।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे ऽष्टमः पटलः

मन्त्रोद्धारो नवमः पटलः

अथात (१) इत्यादि। **संपुटं** विज्ञानशरीरयोरुद्घाटः पृथक्करणं ध्यानेनेति विशेषः। **सिद्धि** क्रूरकर्मसिद्धिं। **अध्यातं**[१] अत्यन्तदुष्टं **क्रूरं** मारणं चित्तं। **भावना**

---

१. पा. क्षणादिभिः, २. पा. नात्र विद्यते शब्दो ऽयम्।, ३. पा. अष्टशिक्षापदं दशेति, क. अनुशिक्षापदं, ४. पा. - वाक्‌मनो, ५. त. द्विगाथाधारिणी, ६. पा. - निरुत्तरादिभेदेन.

---

१. पा. अध्यातं, त. क्षुभित,

अनन्तरोक्ता सैव[२] केवलात मात्रं। **बुद्धो ऽ पीति** संरक्षितो ऽ पि **दृष्ट्वेति**[३] (४) स्मृत्वा **यथारूपमिति।** वक्ष्यमाणरूपेण सूचीमिति **वज्रसूची। बह्निरूपिका** ज्वलन्ती। **हुताशनं** रेफं प्रज्वलन्तं **दृष्ट्वेति**[४] ध्यात्वा पठितसिद्धमिति पाठार्थसिद्धं सत्यमिति यावत्। **रहस्यं** (७) अभव्यसत्वानां अगोचरत्वात्। **परमं** अनायासैवाभिमतसिद्धिः **अविकल्पं** इति निःसंशयः। **महारत्नमिति** चिन्तामणिरत्नं। किं तत् रत्नं इत्याह - वपु र्निजशरीरं **पश्य देवि ज्वालेति** महासुखज्वाला **मालेति** पञ्चदशयोगिनीस्वभावा नाड्यः। तैराकुलं समाधिस्थितम्। **अयोग्य स्यादिति अविद्धो ऽ प्रतिविद्धः** अज्ञातः सांसारिक एव स्याद्। यथा रत्नं अविद्धं अयोग्यं सर्वाभरणकर्मसु तथा पुनरज्ञातं नालं बुद्धत्वं अवाप्तमिति। **प्रतिविद्धः** (८) किं करोतीत्याह। **रुचिदायकमिति** अभिलषितार्थ - निष्पादकमित्यर्थः । **तद्वदिति।** यथा वपुः तथैव संसाररत्नं **पीयूषं** (९) अमृतं येन **रूपेणेति** तत्त्वेनायं **अंघ्रियश्चरणाः।** विमोक्षन्ति अष्टविमोक्षमात्रेणेति मुद्रादिभि[५]श्चक्रा-दिभिः। **मन्त्रोद्धारमिति (१४)** - देव्याः प्रश्नगाथा। **भगवान्** आहेति - संगीतिकारस्य वचनं श्रृणु। **देवीत्यादि** भगवतो वचनम्। **विरोचनः (१६)** प्रणवः। उष्माणां चतुर्थकं। **ह**-कारः। पुक्कसी - **ऊ**-कारः। **शून्यं** अनुस्वारस्वाहान्तं इति, अन्ते स्वाहाकारः, वर्णाधिप **ओं-कारः**[६], खेचरी **ओं-कारः**, प्रथमस्य द्वितियं **ख**-कारः, द्वितीयस्य तृतीयं **ज**-कारः, वारीति **इ**-कारः वर्णेश्वर **ओं-कारः**[६]। पञ्चमस्य तृतीयं **ब**-कारः, डाकिनी **उ**-कारः, वर्णज्येष्ट **ओं**-कारः[६]। प्रथमस्य प्रथमं **क**-कारः। वज्रडाकिनी ह्रस्व-**उ**-कारः। अन्तस्थानां द्वितीयं रेफः। तस्यैव तृतीयं **ल**-कारः। चौरी **ए**-कारः, चतुर्थस्य तृतीयं **द**-कारः। अन्तस्थानां चतुर्थं **व**-कारः, उष्माणां चतुर्थं ह-कारः, पुक्कसी षष्ठस्वरः। पञ्चमस्य द्वितीयकं **फ**-कारः पञ्चमस्य चतुर्थं **भ**-कारः। अन्तस्थानां प्रथमो **य**-कारः। अभ्यन्तर - गौरी **इ,** तृतीयस्य प्रथमं **ट,** पञ्चमस्य तृतीयं **बः**, द्वितीयस्य तृतीयं **जः**। वह्नि : **रेफः**। चतुर्थस्य प्रथमं **तः**, हुताशनो **रेफः**, वेताली **ऐ**, अन्तस्थानां तृतीयं **ल**, प्रथमस्य प्रथमं **क**, अन्तस्थानां प्रथमं **य**, वज्रा **आ**, चौरी **ए**, पञ्चमस्य प्रथमं **प**, नैरात्मा **अ**, प्रथमस्य प्रथमं **क**, द्वितीयस्य प्रथमं **च**, तृतीयस्य प्रथमं **ट**, चतुर्थस्य प्रथमं **त**, पञ्चमस्य प्रथमं **य**, अन्तस्थानां प्रथमं **य**, उष्माणां प्रथमं **श**, अन्तस्थानां द्वितीयं **र**, वज्रा **आ** (१७-३२)।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पस्य नवमः पटलः

---

२. पा. नैव, ३. पा. यत्र दृष्टेति, ४. पा. दृष्टेति, ५. पा. मात्रादिभिश् , ६. पा. मो-कारः

जापपटलो दशमः

अथाहेत्यादि (१)। **एकसंवर** इति [1], अद्वितीयसंक्षेपवरः जपनं जपः। तद्विषयं अक्षसूत्रं। **महिषस्य** चेति महिषास्थिमालिकयेत्य अर्थः। **प्रतिकर्मसमयभेदं** आह। स्तम्भनेत्यादि सुगमम् (१-५)।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे दशमः पटलः

सहजार्थपटलः एकादशः

गाढेनेत्यादि (१)। इत्याहेति - वक्ष्यमाणकं, अक्षोभ्यकुलं इति अक्षोभ्यस्य तत्कुलं इति, **सत्त्वकुलं** इति, वज्रसत्त्वकुलं, तासां इति स्त्रीणां, ते इति तथागताः बोधयां **आसेति**। आमन्त्रितवान्, मदनं महासुखोद्भवम्, अंग इति तदर्थं नखक्षताः करैः[1] कर्मेति द्वयंगुलिचालनादि, **बोलवान्** इति स्तब्धबोलः[2] **दोलायेत्यादिनेति** चतुर्णां सेकानां[3] स्वभावक्षणोपदेशकरणान्याह, दोलेव लोला औपरिष्टकम्। अत्र स्त्री कर्त्री।

अग्रतः पृष्ठतो नारी क्रमशो दोलयेत कटिं।
मेघोपरि[4] समासिना दोलयाङ्गप्रकीर्तिता[5]।।

कुर्परेत्यादि। अत्र पुरुष कर्ता -

नार्याजानु समं स्थाप्य दक्षिणं वामबाहुना।
योजयेद् ऊर्ध्वकरणं स्थितावभिमुखावुभौ।।

सुप्रसारितेत्यादि -

हंसपक्षसमाकारं[6] उत्तारणाया प्रकीर्तिताः।
द्वाभ्यां प्रसरिताभ्यां पादाभ्यां सुप्रसारितम्।।

---

१. पा. एकस्वरमिति.

---

१. पा. मदनं महात्मा, दस् तदर्थं अंकानि नख (? भु) ताः करैः, २. पा. सत्तबोल, ३. पा. - आदिना चर्ण्णं इति सेकानाम्। ४. पा. (१) मेद्रोपरि, ५. पा. दैवत घरि कीर्तिता, ६. पा. समासारम्ः,

तथेत्यनेन सूचमाह -

उत्तानोर्ध्वमधः पादो[७] दण्डवद् यत्र संस्थितः।
पार्श्वन्नतं त्रिकं किञ्चित् सूचीकरणं स्मृतम्।।

कर्पूरहेतवे कर्पूरवृद्ध्यर्थं। सहजार्थकरणविशेषो[८] यत्र तत् द्योतकः पटलस्तथोक्तः।

इति योगरत्नमालायां हेवज्रपञ्जिकायां द्वितीयकल्पे एकादशः पटलः

महातन्त्रराजमायाकल्पो द्वादशः पटलः

तथेत्यादि। चतुर्णां अभिषेकानां यथोपदेशं प्रज्ञार्पणगाथाः। **वज्रप्रतिष्ठित** इति वज्रधरत्वेन प्रतिष्ठितः **बोधि** प्रज्ञा तस्याः **पुत्रका** बोधिसत्वाः। **रतिः** प्रीतिः, **स्थान** बोधिचित्तस्य इदं इति, **महासूक्ष्मं** अगोचरत्वात्। **वज्रस्तथागताः।** तेषां **मण्डं** सारं **नभोपमं** अनाभासत्वात्, **विरजस्कं** क्लेशक्षयात्। **मोक्षदं** संसारभिक्रान्तत्वात्। **पिता ते त्वं असीति।** तथैव प्रत्यात्मवेद्यत्वात् **वज्रपद्मयोरधिष्ठानं** येनाधिष्ठ्यते। **योगरत्नस्य**

योगरत्नमालायां कृत्वा हेवज्रपञ्जिकां।
यत् पुण्यमाचितं तेन निःक्लेशः स्यादखिलो जनः।।

योगरत्नमाला समाप्ता।

कृतिरियं पण्डिताचार्यश्रीकाण्हपादानामिति। परमेश्वरेत्यादिराजावली पूर्ववत्। श्रीमद् गोविन्दपालदेवानां सं ३९ भाद्रदिने १४ लिखितं इदं पुस्तकं कश्रीगयाकरेण।

** ** **

<u>संकेत</u> - कोष्ठक में उल्लिखित संख्या हेवज्रतन्त्र के मूल पद्यों को संकेतित करती है।

---

७. पा. पादौ, ८. पा. विशा

परिशिष्टानि

१. श्लोकानुक्रमणिका

२. योगरत्नमालायामुद् -धृतानां
पद्यानुक्रमणिका

३. शब्दानुक्रमणिका

४. चित्रफलक और
उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

५. सरहपाकृत दोहाकोश

१. श्लोकानुक्रमणिका

यहाँ श्लोक और उसके पदों का विभाजन अकारादि क्रम से किया गया है। इस विभाजन में पदों का प्रारम्भिक शब्द और उसके सामने क्रमशः कल्प, पटल और श्लोक संख्या का संकेत किया गया है।

अकारं	२.४.६३
अक्षरोद्भव	१.८.९
अक्षिं	२.५.६४
अक्षोभ्य	२.४.१०१; १.६.११
अक्षोभ्यावह	१.१.१२
अज्ञानेहा	२.४.७७
अगुप्ते	१.५.३
अतःपरं	१.६.१
अत्रैवापि	१.८.३०
अथ भगवन्तं	२.३.३
अथ उत्साह	२.३.४०
अथ वज्री	२.५.१; २.१२.१
अथवा	१.५.१५; १.१०.१०; २.२.२०; १.३.७; १.१.१६; २.९.७०
अथवा या	१.१०.६
अर्थातः	१.१०.१; २.९.१
अथातो वज्रसत्त्वं	२.१०.१
अथाह तत्र	२.७.१
अद्वयं	२.३.२४
अध्यात्मक	१.८.१२
अध्यान्त	२.५.४६
अधिपति	२.५.२८
अधिष्ठानक्रमो	१.८.५१
अधो	२.४.९७
अधोवती	१.८.१५
अर्धपर्यन्क	२.६.३४
अर्धपाद्यादिकं	२.१.५
अन्तको	२.५.२५
अन्तस्थानां	२.९.२६, २८
अनया	१.१.२; २.४.५०; १.५.८
अनामिका मूले	२.१०.३
अनामिकां	१.७.३
अनामिकान् दर्शयेत्	१.७.४
अनेकेनैक	१.६.५
अनेन	२.४.९४
अनेन लक्ष	२.९.१६
अनेनैव	२.४.११
अपामक्षोभ्यः	२.२.५४
अपि तु ये	२.२.१३
अब्धातुः	२.३.८१
अबुद्धो	२.४.७३
अभव्यं	२.३.५७
अभिवन्दयति	१.६.२२
अभिषेका	२.३.२
अभिषेकं	२.५.६४; २.५.४२

अभेदलक्षण १.१०.२०
अभेद्यं १.१.२
अभेद्या सूक्ष्म १.१.१३
अम्ज कज्ज २.४.९२
अम्ल मधुर २.३.४६
अमी धर्मा २.४.३४
अमूढः २.४.३४
अमृतं २.४.३९
अमेध्य २.४.७३
अयोग्यः स्याद २.९.८
अलेरादी २.४.२०
अवधूती १.१.११
अविद्याद्यै २.४.७२
अविशुद्धं २.९.९
अविशुद्धं विषतां २.९.१०
अशेषाणां २.४.५३
अष्टास्यं २.५.८
अष्टास्यां विमोक्षाष्टौ २.९.१२
अस्पर्शा १.५.१८
अस्मच्चक्रं २.५.४
अस्पर्शं २.३.५८
अस्य मन्त्रस्य २.६.२०
अस्य भावना १.११.१४
अस्मिन् तन्त्रो २.९६
अंगुलीं १.७.२
आइ न २.५.६८
आकृष्टि १.११.४
आकृष्टिर् १.११.२
आकारान् १.८.८
आकाशः २.२.५७
आगमिष्यसि २.१.१३
आगतिः २.३.५७
आचर्य २.३.१०
आत्माजीवं १.१०.१२
आत्मना १.८.३६
आदौ वर्णाधिपं २.९.१७
आदौ वर्णेश्वरं २.९.२०
आदौ मोहकुलं २.९.२२
आदौ वेरोचनं २.९.२३; २.९.१९; २.९.१६
आदर्श २.४.४६
आदर्श ज्ञान १.८.६
आदत्तं २.३.२९
आदानन् २.३.२७
आदिस्वर २.४.४१
आनन्दाः २.३.५, १०
आनन्द २.३.१
आनन्दं १.८.३१
आनन्देन १.८.३२
आभ्यां २.४.१०
आभिः २.३.२१; २.४.६४
आयुत २.५.४३
आलयः २.३.४
आलिकालि १.८.८
आलीरूपं २.४.२६
आलेस्तृतीयकं २.४.२०
आसां २.५.६०
आसां शुक्रं २.३.६३
इत्याहं १.१०.२०

इत्युपद्रव	२.३.६६	उद्याने	१.१०.३
इत्येवं	२.३.२३	उपक्षेत्रं	१.७.१४
इति संचित्य	१.७.२५	उपपीठं	१.७.१३
इदं बलं	२.४.७२	उपपीळवं	१.७.१७
इन्दजम	२.४.९१	उपाध्यायी	२.४.६२
इदं ज्ञानं महासूक्ष्मं	२.१२.४	उपायः	२.२.२७
इन्द्रियं	२.३.३५	उपायं	२.४.७८
इन्दी आली	२.५.२३	उष्मानाञ्च	२.९.२७
इन्द्रं गौरी	१.९.११	उष्मानाञ्च चतुर्थकं	२.९.२९
इन्द्रे वज्रा	१.८.१३	ऊर्ध्वं च	१.९.१२
इन्द्रियाणि	२.३.५०	एक एव	२.२.५२
इषु कार्मुक	१.११.१३	एक खण्डं	२.७.१२
इह जन्मनि	२.७.३	एकचित्तं	२.३.३०
ईर्ष्या	२.२.५६	एकमेव	२.२.५८
ईर्ष्या च	१.१.१७	एकाकारा	२.३.४
ईर्ष्या मुद्रया	२.४.१७	एतदेव	२.३.२४
उच्चाटनं	२.१०.३	एकाकारेण	१.१.१७
उड्ड भराडो	२.५.२०	एकवृक्षे	१.६.६
उत्पत्ति	२.२.२७	एकानेक	१.८.५०
उत्पत्तिक्रम	२.२.२९	एकवक्त्रा	१.८.१६
उत्पद्यते	२.४.५४	एकहस्तार्ध	२.१.७
उत्पन्नक्रम	२.२.३४	एतेन भावयेत्	१.८.२२
उत्पत्तिभागं	१.८.२५	एवं कारे	२.४.५६
उत्पन्नभावना	२.२.३४	एवं कारं	३.४.९०
उत्पलस्य	२.८.४	एवं गारं	२.३.३
उत्सृष्टेन	२.६.१०	एवमेव	२.४.३२
उत्तरे चाग्नि	१.१०.२९	एवं विमृष्यमाणा	२.२.१२
उदकचन्द्र	२.३.३६	एवं मत्वा	१.८.४२
उद्याने विजने देशे	२.११.११	एवं श्रुत्वा	१.१०.१४
उद्यानं	१.७.१८	एवं सर्वे	१.८.१०

ऐशाने	२.५.५३	क्षणज्ञानात्	२.३.५
ऐशाने च यथा	१.१०.२९	काठिन्यस्य	२.२.५३
ऐशान्यां	१.९.१०	कायं विहाय	२.४.८०
एहु सो	२.५.६८	कायेन स्पृश्यते	१.९.७
ओम्	२.९.९३	कारितव्यं	१.१०.८; २.३.१५
ओं अग्न्ये	२.१.१०	कारुण्यकृत	२.१.११
ओंकारादि	२.९.२६	किंजल्केन	१.८.३
ओं वज्रपुष्पे	२.१.४	किञ्चिदुष्मे	१.६.७
ओं वज्रमहाद्वेष	२.१२.६	किम्प्यु	२.५.७०
ओं पदम सुखाधारा	२.१२.५	क्रीडा च	२.५.६२, ६३
अंगे	२.६.१०	क्रुद्धदृष्टि	१.३.१५
अंध्रि प्रक्षालयन्	२.२.५	कुन्दरेषु	२.२.५२
अं-हूंभ्यां	२.५.२७	कुरूपां विकल	२.२.१४
क्रमद्वयं	१.८.२५	कुलपटले	२.४.५, २४
क्रममुत्पत्तिकं	१.८.२४	कुल्यते	१.५.१०
कक्कोले	२.४.३८	कुलं पंचविधं	२.३.६१
कक्कोल	२.२.५४	कुलमेकं	२.४.१०३
कथं ते	२.२.१२	कुलजन्मा	२.८.६
कतरेण	२.६.६	कुलानां	१.५.१०
कचडोरी	१.६.१६	कुलानि	२.४.१००; १.५.९;
कपाल	२.५.३		१.५.५
कपालैक	१.८.१८	कूर्मजा	१.१.१३
कट्यां वा	१.६.३	कृपवान्	२.८.६
कण्ठे	२.४.५५	कृपयालोचने	२.९.११
करुणा	१.६.२६	कृपाहीना	१.७.२२
करुणाद्भुत	१.५.२६	कृपामुत्पाद्य	१.७.२१
करस्फोट	१.५.२०	कृपीतं	२.५.३०
कवचमेभि	२.३.५२	कृपोपायो	१.१०.४२
कलिंगं	१.७.१६	कृष्ण जीमूत	२.५.४६
कल्पयेद	२.७.८	कृष्णवर्ण	२.५.२९

कृष्णवर्ण १.३.६
कृष्णवर्णा १.८.१६; २.५.३५
कोकणं १.७.१६
कोल्लैरे २.४.६
कौपिनं २.३.४९
कौवेरे घस्मरी १.९.११
कोवेरी १.८.१३
कर्पूर २.८.४
कर्पूरं २.४.१३
कर्पूरमेव २.४.४०
कर्पूरं च २.५.६०
कर्पूरं पीयते २.११.१५
कर्मणि १.५.६
कर्तव्यं २.४.९६
कर्मभुक् २.४.५७
कर्णतोयं २.२.४८
क्षणमप्यन्य २.२.२, ७
क्षणात् सर्वे १.८.५२
क्षेत्रं मन्भुनि १.७.१३
क्षेम मुद्रां १.७.२
ख धातु १.८.२६
ख धातौ १.८.१
खटवांग १.८.१९, २१
खसमं विरजं १.१०.९
खनपाने १.८.४३
खानपाने १.८.४३
खामं पानं २.३.४१
खितिजल २.४.६७
खेचरी २.४.९६, ९८
खेचरी २.४.१९
गगनवत् २.२.१
गन्धनशब्द १.९.२०
गगनस्थान २.१.३
गन्धं नासिक्या १.९.६
गति-खेट २.३.५६
ग्रहणं नात्र १.६.२०
गणरक्षा २.४.११
गणाध्यक्षं १.४.१२
गम्यते तेन १.६.१
गम्यागम्य १.६.२१
गन्ध न शब्द १.९.२२
ज्ञात्वा २.३.१६
गाढं कुचग्रहं २.६.१
गाढेनालिङ्ग्य ११.१
गुणस्य १.५.१८
गुर्वाचार्ये २.१.६३
गूथं २.३.५९
गहण-ग्रहण २.२.३
ग्रहणीयात् २.७.१३
ग्रहण ग्रहणं २.१२.३
ग्रहीत्वा २.२.१७
गोदावरी १.७.६६
गोपितव्यं २.७.४
गौरी २.४.१६
गौरी चौरी १.८.९४
गौर्याद्याश्च १.८.११
गौर्या हि २.५.३०
गं चं वं २.५.२८
घण्टावज्र २.३.१३
घण २.४.६

घस्मरी २.४.१९; ८८
घस्मर्या २.५.३१
घस्मै गटलह २.४.७१
घ्राणे २.३.५१
चउसम २.४.७
चक्रभावना २.३.४८
चक्रं क्षोणीजल १.८.२
चक्रं निवहं २.३.२८
चक्रं पूर्वं २.५.६
चक्री १.३.१४
चक्री कुण्डल १.८.१७
चक्रेशस्य १.१०.२५
चक्षुः क्षोत्रं २.३.३३
चक्षुषा गृह्यते १.९.६
चक्षुषो २.३.५१
चण्डाल २.४.७६
चडाल्या २.५.३३
चण्डाली १.१.१८; १.३.१०; २.५.१८; २.३.६२; २.९.१३; २.५.३६
चतुःक्षण २.३.६
चतुर्द्वारं १.१०.२१
चतुर्मार २.५.८
चतुर्विंशति २.४.१२; २.५.५६
चतुष्कोणं २.५.६
चतुस्तोरण २.५.५०
चन्द सुज्ज २.४.९१
चन्दनै र्हस्तं २.२.५
चन्द्रालि १.३.११
चन्द्रसूर्य १.८.६
चर्या पटले २.४.१
चरणान् २.५.२७
चारित्रं १.७.१७
चारुवक्त्रं १.६.८
चारुवक्त्रां २.४.३५
चारुवक्त्रा २.३.१४
चित्तं २.४.८२, ९५
चित्तमेव २.४.७५
चित्तवज्री २.४.९९
चित्तवज्रस्य २.५.२
चुम्बयित्वा २.५.५
चुम्बनालिङ्गनं कृत्वा २.११.१२
चोदयन्ति २.५.१९
चौरिन् २.४.८८
चौरी १.३.९; २.४.१८; २.४.२२
चौर्यकेश १.६.१५
छड्डहि २.५.२१
छन्दोऽहं १.७.१५
ज्येष्ठा २.३.१४
जन्तवो नाभिमन्तव्या २.११.८
जननी १.५.१६; २.५.५९
जननीं १.५.२
जरामृत्यु १.६.१४
जल्पनं १.५.१९
जवेन सुनियुक्तेन १.१०.२४
जातो भिक्षु २.४.६३
जायो डमरूक १.६.१७
जाप्यं भाव्यं १.६.१७

डमरूपाय १.६.१२
डोम्ब्या २.५.३३
डोम्ब्यालि १.३.१०
डोम्बिनी २.४.८५
डोम्ब चण्डाल २.३.४५
डोम्बी २.३.६२
त्वं देवि २.१.१२
त्वदीयं २.५.४
त्वया मया २.५.१३
तत्क्षणं २.५.६७
तत्सर्वं २.३.६४
तत्त्वसंग्रहे २.५.५७
तत्त्वञ्च २.५.६६
ततस्तुष्टा २.५.४६
ततो वज्री २.५.१९
तत्र कुलेषु २.२.६१
तत्रनिर्माण २.४.५५
तत्र पृच्छन्ति २.८.१
तत्र मध्ये २.५.७
तत्र मे २.४.४
तत्र संदेहो २.४.४
तत्र तुष्टा २.८.८
तत्र तुष्टो महावज्री २.११.१०
तत्राह १.१०.३६
तत्रैव हूँ १.३.५
तथताया १.५.८
तथा २.४.७२
तथागत १.५.७
तथागतानां २.११.८
तथा च २.२.४०
तथा माता १.८.२०
तथा रागा २.२.४९
तथा रूपा २.२.३६
तथैव २.२.३०
तद्ध्येयं १.५.२०
तदहं २.५.४०
तदनुयाति २.४.१०२
तद्वत् संसारकं २.९.९
तन्त्रेण २.३.५४
तन्मध्ये १.८.४; २.३.५४
तया पि २.६.८
तया सार्धं २.४.४३
तर्हि वज्रपदे १.६.१०
तस्माद २.३.४३; २.४.८०
तस्माद् रागस्य २.४.८६
तस्माद् गीतं १.६.१३
तस्मादेक २.२.५९
तस्मात् सौख्यं १.१०.४०
तस्य प्राशित १.११.११
तस्य मार्गे सूची २.९.५
तस्यामु २.४.४३
तस्यैव तत् २.२.३१
तस्योपरि १.८.४
तस्य सौख्यं २.४.४०
तस्मिन् २.४.३८
तहि बरु २.४.७
तानि च २.२.४
ताञ्च गृह्य २.२.२१
ताञ्च प्राप्य २.२.१७; २.८.५
ताञ्च विवस्त्र २.५.६२

ताबद्धि	१.१०.६
तावन्तो	१.७.२६
ताभ्यां	२.५.६९
ताभिश्य	२.५.६२
तासां	२.५.६१
तासामपि	२.११.९
तीरद्वयं	२.२.२५
तीलं शान्तौ	२.१.१०
तृतीय	१.३.२; १.८.३३
तृतीयस्य प्रथमं	२.९.२७,२९
तृतीय विरमाख्यं	१.१०.६३
तृतीये भावयेद्	१.८.२३
तृतीयं	१.३.२; ७.८.३३
तेज	२.४.८३
तेजो	२.४.८४
ते ऽपि हेवज्र	२.४.७६
ते ते सत्त्वा	१.७.२८
ते पीठां	१.७.१०
तेषामेकं	१.८.४५
ते च सयबल	१.१०.२३
तेजश्चण्डालिनी	१.९.१६
तेन प्रलय	२.२.२८
तेनैव	१.३.३; २.२.४६
तोह्या	२.५.२१
त्रिकायं	२.४.५१
त्रिकायस्य	२.४.५१
त्रिकोणं	२.१.६
त्रिगुह्यं	२.४.९७
त्रिनेत्रा	२.५.३४
त्रिभव	१.१.१६
त्रैलोक्यं	१.८.४९
त्रयाणां	१.१०.१७
त्रिविधं	२.४.१०२
त्रिहस्तं	१.१०.१५
त्रैवृत्ता	१.१.१५
द्वयो	२.२.५५
द्वयो	२.५.१७
दृष्ट्याकृष्टि	१.१.६
दक्षिणाष्ट	२.५.२४
दक्षिणे	१.३.१५
दद्यात् फलं	२.४.९५
दशकुशला	२.२.१४
दशकुशलादारभ्य	२.२.१८
दशगंगा	२.२.६०
दशनेन	२.६.२
दशभूमीश्वर	१.७.११
दशभूमीश्वर	१.१.११
दहति च	१.१.१८
द्वत्रिंशत्	२.२.४१
द्वादशाब्दा	२.५.५८
दिनमेक	२.२.९
दिनस्तु भगवान्	१.७.२३
दिव्येन	१.१०.४
दिवसं	१.७.१९
द्विहस्तमेक	२.१.७
दुर्दान्ता	२.८.८
दुर्भाषस्य	२.७.३
दृष्टावतरणे	१.७.२२
देवकोटं	१.७.१३
देवतानां	१.८.२

देवता २.४.३
देवतारूप २.२.१९
देवतायोग २.२.४५
देवासुर २.२.२१
देवीनां २.५.५५
देहाभावे २.२.३५
देवीं वै २.६.१
देशयन्तु २.१.१; २.३.३
द्वेषवज्र २.४.१०३
द्वेषादौ कण्टकं २.१.१०
देहस्थं १.१.१०
देहं स्वभावत: १.१०.३५
देहिनां २.११.२
देहे संभवती १.५.१४
दोलंगकुर २.२.१३
ध्वजं १.७.३९
धर्मधातु २.४.४४
धर्मश्चित्त २.४.५४
धर्मसंभोग २.४.५२
धर्मोदयो १.८.३
धर्मोदयोद्भव १.८.४९
धर्षणात् १.१०.३९
धातवो २.३.३५
धीरा २.८.५
धूप दीप १.१०.२२
धूपनैवेद्य २.३.२१
न करेण २.४.३९
नग्नीकृत्य महामुद्रां २.११.११
न ज्ञातं येन १.८.५५
न गन्धो १.५.१
न च तेन बिना १.८.५५
न चर्या २.२.२२
न जानन्ति २.४.७४
नटी च १.५.२
नदी स्रोत: १.८.५६
न बन्दयेदि २.३.४४
न बुद्धो २.४.७५
न मन्त्रजापो १.१०.४२
नर्तकी १.५.१८
नरकप्रेत २.४.७३
न रागो १.१०.१७; १.८.३५
नवमं २.४.२२
न वस्तुकं २.११.३
न स्थातव्यं २.२.७
न स्पर्शो १.५.१
नाकार्यं १.७.२४
नागोक्षेप २.५.३९
नाचिन्त्यं १.७.२४
नातिदीर्घा २.८.२
नादिं गादि १.११.८
नाट्यं श्री २.४.९
नाडी द्वय २.४.२४
नान्येन १.८.३५
नान्योपायो २.२.१०
नान-हूँकार २.१.५
नानारत्नधारि २.१.१२
नाभक्तं २.३.४७
ना सा दीर्घा २.४.४२
नास्ति भावको १.५.११
नास्ति रूपं १.५.१

निकायकाय २.४.६१
निजमुद्रा २.६.११
नित्य १.१.३
निद्रा त्यागं २.३.४२
निद्रामा १.६.१८
निःसरं २.२.६
निःसृत्य २.५.१३, १६
निःसृता २.५.१३, १४
निःसृत्यै २.५.१७
निस्तरंगः १.१०.३६
निस्तरंग २.५.११
निरंसुअ २.५.८
निर्वृतं २.४.३५
नीलारुण १.३.१३
नीलोत्पल १.६.८
नैऋत्ये १.९.१०
नैऋति २.५.३७
नैरात्म्या २.२.२, २३; २.५.३८; २.११.१
नैरात्म्यां २.४.१६; २.१०.१; २.११.१०
पंचकुलेषु २.२.५८
पंचतां २.२.५९
पंचदशमं २.४.२३
पंचबुद्ध १.६.१५; १.८.१७
पंचबुद्ध्या १.३.१४
पंचबुद्धस्य २.६.५
पंचमुद्रा २.५.३
पंचमे १.८.२३
पंचरत्न १.१०.२३, ५४; २.५.५१
पंचरेखा २.५.५१
पंचरत्नोदरं २.५.५६
पंचमं २.४.२१
पंचवर्ण १.६.५
पंचस्कन्ध १.८.१२
पंचस्कन्धा २.३.३४
पंचवर्ण १.६.५
पंचामृत २..३.४६
पंचामृतं १.११.९
पंचांगुल १.६.१६
पंचानन्तर्य २.२.१३
प्रकाशितास्तु १.१०.२७
प्रज्ञा २.३.११
प्रज्ञां २.३.१
प्रज्ञायां च १.८.२९
प्रज्ञालिका १.८.११
प्रज्ञाचन्द्र १.१.१२
प्रज्ञोपाय १.५.२; १.५.२; १.१०.९
प्रज्ञोपाया १.१.५
पठितसिद्धं २.९.६
पटं संदर्शयेत् १.७.४
प्रथमं १.१.८; १.८.३३
प्रथमं भावयेत् १.३.४
प्रथमं भावयेन १.३.१
प्रथमं शून्यता १.३.२
प्रथमस्य प्रथमन्तु २.९.२३
प्रथमानन्द १.१०.१३, ९५
प्रथमाभ्यास २.२.३
प्रथमे भावयेत् १.८.२२

पद्मं चेन्दीवरं २.८.३
पद्मपत्र २.८.२
प्रदोषे २.१.२
प्रपञ्च २.२.२९
परमरतौ १.१०.३३
परमविस्मया १.१०.१४
परमान्तं २.५.७०
परमानन्दं १.८.३४; २.३.२२
परिधानं २.२.२९
प्रविशेन् १.१०.३०
पर्वणा १.१.१४
पश्य देवी २.९.८
पश्चाच्च १.५.९
पश्चात् १.१०.३२; २.५.६३
पश्चाद् बाह्यपुटं १.९.१०
पश्चादनु २.४.३७
पश्चादनर्या १.८.२८
पश्चादष्टान् २.५.४५
पश्चादेकैकं १.९.१
पश्चान् १.८.५
पश्चिमे २.५.५४
पशुयक्षादय: १.११.१५
प्रश्वेदं २.८.३
प्रहसन् २.६.५
प्रलयान्तीयते २.२.२८
पातना १.११.३, ४
पादतलं १.७.७
पाणिभ्यां २.३.१३
प्राणिनश्च २.३.२९
प्राप्नोति २.१३.१४
पितदि प्राप्तं १.५.५९
पिंगोर्ध्व १.३.१३
पीठं जालन्धर १.७.१२
पीठं पौर्णगिरि १.७.१२
पीलवं १.७.१२
पीलवं १.७.१०, १७
पुक्कंसी १.३.१०
पुक्कस्या २.५.३२
पुटमेकं २.५.५०
पुनस्तेनैव २.९.२४
पुरुषकारं २.४.५०, ५८
पुस्तकं २.७.३
पुष्पं २.३.४९
पुक्कसी २.४.७९
पुनर्मन्थन २.५.१८
पूजा चाभ्यर्जना १.१०.२७
पूजयेन् २.७.११
पूजयेदंष्ट १.३.८
पूतिसुरभि २.३.४७
पूर्वद्वारे २.५.५४
पूर्ववद् १.८.१०
पूर्वेण १.१०.२८
पूर्वोक्तेनैव २.४.८७; १.१०.२५
प्रेतपक्षे १.७.२०
प्रेंखण १.४.८
पृच्छते २.५.४८, ६७; २.६.५
पृथिव्यो २.३.४०

पृथिव्यापश्च १.८.५२
पृथिवी १.९.१६; २.४.७९; २.५.२५
पोषधं २.८.९
फलं २.४.५७
बध्यन्ते १.१.९
बालस्य भक्षणं तत्र २.११.१५
बलिं च १.१०.२६
बाहुमूले १.६.३
बुद्धानां २.४.३१
बोधिचर्या १.१.३
बोधिबीज १.६.९
बोधिचित्त १.१०.३९; २.४.२९
बोल २.२.५३; २.३.२८; २.५.१५
बोलकं २.५.३८
बोलकक्कोल १.१०.३८
बोधिचित्तं २२.५४; २.४.२६
बोलसाख्यं २.४.५०
ब्रह्मेन्द्र २.५.३७
ब्रह्मक्षत्रि २.३.४५
ब्रह्मा १.५.१३
भक्ष्यं २.३.५८
भक्ष्यं भोज्यं १.६.२०
भक्ष्याभक्ष्य १.६.२१
भक्षञ्च २.७.१०
भक्षणीय २.३.४३
भक्षितव्यं १.६.१४
भगवान १.१०.१६
भगवान वज्र २.१.१
भगवानाह महावज्र २.१.१५
भगवो १.५.१५
भगवता २.४.४८
भगवतीं २.२.६
भगानि १.५.१५
भगे लिंगं प्रतिष्ठाप्य २.११.१२
भगे लिंगं २.७.५
भगिनी १.५.१६
भजेति तत्र १.७.९
भयं तत्र १.६.२५
भयोन्मादै २.२.११
भ्रकुटीं १.७.६
भव २.२.४७
भवस्य शोधनं २.९.७
भव निर्वाण १.८.१५
भवेत् तदा २.४.९४
भस्मकेश १.६.१६
भागभाग १.६.१९
भ्रान्तिरत्रा १.११.५
भाव्यन्ते १.८.४५
भाव्यतेहि १.८.४४
भावं भाव्यं १.१.९
भावकेन १.६.२
भावनामात्र २.७.२
भावन १.१०.३४
भावने ति १.८.२६
भावयेत् २.२.४
भावना २.४.९
भावाभाव १.८.२०

भावाभावौ	१.१०.११	मण्डले	२.५.५८
भावो ऽ हं	२.२.३७	मया गुह्याभि	२.१२.२
भावेनैव	१.१.८	मया गुह्यी	२.३.३९
भुजमुख	२.२.४६	मरणं येन	१.५.२१
भुजानां	१.९.१५	मर्दयित्व	२.५.५
भूचरी	२.४.९८	मलयजे	२.४.८
भूमयो	२.४.६४	महाज्ञानरसै	१.१.३
भूर्जपत्रे	२.७.२	महामधुमसिं	२.७.२
मकारेण	१.१.१७	महामुद्रा	२.२.३१
मद्भवं	१.८.४१	महाद्वन्द्व	२.५.१६
मद्व्यापित	१.८.४१	महामांसं	२.३.६०
मदनं	२.३.५६	महारागीं	२.५.७
मदनं	२.४.३७; २.५.६१	महावज्रिं	२.१२.१
मदनांगकरैः	२.११.१३	महासुअ	२.५.२०
मध्यमं	१.८.३८	महासंघी	२.४.६०
मध्यमा	१.११.२	महासुखं	२.७.६
मध्यान्हे	२.६.९	मां न	२.२.३७
मध्ये	२.५.५५;	मातृगृहे	१.६.६
	२.७.९	मातृचक्रे	२.५.२९
मध्यमानन्द	१.८.३४	मातुलस्य	२.५.५९
मन्त्रपटले	२.४.४	मादणे	२.१०.४
मन्त्रोद्धारं	२.९.१४	माध्यमान्	१.७.३
मन्त्रनेनैव	२.३.४२	मानक्रोध	२.२.१५
मन्थमन्थान	२.५.१४	मारणं क्रियते	२.९.३
मण्डल	२.४.२९	मारणं नात्र	१.११.६
मण्डलं	१.५.१९; २.५.४२	मारणे कृष्णवर्ण	२.१.९
मण्डलं	२.३.२७	मारय	२.५.४७
मण्डलचक्रं	२.३.२६	माला इन्धन	२.४.७
मण्डलचक्र	२.३.२५	मालामभि	१.७.९
मण्डलागार	१.१०.३	मांस न	१.१०.३३

मासमेकं २.२.१६
मासमेकेन २.२.१९
मासि मासि २.६.९
मांसेन पुक्कसी २.१.१३
मित्रस्नेहं २.३.४४
मिष्टान्न २.३.२०
मेखलायां १.६.१२
मेदिनी १.७.५
मुख्यान्यष्ट १.९.१५
मुद्राः १.५.४
मुद्रां १.७.७
मुदया २.२.२९
मुद्रणं २.४.१५
मुद्रेण २.९.१२
मुद्रायुक्तं २.३.१८
मुद्राप्रसाधक २.३.१९
मुद्रायाश्च १.१०.७
मुद्रासिद्धि २.२६
मुण्डमाल २.५.९
मुर्डुमुडु १.११.१४
मुहुर्मुहुः २.७.१३; २.११.१४
मूलमुखं २.५.११
मृयते ऽ सौ २.३.६६
मोह २.४.७१
मोहं २.४.७९
मोहोवज्रा १.९.१८
यत्र दृष्टवा २.९.४
यत्र भुक्ते २.७.६
यत्रस्थः २.२.३
यथा कथता २.५.६५
यथा कृतं २.४.५८
यथात्मनि १.७.२५
यथा न्यायं १.८.२७
यथा पावक २.२.४९
यथा पुष्पा २.२.२६
यथा बाह्यं २.४.४९
यथा बुद्धै २.१२.२
यथा माया २.२.३०
यथा यूयं २.३.१९
यथा वश्ये २.१.९
यथा वात २.२.४६
यदि गीतं १.६.९
यद्धि वदन्ति १.७.९
यदि पूजा १.७.८
यदि वा माता २.७.११
यस्माद् २.४.८५
यावद् २.३.२३
यावन्त्यो १.७.२६
युज्यते २.४.८३
येन तु येन १.९.१९
येन मन्त्रेण २.९.१४
येन येन २.२.५०
येन विज्ञायते १.७.१
येन विज्ञान २.९.१
येनैव २.२.४६
येषा येषां १.७.२८
योगयानसो १.६.२६
योगाचारं २.८.१०
योगिनीनां १.७.७; २.३.५३
योगिन्या २.४.४९

वज्रधर्मै:	२.४.१०	विद्वेषे न शालिजं	१.१०.५
वज्रडाकिनी	२.४.१०	विद्या तत्र	१.१०.५
वज्रडाकिनी	२.९.२४	विना तेन	२.२.४२
वज्रपदम्	१.५.५; २.५.४९;	विपरीत	२.२.५७
	२.७.१	विपाकं	२.३.७
वज्रपूजा	२.३.३९	विपाकं	२.४.५८
वज्रवरदक	१.३.६	विभेमि	२.५.४१
वज्रं बोलकं	२.३.६०	विमर्द	२.२.८
वज्रेण	१.३.४	वियोगा	१.१.१५
वज्रे डोम्बी	१.५.६	विरजं मोक्षदं	२.१२.४
व्याघ्र	२.७.१०	विरमानन्द	१.१०.१५
व्याख्या	२.२.३९	विरमानन्द	२.३.९
व्याख्या	२.२.३५	विरमादौ स	१.१०.१८
व्यापक:	१.१.१०	विरमेन	१.८.३२
व्योम्नि	१.३.८	विलक्षण	२.३.८
व्यस्तकुलं	२.४.१५	विश्ववज्र	२.५.९
वर्णज्येष्ठं	२.९.२१	विशुद्धिं	२.४.५
वरलब्धा	२.२.२०	विंशत्युंगुल	२.१.८
वश्याभिचार	२.४.९५	विशोधयन्ति	२.४.७८
वर्षार्पणं	२.१०.३	विषय	२.३.३४
वसुधां	१.१०.२	विषय शुद्ध	१.९.३
वश्या वामाश्रिता	१.११.१	विस्फुरन्ति	१.३.११
वातेन	२.२.४७	विहरे ऽ हं	२.२.३८
वामं रक्त	२.५.१२	विहाय	२.४.१०२
वामे वज्र	१.३.१५	वीतरागाद्	२.४.६१
विज्ञानस्कन्ध	१.९.९	वीजैश्चिन्है:	१.८.७
विचित्रं च	२.३.६	वेताली	१.३.९
विचित्रं विविधं	२.३.७	वेताली	२.५.३५
विचित्रे	२.३.९	वेताल्या	२.५.३१
विजयकलशं	२.५.५६	वेदाना आदिमं	२.९.१८

वेदानां	२.५.४५	शिक्षापद	२.४.६
वैताली	१.९.१३	शिरसि	१.६.२
वैरोचन	१.५.१२	शिव-सदा	१.५.१३
वैरोचनादि	२.९.३६	शिष्यकृत्य	२.३.१७
वैराचनादि ज्वल	२.९.२८	शिष्यो	१.१०.१
वैरोचनस्य	२.११.५	शुक्रवर्ण	२.१.८
वैराचनादि प्रथमस्य	२.९.२८	शुक्राकारो	१.८.५०
वैभाष्यं	२.८.९	शुक्रतुल्य	१.६.२५
वृद्धेषु	२.५.४०	शुद्ध्या	२.४.१०२
वृषणं	२.११.१२	शुद्धं द्विपुट	१.१०.२८
श्मशान	२.५.५१	शुद्धैः	२.३.५०
श्मशानं	१.७.१८	शून्यं	२.९.१८
श्मशाने	१.३.१६	शून्यता	१.१०.४२
श्मशाने	२.७.७	शेषं रूपं	२.२.२५
श्यामां	२.४.३६	षण्मास	१.११.५
श्लेष्म	२.३.४८	षोडशभुज	२.५.३
श्वसतीत्य	१.३.१६	स्तम्भन्ते	१.१.६
श्वेतगौरो	२.११.७	स्तम्भनं	१.७.५
शत्रून्	२.५.४७	स्तम्भने	२.१०.४
शरीरं	१.६.१९	स्त्रीणां	२.५.३९
शवरी	१.१.१४;	स्त्रीकक्कोल	२.४.३०
	२.४.८१	स्त्रीणां लक्षणं	२.११.९
शवरीं	२.४.१७	स्त्रीरूपं	२.२.२४
शवर्या	२.५.३२	स्थितावली	१.८.५
शवरी चण्डाली	१.८.१४	स्थानं	२.७.९
शवारूदा	१.८.१९	स्थावरी	२.४.५९
शान्तिके	२.१.६	स्थिरचलं	१.८.३९;
शास्ता	२.५.४९		२.३.२५
शासनायचारी	२.९.३	स्थिरचलाश्च	१.८.४५
शिक्षादीक्षा	१.६.२३	स्नानं	२.३.४१

स्पर्श न धर्म	१.९.२०	स एवासौ	१.१०.११
स्पर्शात्	१.१०.३८	स एव प्राणिनां	१.१०.१०
स्पर्शे	२.३.५२	सकृदभ्यासिता	२.२.१०
स्पर्शे च	१.९.१४	सततं	२.२.२३
स्फटिकेन	१.१०.२	सततं देवता	२.३.४४
स्वगृहेषु	२.२.४	सततं तत्त्वयोगेन	१.८.५६
स्वचित्त	२.२.२२	सत्त्वबिम्ब	१.८.९
स्वरपरभाग	१.८.५३	सत्त्वा: कथं	२.२.१
स्वभाव	२.३.३६	सत्त्वापकार	१.११.७
स्वभावं सहज	१.१०.४१	सत्त्वा बुद्धा	२.४.६९
स्वभावेन	१.९.२	सद्‌भूत	२.४.४६
स्वयंभू	२.३.४८, ५९	सदा तासां	१.९.९
स्वयं हर्त्ता	१.८.४७	सदा ह्यासां	१.९.१४
स्वर्गमर्त्यैश्च	१.८.५३	सन्ध्याभासं किमुच्यते	२.३.५३
स्वरूपमेव	२.२.४४	सन्ध्याभाषत	२.३.५१
स्वसमय	२.३.६७	सन्ध्याभासं	२.३.५५
स्वसंवेद्या	१.८.४७	सप्तच्छाया	१.११.११
स्वसंवेद्यात्	१.१०.८	सप्तावर्तन्	१.११.१०
स्वसंवेद्यात्मिका	१.९.३	स मन्त्रजाप:	१.१०.४३
स्वसंवेद्यमिदं	१.८.५१	समं तुल्य	१.८.४०
स्वसव्येतर	२.५.६९	समयसत्त्वो	१.१.१
स्वहृदि	१.३.५	समयविद्रोहनं	२.३.६५
स्वात: शुचि	१.१०.३१	समय संवर	१.६.२४
स्वार्थं चैव	२.१.१३	समयं भक्षयेत्	१.११.८
स्वादगन्ध	२.४.४२	समयि	२.६.७
स्वाभिषिक्तां	२.४.२६	समरसं	१.८.४०
स्वाहान्तं	२.९.१७,	समस्तवेद	१.८.५४
	२१, २२	समाक्रूरा	१.११.१
स्वेष्टदेवता	२.१.३	समानि तुल्य	१.८.३९
स एव	१.३.११	समापत्तो	२.४.८९

सर्वचिन्तां २.२.९
सर्वधर्म १.८.४४
सर्वं विज्ञान १.१०.१२
सर्वभाव १.१०.१२
सर्वभाव १.६.२३
सर्वमन्त्रनयं २.८.१०
सर्वव्यापी १.१०.१०
सर्वशेषां २.४.२५
सर्वा एतादृशा १.८.१८
सर्वाकार २.५.१
सर्वाकार्यं १.११.७
सर्वाण्येतानि १.८.३७
सर्वास्तिवाद २.४.५९
सर्वे ते १.९.४
सर्वे त तत्पदे १.८.४८
सर्वेरिक १.८.७
सर्वेषां खलु १.९.१
स सिद्ध्यति १.८.४२
स शून्यं २.९.२०
सहजा १.८.३०
सहजात्यां १.१०.४१
सहजानन्द २.२.४०
सहजानन्द २.४.२७
सहजं १.८.३०
सहजा १.१०.१९
सातत्या २.२.१५
सातत्यं तु १.८.४३
सादरं २.४.१२
साध्यस्य २.९.१
साध्यो ऽहं २.२.३९
साधयित्वा १.११.६
सापेक्षम् २.२.४२
सामर्थ्यं १.१.७
सिद्ध्यर्थं २.२.८
सिच्यते २.३.१२
सिद्धिं गन्तु १.६.७
सिद्धिर्न स्याद १.८.५४
सिद्धिलब्धो १.६.२२
सिंहल कर्पूर २.२.१८
सुकेशा २.८.५
सुखं कृष्णं २.२.३२
सुखं प्रज्ञा २.२.३३
सुखं भावः २.२.३३
सुखस्य २.४.३१
सुखावत्यां २.५.२
सुखं रागं २.२.५२
सुनह २.४.६७
सुविशुद्ध २.४.४७
सुरतानन्दं १.८.३१
सुस्वरं १.११.१०
सूत्रं च २.६.७
सूत्रेण १.१०.२४
सेकं २.३.१२
सेवषा तत्र १.१०.७
सेवितव्या १.५.३; १.९.७
सैव नैरात्म्या २.४.४७
सैव भगवती २.४.४१
सैव मण्डल २.४.४५
सैव सहज २.४.४५

सोपायेन	२.२.५०	श्रुण देवि	२.७.२
सौख्यमाकाश	१.१०.४०	श्रुणु देवि	२.९.१५
संक्षिप्त	१.११.१२	श्रृंगार वीर	२.५.२५
संग्रह वस्तु	२.९.११	हस्त्यश्व	२.५.२५
संघकुलेषु	२.२.६०	हसित	२.३.११
संज्ञायां	१.९.८	हसितं	२.३.५४
संप्रदाय	२.७.४	हले	२.४.७
संपुटं	२.६.२	ह्रीकारं	२.९.२५
संभोगं	२.४.५५	हीनमध्य	१.८.३७
संवरं चाभि	२.३.१	हीनं सूक्ष्म	१.८.३८
संवरं सर्व	२.३.२	हूँकार	२.३.७
संविदी	२.४.६०	हूँकार	२.५.१०
संवृत्याकार	२.८.१	हूँ–हूँकार	१.१०.३१
संवृत्तं	२.४.३०	हूँ वज्रीकृत्य	१.१०.२
संस्थितौ	१.५.११	हृदये	२.९.५
संसार	१.१०.३२	हेकारेण	१.१.४
संसार	२.३.२२	हेकारेण महाकरुणा	१.१.४
संसारं	२.४.३३	हे भगवन्	२.३.१९
संसरन्ति	२.४.७७	हेरुकप्रति	२.९.२
संसाराद्	२.४.३२	हेरुकयोग	१.६.४
संशयापनयं	१.१०.१६	हेवज्रं	१.१.४
संहार्या	१.३.१२	हेवज्रयोग	२.५.४३
श्रद्धावेगेन	२.२.३५	हेवज्रस्य	२.६.६
श्रवणयो:	२.६.४	हेवज्रे	१.७.१९
श्रविचित्र	१.१०.२१	होमं कृत्वा	२.१.२
श्रीकामद्वयं	१.७.२७	होम त्याग	१.६.२४
श्रुतिपूजा	२.५.६५	हौं चण्डाली	२.५.२२

२. योगरत्नमालायामुद्धृतानां पद्यानामनुक्रमणिका

अग्रत: पृष्ठतो	२.११.१	चण्डा प्रज्ञा	१.१.२८
अथ सामर्थ्य	१.१.२२	चित्त मात्रं	१.५.३
अनागतमतीनं	१.१.३	जिम जल	१.१.२५
अशुद्धचित्त	२.७.१	पंचस्कन्धा:	१.१.२४
अस्माच्चक्रं	१.८.१	भावान भावान्	१.१.१६
आदर्शज्ञान	१.३.१	मकारं	१.१.८
आदिकर्मिक	१.१.१५	या-कारो	१.१.९
आदिशान्ताद्य	१.५.२	यस्तु वज्र	१.१.२१
उत्पत्तिक्रम	१.१.१२	योगरत्नमालायां	२.१२.१
उत्तानोर्ध्व	२.११.४	वंकारस्तु	१.१.७
एकार:	१.१.६	वक्तुरन्त:	१.१.१९
एकारं	१.१.४	विग्रहे	१.१.१३
ऐश्वर्यस्य	१.१.३	विवृति	१.१.११
काल: पचति	१.९.९	शुक्राकार	१.१.५
गन्ध न रूप	१.१.१७	स्वविकल्प	१.१.२०
ज्ञानानि	१.१.२७	साक्षान्नैरात्म्य	१.१.२३
दृढं सारमसौ	१.१.१४	सेकं चतुर्विधं	१.१.१८
देशितो वो	१.८.२	श्रुतं सहज	१.१.१०
नायो जानु	२.११.२	हंसपक्ष	२.११.३
निदानवाक्य	१.१.२	हेकारेण	१.१.६
चण्डा धर्मोदया	१.१.२६	हेवज्रं	१.१.१

****

३. शब्दानुक्रमणिका

महत्त्वपूर्ण शब्दों की अनुक्रमणिका प्रस्तुत है। यहाँ संख्या का संकेत हेवजतन्त्र मूल तथा योगरन्तमाला के पृष्ठ क्रमांक की ओर है।

अंगुली	१४
अक्षोभ्य	१३
अद्वयं	८९
अद्वयज्ञान	१११
अध्यात्म	९१
अनामिका	१५.८७
अभिषेक	२४, ७४, १०९, ११०
अभिषेक	८२
अभिसंबोधि	१०३
अमोलसिद्धि	३७, ५२
अष्टदेवता	८०
अष्टयोगिनी	९
अष्टशिक्षापद	१२५
आनन्द	२६
आनन्दः	३
आनन्दत्रय	१००
आर्यदेवपाद	७
आली काली	७३
इद्रियाणि	४२
उपपीठ	१६
एकसंवर	१२७
एकाकारकृति	३८, १०७, ११०
एवं	७०
एवं मया	३
कक्कोल	४०, ११२, १४४
कपाल	१९, ७९, १२०
कर्तृकपालधारिणी	८१
कर्पूर	४६.११५
करुणा	८७
काण्डपा	१२८
कुम्भक	१०३
कुरुकुल्ला	२९
क्रूरकर्मसिद्धि	१२५
कृपा	८९
कोल्लगिरि	११३
खधातु	१७, ९०
खेचरी	२३
गन्धर्वनगर	१०५
गोविन्दपाल	१२८
गौरी	१८.२३, ७८
चतुरार्यसत्यानि	३, ७४-७५
चण्डालिनी	५१
चण्डाली	२३, १२, ७६
चर्यापटल	१२
चित्तवज्री	१२०
चौरी	१९, २३
छोमापीठपटल	१४, ८७
जपध्यान	८४
जालन्धर	१६
जालसंवर	२९

डमरु १३.८६
डाकिनीवज्रपंजर ७५
डोम्बिनी २३.५१
डोम्बी ११, २४, ११९
तत्त्वपटल ८१
तन्त्र ७०
तापाज्वलन विधि ६
तत्त्वकथा ११८
तत्त्वसंग्रह ५७, १२२
तथागतकुल ११
तीर्थिक ९९
त्रिकाय ११६
त्रिवज्री ९७
त्रिशूल १५.८७
द्वित्रिंशत् लक्षण १०८
द्वादशपीठ ८८
दिगम्बरा: ९९
देवतापटल ७.७९
देवताभिषेक ९
देवतास्फाटन विधि ६
द्रव्यान्वेषण विधि ७
दशभूमीश्वर ८८, ११८
धातव: ४१
धर्मकाय ७१
धर्मचक्र ७०, ८२
धर्मदेशना ७०
धर्मधातु ८,४०, ७४
नवनाट्यरस १२१
नागार्जुनपाद ८१, ८३
नाडी २, ७३
नाभिमण्डल ११६
नारी ३३
निकाय ३, ७८, ७५, ११७
निदानवाक्य ६९
नि:प्रपंचस्वभाव ८४
निर्वाणधातु ४९
निर्वाण ११५
नेयार्थव्याख्या ६९
नैरात्म्या ११५
नैरात्म्या ४७
नैरात्म्य मण्डल ९१
नैरात्म्य योगिनी ४१, ४२
पंचकुल १०, ८३
पंचतयागत ३, ७६, ७७
पद्मभाजन १२२
पंचबुद्ध ९, १९, ६३
पंचबुद्धकपाल १३
पंचमहाभूत १०९
पंचमुद्रा १०
पंचरत्नचूर्ण २५
पंचवर्ण ८५
पंचस्कन्ध २२, ७५
पंचानन्तर्य कर्म ३३, १०५
परमानन्द २०, २५, ३८, ९३
प्रज्ञा ८३
प्रज्ञाभिषेक १२३
प्रज्ञोपाय ८, ९०
प्रतिष्ठालक्षण १०४
प्रतीत्यसमुत्पाद ८२
परमानन्द २०, २५, ३८, ९३

राष्ट्रिय ... स्थान
15081

प्राणिवध ३३, ४०
पीठ १६
पुक्कसी २४, ५०, ६३, १२४
पुद्गलवादी ९९
प्रेतपक्ष ८९
पोल्लगिरि ८८
ब्रह्मा ११
बीजसंग्रह ८०
बुद्ध ११
बुद्धकपाल १२४
बोध्यंग ६३
बोधिबीज १३
बोधिचित्त २८, ३६, ७६, ९२, १०१, ११९
बोधिसत्त्व १, ९८
बोलकं ४३
बोलकक्कोल २७, १०१
भग ६०
भट्टारक ७१
भावना १२, ११४, १२६
भूचरी २३
भोजनपटल ६०
मण्डल २४, २६, ८५
मण्डलचक्र ३९, ११२, ११५, १०६–७
मद्य उद्गीरण विधि ६
मध्यमक १२५
मन्त्र ७६
मन्त्रपटल ४, ७८
मन्त्रोद्धार १२५
महाकरुणा २, ७०
महातन्त्रराज ६८, १२८
महामुद्रा ९४
महामुद्राभिषेक ३४
महामुद्रासिद्धि १०१, १०५
महावज्री ६७
महासमय ११३
महासंघी ४९, ११७
महासुख ६०
महासुखचक्र ७६
मुद्रा २५, ३३
मुण्डमाला ५४
मृगलांछन ८०
मेघास्फाटन विधि ५
योगतन्त्र ९६
योगरत्न १२८
योगाचार १२५
योगिनी ३२, ४५, ५४–५५
योगिनीचक्र १७, ९०, ११७
योगिनीतन्त्र १६, ७४, १२४
योषित् शुक्र ४०
रत्नसंभव ६७
रतिसंभोग १२०
रौद्रकर्म १०८
लंकावतार ७२
ललनादि ११५
लिंग ६०
वज्र ७१
वज्रकपाल ९, ७, १३

वज्रकन्या १३, ८५
वज्रकर्तरि विधि ५
वज्रकुली ४३
वज्रगर्भ १, २५, २८, ७१, १०३, १०४
वज्रदेह २
वज्रधर ८५
वज्रपद्म ६०, ८३, ८६
वज्रडाकिनी २३, २४, ६४
वज्रयोगिनी ७८, ७९
वज्रवाराही ९
वज्रशेखर ७१
वज्रसत्त्व १, १८, ११९
वज्रश्रृंखला ८
वज्रसूत्र ९०
वज्रसूची १२६
वज्रयोषिद् १
वज्राचार्य ६८
वज्रामृत ११२
वज्र योषिद् १
वज्रामृतम् ११२
वज्री २७
वशीकरण विधि ६
वर्षायन विधि ५
वारियोगिनी २३, २४
विधारण विधि ६
विनेयपटल ६१
विशुद्धिपटल २२, ९७
विष्णु ११
विस्तीर्ण हेवज्रतन्त्र १०३
वीतराग ११७
वेताली १९, २३
वेदान्तवादी ९५
वैभाष्य १२५
वैभाषिक १२५
वैरोचन ६५, ८४
श्मशान ९, १६, ६०
शमथ १०४
शवरी २४, ५१
शिव ११
शिक्षा ८६
शून्यता ८०
शुक्र २०, ९२, ९५
शुक्राकार २२
षड् भगानि ११
षट्कुलानि ८३
षडंग १९
षडंगयोग ९१
षडिन्द्रिय २२
षोडशशून्यता ९७
संभोग ४८, ११७
संभोगकाय १०७
संभोगचक्र ७०, १२३
संवर १०९
संवरभेद ३, ७३
संस्कार ११२
स्तन ८८
स्थावर ४९
स्थावरी ११७
स्वसंवेद्य २१, ९२, ९५, ९८

सन्ध्याभास ३७, १०९
समय ८८
समरस २५, ९४, १११
समाधि १००
सर्वास्तिवाद ४९, ११७
सहज २५
सहजार्थपटल १२७
सिद्धिकांक्षिपट १०४
सिद्धिनिर्णय ३२
सिद्धान्तवादी ९९
सूत्रान्त १२५
सूर्यमण्डल ८
श्रावकपिटक ९६
हेकार २, १७
हेरुक २, ८, ७२, ८९
हेरुकरूप ४४
हेरुकयोग १२
हेरुकरूप ८१
हेरुकपद १७, ५९
हेवज्र २२, २६, ५३, ६९, ७१, ७४, ७६
हेवज्रकुलपटल ६९
हेवज्रतन्त्र ११०
हेवज्र १०४
हेवज्राभ्युदय ५३
हेवज्रडाकिनी १
होम ८६
होमनिर्णय ३०

४. चित्रफलक और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

१. आदिबुद्ध वज्रधर, २. वज्रधर, ३. हेवज्र, ४. समन्तभद्र, ५. मैत्रेय, ६. रत्नसंभव, ७. अवलोकितेश्वर, ८. आर्य, ९. बुद्ध-गरुड, १०. महाचक्र वज्रपाणि, ११. अमोघसिद्धि, १२. हयग्रीव, १३. चक्रसंवर, १४. बुद्ध-कपाल, १५. गुह्य अक्षोभ्यवज्र बुद्ध, १६. कालचक्र, १७. क्रोध-हुंकार, १८. ब्रह्मदण्ड, १९. अपराजित, २०. आयुष्पति महाकाल, २१. संवर, २२. वज्र चतुःपीठ, २३. यमान्तक, २४. वज्रचर्चिक, २५. ब्रह्मदत्त बुद्ध, २६. रत्नसंभव, २७. प्रज्ञापारमिता, २८. कुरुकुल्ला, २९. आलीढासन, ३०. गुह्यसमाज, ३१. महाचीन तारा, ३२. महामाया, ३३. अक्षयमति, ३४. पाण्डरा, ३५. मामकी, ३६. आर्यतारा, ३७. परमाश्व, ३८. चण्डरोषण, ३९. जांगुलि, ४०. बुद्धडाकिनी, ४१. ग्रीनतारा.

प्रस्तुत चित्रफलकों को समझने के लिए हेवज्रतन्त्र के दार्शनिक पक्ष को समझ लेना आवश्यक है ताकि हम इन्हें अश्लील न समझ बैठें। यह हेवज्रतन्त्र तान्त्रिक परम्परा कौलाचार से सम्बद्ध है जिसमें चक्र या योनि की प्रत्यक्ष पूजा की जाती है और मांस, पत्स्य, मुद्रा, मद्य और मैथुन के उपयोग को महत्त्व दिया जाता है। इसे वाममार्गी कहा जाता है। समयाचार में चक्र या योनि की मात्र भावना की जाती है ओर उसकी प्रतिनिधि भूत वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। यह दक्षिणमार्गी आचार है। हेवज्रतन्त्र में समय शब्द का प्रयोग हुआ है अवश्य (१.७.९) पर उतना सुप्रतिष्ठित नहीं दिखाई देता है। यह तन्त्र वस्तुतः शैवतन्त्र की अनुकृति मात्र है जिसकी साधना का नशा ८ से ११ वीं सदी के मध्य नेपाल-तिब्बत के साथ ही सारे उत्तर-दक्षिण भारत में फैला था। देवी तारा और मणिपद्मा भी आद्या शक्ति का ही दूसरा नाम है। खजुराहो, त्रिपुरी, ओंकारेश्वर, महेश्वर, उज्जयिनी आदि स्थानों पर उपलब्ध प्रस्तर मूर्ति कला में मिथुन चित्र शक्ति साधना के ही प्रतीक हैं। उस समय की यह शैल्पिक मान्यता बन चुकी थी, भले ही वह एक आलोचना का विषय रहा है।

ऐसी प्रस्तर रूपाकृतियों की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक सम्प्रदाय की यह मान्यता रही है कि साधना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक लौकिक विषय भोगों की एषणा अवशिष्ट है। दमित वासना कभी अपना शिर न उठाये इसलिए उत्कृष्ट साधना में प्रवेश करने के पूर्व मन और शरीर का सभी प्रकार से तृप्त और शान्त होना आवश्यक है। मानव

की ये सहज प्रवृत्तियां हैं - 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला' जिन्हें अध्यात्मिक क्षेत्र में आने के पूर्व सन्तुष्ट करना आवश्यक माना गया है।

भारतीय साहित्य में शक्ति तन्त्रों की सर्वाधिक संख्या है। तंत्र ग्रन्थों में सृष्टि, प्रलय, सिद्धि-प्राप्ति के उपाय, मोहन-मरणादि षट्कर्म, ध्यान-योग आदि का विवेचन रहता है। देवतार्चन में देवता के रूप, गुण, कर्म, तद्विषयक मन्त्रों का उच्चारण, उपासना की पटल पद्धति, कवच ओर सहस्रनाम स्तोत्र का निरूपण होता है। यहां तन्त्र का लक्ष्य है जीवात्मा के साथ परमात्मा की अभेद स्थिति। इसी बीच वहां महासुखवाद की स्थापना हुई शारीरिक सुख और वासना पूर्ति के माध्यम से।

हेवज्रतन्त्र इसी दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है जो बौद्धतन्त्र की प्रमुख धारा रही है। कामदेवता की यहां भी आराधना हुई है। शिव-पार्वती की रतिक्रियाओं के वर्णन की यह अनुकृति मात्र दिखाई देती है। यहां वस्तुतः अश्लीलता का चित्रण नहीं है, बल्कि स्वाभाविकता का प्रदर्शन है। अश्लील तो हमारी विकृत, अपरिष्कृत और असंस्कृत दृष्टि है। हां, यह अवश्य है कि जब पंच मकारों या कौलाचार के सेवन की प्रवृत्ति आदत के रूप में बन जाती है तो उसे छोडना सरल नहीं होता। अस्तु, हेवज्रतन्त्र को इसी परिदृश्य में देखा जाना चाहिए।

** ** **

१. आदिबुद्ध वज्रधर

२. वज्रधर

३. हेवज्र

४. समन्तभद्र

५. मैत्रेय

६. रत्नसंभव

७. अवलोकितेश्वर

८. आर्य

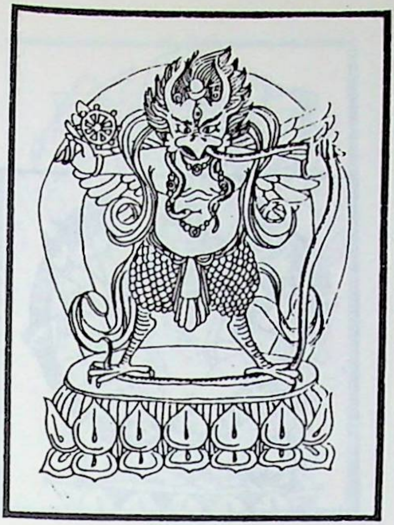

९. बुद्ध-गरुड

१०. महाचक्र वज्रपाणि

११. अमोघसिद्धि

१२. हयग्रीव

१३. चक्रसंवर

१४. बुद्ध-कपाल

१५. गुह्य अक्षोभ्यवज्र बुद्ध

१६. कालचक्र

१७. क्रोध-हुंकार

१८. ब्रह्मदण्ड

१९. अपराजित

२०. आयुष्पति महाकाल

२१. संवर

२२. वज्र चतुःपीठ

२३. यमान्तक

२४. वज्रचर्चिक

२५. ब्रह्मदत्त बुद्ध

२६. रत्नसंभव

२७. प्रज्ञापारमिता

२८. कुरुकुल्ला

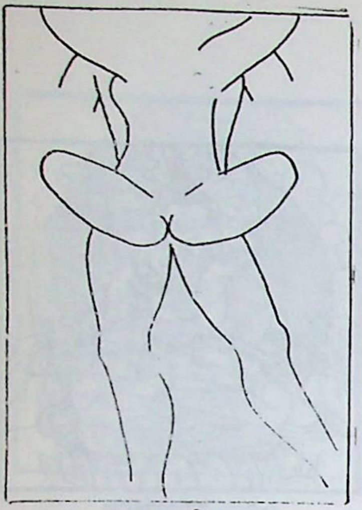

२९. आलीढासन

३०. गुह्यसमाज

३१. महाचीन तारा

३२. महामाया

३३. अक्षयमति

३४. पाण्डरा

३५. मामकी

३६. आर्यतारा

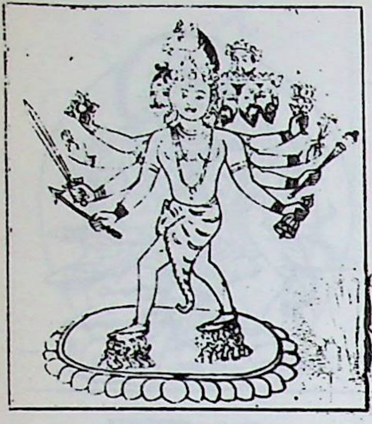

३७. परमाश्व

३८. चण्डरोषण

३९. जांगुलि

४०. बुद्धडाकिनी

४१. ग्रीनतारा

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जयपुर परिसर, जयपुर
पुस्तकालय
क्रमांक ....1508....

Prof. (DR.) BHAGCHANDRA JAIN 'BHASKAR'

ABOUT THE AUTHOR

BIRTH & PLACE : 1.1.1939, Bamhori (Chhatarpur) M.P. India

ACADEMIC QUALIFICATIONS : M.A. (Sanskrit, Pali, A.I.H. & G... ...harya, (Prakrit and Jainism), Ph. D. (Shrilanka) D. Litt. (Pali and Prakri... ...itt. (Sanskrit); Sahityaratna etc.,

POSITION : Head of the Department of Pali and prakrit, Nagpur ...ersity; Former Professor and Director of Jain Studies. University of ...sthan, Jaipur; Former Reader in Buddhist Studies, Delhi University; Hony. Director, Sanmati Research Institute of Indology, Nagpur; Director, Dr. Bhagchandra Puspalata Jain Charitable Trust; Chairman and Member of so many Universities, Committees of India & abroad.

AWARDS : U.G.C. Research Fellowship, Commenwelth Fellowship, National U.G.C. Fellowship Literary Award by the Govt. of India. Shastri Parishad, Mahavir Award, Rampuria Award, Kaledevi Award, Hastimal Award, Kundakunda Award, Jejani Trust Award, Siddhanta Samrakshana Award etc.

ABROAD VISIT : Visited and delivered Lectures for so many times in U.S.A., U.K. and other Europen countries, attended and chaired there Seminars and Conferences.

EDITORS : Anandadipa, Sudharma, Jain Milan, Nagpur University Journal.

RESEARCH PUBLICATIONS : Jainism in Buddhist Literature, History of Buddhist Culture, Patimokkha, Chatuhshatakam of Aryadeva Palikosasangaho, Jain Darshan aur Sanskrit ka Itihasa, Bhartiya Sanskri... Bauddhadharmache Yogadana, Candappahacariu of Yashahkiri... Dhammaparikkha of Harishena, Vayakaha, Samvohapancasia, Bauddha Manovijnana, Abhidhammattha Sangaho (Buddhist Pscycology), A Survey of Prakrit Literature, Jain aur Bauddha Darshanon ka Tulanatmaka Addhyan... Prakrit Dhammapada, Jainism and Buddhism, He Vajratan... Yashodharacaritam of Sakalakirti, Muka Mati; Eka Darsanika Mahakriti, Ja... Logice, Jaina Bible, Dohakosa, Jainism and Mahavira, Jaina Parampara ... Itihasa, Shravakachara aura Paryavarana, Samyuttanikaya Atthakatha ... Buddhaghosa, Samayasara ka Darshanika Chintana aura Puratattva ... about 300 research papers published so far.